दो वर्ष पूर्व राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान की ओर से जैन जगत के उद्भट दार्शनिक विद्वान श्री दलसुख भाई मालवणिया से अनुरोध किया गया था कि आपके द्वारा लिखित, अनुदित या सम्पादित कोई ग्रन्थ प्राकृत भारती को प्रकाशनार्थ प्रदान करें तो संस्थान को अतीव हार्दिक प्रसन्नता होगी। तत्क्षण ही श्री मालवणिया जी ने अनुरोध को सहजभाव से सहर्ष स्वीकार करते हुये कहा कि गणधरवाद का हिन्दी अनुवाद जो मैंने कुछ वर्षों पूर्व प्रो० पृथ्वीराज जैन से करवाया था उसे भेंट स्वरूप ले जाइये और श्री महोपाध्याय विनयसागरजी से संशोधन करवा कर प्रकाशित कर दीजिये।

श्री मालवणिया जी ने नैसर्गिक भाव से गणधरवाद का हिन्दी अनुवाद प्रकाशनार्थ प्रदान किया अतएव हम उनके हृदय से आभारी हैं।

प्रो० पृथ्वीराज जैन एम ए (जिनका गत वर्ष ही स्वर्गवास हो गया है) ने इस अतिगहन दार्शनिक ग्रन्थ का जिस सूझ-बूझ और परिष्कृत शैली में हिन्दी का अनुवाद कर साहित्य जगत् को कृति प्रदान की है उसके लिये भी संस्थान की ओर से उनके हम कृतज्ञ हैं।

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान के संयुक्त सचिव एवं प्रमुख विद्वान् महोपाध्याय श्री विनयसागर जी ने प्रस्तुत अनुवाद का संशोधन एवं इसका सम्पादन जिस निष्ठा से किया और सह सम्पादक के रूप में श्री ओंकारलाल जी मेनारिया ने इस संशोधन आदि में जो सहयोग प्रदान किया उसके लिये भी ये दोनों साधुवाद के पात्र हैं।

श्री जिनेन्द्र मुद्रा अजन्ता प्रिन्टर्स जयपुर भी इस पुस्तक के मुद्रण के लिये धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में पाठकों से अनुरोध है कि टंकित एवं अथवा प्रेस की असावधानी से जो भी अशुद्धियाँ या त्रुटियाँ रह गई हैं उसे क्षन्तव्य समझें।

उमरावमल ढढ्ढा
अध्यक्ष
रोशनलाल मोदी
मन्त्री
राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

राजरूप टांक
अध्यक्ष
देवेन्द्रराज मेहता
सचिव
राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

# प्रथमावृत्ति में लेखक का निवेदन

विशेषावश्यक भाष्य महाग्रन्थ जब से पढ़ने में आया तब से उसके अनुवाद और विवेचन की जो भावना मन में संग्रहीत कर रखी थी उसकी आंशिक पूर्ति इस गणधरवाद से होती है। इससे एक प्रकार का आनन्द होता है किन्तु कार्य त्वरित गति से करना या अनावश्यक टिप्पणियों में विस्तार की आवश्यकता होने पर भी नहीं कर सका यह कमी मन को कचोटती भी है। अनुवाद की संवादात्मक शैली मुझे भाई फतेचन्द बेलाणी का खरड़ा बांधन से रुचिकर प्रतीत हुई। संवादात्मक शैली में प्रो० चिरवास्की कृत कितने ही दार्शनिक ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवाद भी देखने में आये थे और इस शैली में दार्शनिक ग्रन्थों के अनुवाद पठनीय बनते हैं ऐसा अनुभव भी किया था इसलिये इसमें मैंने इसी शैली का आश्रय लिया है। इस ग्रन्थ का कार्य पूज्य पण्डित श्री सुखलालजी की प्रेरणा से मैंने स्वीकार किया था और प्रकाशन से पूर्व उन्होंने एक-एक अक्षर पढ़कर करने योग्य संशोधन भी किये हैं तथा जहां पुनर्लेखन आवश्यक था वहां उनकी सूचना के अनुसार मैंने वैसा भी किया है। ऐसा करके मैं मोटे रूप में उनको आंशिक सन्तोष दे सका हूं। पूज्य पण्डितजी ने इस कार्य में जो स्वाभाविक रस लिया है उसके लिये धन्यवाद के दो शब्द पर्याप्त नहीं हैं। वस्तुतः यह कार्य उन्हीं का हो और मैं उनके कार्य में हाथ बटा रहा हूं ऐसा अनुभव मैंने निरन्तर किया है। इसलिये इस कृति को मैं मेरी न मान कर उनकी ही कृति मान लेता हूं तब उनको धन्यवाद देने का अधिकारी मैं कैसे हो सकता हूं? सहृदयतेही भाई रतिलाल दीपचन्द देसाई ने इस कृति के प्रथमादर्श को आद्यन्त पढ़कर पण्डितजी को सुनाया ही नहीं अपितु सुधारने योग्य सूचनायें भी प्रदान कीं एतदर्थ यहां उनको धन्यवाद देना आवश्यक है।

यह कार्य मेरे सिर पर आ पड़ने में निमित्त रूप थी फतेचन्द बेलाणी भी हैं, इसलिए उनका भी यहां आभार मानता हूं। उन्हीं के अनुवाद का कच्चा खरड़ा मेरे सामने था अतएव इस अनुवाद को संवादात्मक शैली में करने की तात्कालिक सूझ के लिये भी मैं उनका आभारी हूं। इस ग्रन्थ के समस्त मुद्रण सम्बन्धी कार्य आत्मवर श्री क० का० शास्त्री ने सम्पन्न किया है और ग्रन्थ की बाह्य सज्जा में जो कुछ भी सौष्ठव है वह उन्हीं की कल्पना है अतएव उनका विशेष आभार मानना भी मेरा कर्तव्य है। अनुवाद का मुद्रण होने के पश्चात् प्रस्तावना आदि अन्य सामग्री में पांच छह मास के विलम्ब को निभाने वाले और ग्रन्थ को सुन्दर बनाने की प्रेरणा देने वाले आत्मवर रसिकलाल भाई परीख एम० ए० एल० एल० बी० विद्यावाचस्पति का विशेष रूप से ऋणी हूं। पूज्यपाद मुनिराज श्री पुण्यविजयजी ने ग्रन्थ के लिये करवाई

हुई विशेषावश्यक भाष्य की प्रतिलिपि मुझे पाठान्तर लेने हेतु प्रदान की और प्रस्तावना पढ़कर उन्होंने त्रुटिपत्र की सूचना दी, एतदर्थ मैं उनका भी ऋणी हूँ। अन्त में सेठ श्री भोलाभाई दलाल और श्री प्रेमचन्द भाई कोटा वालों की रुचि ही इस ग्रन्थ का प्रस्तुत रूप में निर्माण करने में निमित्त बनी है अतः उनका भी आभार मानता हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ पाठकों और विद्वानों के समक्ष उपस्थित है। अब इसमें जो कोई दोष या त्रुटि हो उसका शोधन करने का काम उनका है। इस ग्रन्थों की द्वितीयावृत्ति भाग्य से ही प्रकाशित होती है तब भी सुयोग मिला तो उचित संशोधन करने का लाभ अवश्य लूंगा।

बनारस
30 8 52

—दलसुख मालवणिया

# गणधरवाद की हिन्दी आवृत्ति के अवसर पर

प्रस्तुत गणधरवाद गुजराती म कई वर्षों से उपलब्ध नही है। इसके दूसरे सस्करण के लिये प्रकाशन सस्थाओ मे निवेदन एव प्रयत्न करने पर भी इसकी द्वितीयावत्ति प्रकाशित नही हो सकी। ऐसी स्थिति में यह हिन्दी सस्करण प्रकाशित हो रहा है, अत मैं सतोष एव आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ।

प्रा० पृथ्वीराज जन एम ए ने मनोयोग पूवक कई वर्षों पूव इसका गुजराती से हिन्दी मे अनुवाद किया था। वे आज अपन इस अनुवाद को प्रकाशित रूप में देखकर आनन्दित होत, किन्तु खेद है कि उनका गत वष ही स्वगवास हो गया। मैं उनका ऋणी हूँ।

राजस्थान प्राकृत भारती सस्थान, जयपुर के सचिव श्री देवेन्द्रराज जी मेहता को धन्यवाद देना मेरा परम कत्तव्य हो जाता है जिनके उत्साह के बिना यह अनुवाद शायद प्रकाशित ही नही होता।

इस हिन्दी सस्करण के सशोधन का समग्र काय पण्डित श्री महोपाध्याय विनयसागरजी ने बड मनोयोग एव प्रम स किया है अतएव उनका भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

राजस्थान प्राकृत भारती सस्थान, जयपुर ने इसे प्रकाशित करके हिन्दी भाषी पाठको के लिये यह ग्रन्थ सुलभ कर दिया, एतदथ मैं इस सस्थान का भी ऋणी रहूँगा।

प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन के समय मैं कुछ भी विशेष नही कर सका इसका मुझे खेद है, क्योंकि मेरा स्वास्थ्य अब ऐसा नही रहा कि मैं इसमे अब विशेष परिश्रम कर सकूँ।

वाचको का ध्यान एक भ्रान्ति की ओर आकर्षित करना मेरा कत्तव्य है। जब गणधरवाद पुस्तक गुजराती मे प्रकाशित हुई थी तब श्री अगरचन्दजी नाहटा ने मेरा ध्यान इस ओर खेंचा था किन्तु प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद की छपाई के पूव मैं इस बात को भूल गया था, अतएव निम्न भ्रान्ति रह गई। प्रस्तावना पृष्ठ ६० म मुद्रित है कि भवभावना विवरण स० ११७७ मे पूण हुआ किन्तु वस्तुत वह स० ११७० मे होना चाहिए। अतएव स ११७७ मानकर भवभावना विवरण और विशेषावश्यक-वत्ति के पूवापरभाव की जो चर्चा मैंने की है वह निरथक है। उसे वहाँ से हटा देना चाहिए।

अहमदाबाद
दि० २९ मार्च १९८२

—दलसुख मालवणिया

# भाषान्तरो में विशिष्ट विधा का ग्रन्थ

भाई श्री दलसुख मालवणिया ने गणधरवाद विषयक जो ग्रन्थ तयार किया है उसकी प्रस्तावना देखने के पश्चात् उसमें ऐतिहासिक विभाग सम्बन्धी जो स्थल संशोधन करने योग्य लगे उसकी ओर मने लेखक का ध्यान आकृष्ट किया था यह एक सामान्य बात थी। प्रस्तावना को आद्योपान्त पढने के पश्चात् मने यह अनुभव किया कि भाई श्री मालवणिया न गणधरवाद जसे अतिगहन विषय को कुशलतापूर्वक अत्यधिक सरल बना दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने गणधरवाद में चर्चित पदार्थों के उदगम और विकास क विषय म वदिक काल से लेकर जो सप्रमाण दार्शनिक और शास्त्रीय इतिहास प्रस्तुत किया है उससे तात्त्विक पदार्थों का क्रमिक विकास किस प्रकार होता गया और एक दूसरे दर्शनो पर उसका किस किस रूप में प्रभाव पडा यह स्पष्ट रूप से समक्ष मे आ जाता है। इसक साथ ही यह भी लक्ष्य म आ जाता है कि सम्यग ज्ञान दर्शन की भूमिका में स्थित महानुभावों को तात्त्विक पदार्थों का अध्ययन अवलोकन एव चिन्तन किस विशाल और तटस्थ दृष्टि स करना चाहिये जिसस उनकी सम्यग् ज्ञान दर्शन की अवस्था दूषित न हो।

प्राचीन और गहन जैन ग्रन्थो क देश्य भाषाओ म जो विशिष्ट भाषान्तर ऐतिहासिक निरूपण आवश्यक विवेचन के साथ प्रकाशित हुए हैं उनमे गणधरवाद का प्रस्तुत भाषान्तर ग्रन्थ एक विशिष्ट मानक-विधा प्रस्तुत करता है, यह एक सत्य है।

—मुनि पुण्यविजय

अहमदाबाद
भाद्रपद कृष्णा अमावस्या
वि० स० 2008

# शुभ समाप्ति

कोई भी योग्य कार्य सुयोग्य हाथों से योग्य रीति से सम्पन्न होता है तो वह शुभ समाप्ति मानी जाती है। प्रस्तुत भाषान्तर ऐसी ही एक शुभ समाप्ति है। श्वेताम्बर परम्परा के संस्कार धारण करने वाले श्रद्धालुओं में भाग्य से ही कोई ऐसे होंगे जिन्होंने कम से कम पर्युषण के दिनों में कल्पसूत्र न सुना हो। कल्पसूत्र के मूल में तो नहीं किन्तु उसकी टीकाओं में टीकाकारों ने भगवान् महावीर और गणधरों के मिलन प्रसंग में गणधरवाद की चर्चा सम्मिलित की है। मूलतः इसकी चर्चा विशेषावश्यक भाष्य में आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विस्तार से की है। विशेषावश्यक भाष्य जैन परम्परा के आचार विचार से सम्बन्धित छोटे मोटे लगभग समस्त मुख्य विषयों को स्पर्श करते हुए उन समस्त मुख्य विषयों की आगमिक दृष्टि से तर्क पुरस्सर चर्चा करने वाला और तत्-तत्स्थानों में सम्भावित दर्शनान्तरों के मन्तव्यों की समालोचना करने वाला एक आकर ग्रन्थ है। इसीलिए आचार्य ने गणधरवाद का प्रकरण अनुकरणपूर्वक इसमें सम्मिलित किया है। इसमें जैन-परम्परा सम्मत जीव अजीव आदि नवतत्त्वों की प्ररूपणा भगवान् महावीर के मुख से आचार्य ने इस पद्धति से कराई है कि मानो प्रत्येक तत्त्व का निरूपण भगवान उन उन गणधरों की शंका के निवारण के लिए ही करते हों। प्रत्येक तत्त्व की स्थापना करते समय उस तत्त्व के किसी भी अंश में विरोध हो ऐसे अन्य तार्किकों के मन्तव्यों का उल्लेख कर भगवान तर्क और प्रमाण द्वारा स्वयं का तात्त्विक मन्तव्य प्रस्तुत करते हैं। इसप्रकार जैन तत्त्वज्ञान को केन्द्र में रखकर प्रस्तुत गणधरवाद विक्रम की सातवीं शताब्दी तक के चार्वाक बौद्ध और समस्त वैदिक आदि समग्र भारतीय दर्शन परम्परा की समालोचना करने वाला एक गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थ बन गया है। ऐसे ग्रन्थ का पं० श्री दलसुख मालवणिया ने जिस अभ्यासनिष्ठा और कुशलता से भाषान्तर किया है वैसे ही उसके साथ में अनेक विध ज्ञान-सामग्री संकलित कर प्रस्तावना परिशिष्ट आदि लिखे हैं उसका विचार करते हुए कहना पड़ता है कि योग्य ग्रन्थ का योग्य भाषान्तर योग्य हाथों से ही सम्पन्न हुआ है।

श्री पूनमचन्द करमचन्द कोटा वाला ट्रस्ट के दोनों ट्रस्टियों (श्री प्रेमचन्द के कोटा वाला और श्री भोगाभाई जसिंगभाई) की लम्बे समय से प्रबल इच्छा थी कि गणधरवाद का गुजराती में उत्तम भाषान्तर हो। इसके लिए दो तीन प्रयत्न भी हुये किन्तु वे कार्यसाधक नहीं हुये। अन्त में जुलाई 1950 में यह कार्य भा० ज० विद्याभवन की ओर से श्रीयुत मालवणिया को प्रदान किया गया। अत्यधिक वाचन अभ्यास पर्याप्त समय और श्रम की अपेक्षा रखने वाला यह कार्य दो वर्ष जितने समय में पूर्ण हुआ और वह भी जैसा सोचा था उससे अधिक और सुन्दर रीति से पूर्ण हुआ।

गुजराती भाषा में जो कुछ श्रेष्ठतम दार्शनिक साहित्य प्रकाशित हुआ है उसमें प्रस्तुत भाषान्तर की गणना अवश्य होगी ऐसा इसके विचारशील अधिकारी पाठकों को अवश्य ही

प्रतीत होगा। जैन दार्शनिक साहित्य के विकास में तो यह भाषान्तर अनुपम अवदान प्रदान करने योग्य है।

इससे पूर्व श्रीयुत् मालवणिया ने तात्त्वार्थाधिगम सूत्र का हिन्दी भाषा में प्रस्तावना और टिप्पण के साथ सम्पादन कर हिन्दी भाषा के विद्वत् दार्शनिक जगत् में एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त किया हुआ है, अब इस गुजराती भाषान्तर के द्वारा गुजराती भाषा के जानकार दार्शनिक मण्डल में भी ये विशिष्ट स्थान प्राप्त करेंगे ऐसी घोषणा करता हुआ मुझे किंचित् भी संकोच नहीं हो रहा है।

मैं श्रीयुत मालवणिया के उत्तरोत्तर विस्तृत और विकसित दार्शनिक अध्ययन चिन्तन और लेखन का पिछले 20 वर्षों से साक्षी रहा हूँ। प्रस्तुत भाषान्तर के साथ जो अन्य ज्ञातव्य सामग्री संयोजित की गई है उसके वैशिष्ट्य को देखने और समझने से कोई भी व्यक्ति मेरी उक्त यथार्थ भाषणता की पुष्टि करेगा ही।

प्रस्तुत पुस्तक में ध्यानाकर्षण योग्य विशेषताओं का यहाँ निर्देश करना अनुपयुक्त न होगा।

(1) मूल टीका और उनके प्रणेताओं से सम्बन्धित परम्परागत एवं ऐतिहासिक परिचयात्मक तथ्यों का दोहन कर उसे प्रस्तावना में प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत किया गया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करने वालों का ध्यान सर्वप्रथम आकर्षित करता है।

(2) जैन दर्शन सम्मत नव तत्त्वों के विचार का विकास प्राचीन काल से चलने वाली अन्य अनेकविध दर्शन परम्पराओं के मध्य में किस प्रकार से हुआ है उसकी कालक्रम से तुलना करते हुए ऐसी पद्धति से प्रतिपादन किया है जिसमें वेद उपनिषद् बौद्ध पालि और संस्कृत के ग्रन्थों तथा वैदिक-सम्मत लगभग समस्त दर्शनों के प्रमाणभूत ग्रन्थों का निरूपण आ जाता है। यह बात (वस्तु) तुलनात्मक दृष्टि से दार्शनिक अभ्यास करने वालों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करती है।

(3) नव तत्त्वों को, अर्थात् कर्म और परलोक इन तीन तत्त्वों (मुद्दों) में संक्षेप कर उनकी अन्य दर्शन सम्मत विचारधारा के साथ विस्तार से ऐसी तुलना की गई है कि जिससे उन उन तत्त्वों से सम्बन्धित समस्त भारतीय दर्शनों के विचार वाचक एक ही स्थान पर हृदयंगम कर सके।

प्रस्तावनागत उपरोक्त सूचित विशेषताओं के अतिरिक्त अन्य जो भी विशेषताएँ हैं उनमें से कुछ एक निम्न प्रकार हैं—

(1) टिप्पणियाँ—भाषान्तर पूर्ण होने के बाद उसके अनुसन्धान में अनेक दृष्टियों से पृष्ठ 180 से 210 पर्यन्त टिप्पणियाँ दी गई हैं। मूल गाथाओं में प्रयुक्त और अनुवाद में आगत एवं अनेक दार्शनिक शब्दों का स्पष्टीकरण उनमें किया गया है। इसी प्रकार आचार्य जिनभद्र

ने कोई विचार प्रकट किये हों अथवा कोई युक्तियाँ दी हों अथवा किसी शास्त्र का पद या वाक्य सूचित किया हो तो उन स्थलों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि निर्देश करने के पश्चात् दार्शनिक विचारों की तुलना की गई है। आचार्य जिनभद्र द्वारा इन विचारों युक्तियों और आधारों को जहाँ जहाँ से ग्रहण किये जाने की सम्भावना है उनमें से प्राप्त समस्त मूल-स्थलों को यहाँ दिखलाया गया है। केवल इतना ही नहीं अपितु उनसे सम्बन्धित भिन्न भिन्न दर्शनशास्त्रों के अनेक विशेष ग्रन्थों में जो कुछ प्राप्त हुआ उन सब का ग्रन्थ-नाम और स्थल के साथ उल्लेख किया है। वस्तुतः ये टिप्पणियाँ ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने की इच्छा रखने वालों के लिये एक अभ्यास-ग्रन्थ जैसी हैं।

(2) मूल—विशेषावश्यक भाष्य की प्राचीन से प्राचीन लगभग दसवीं शती की लिखित प्रति जो जैसलमेर भण्डार में प्राप्त हुई है उसके साथ मिलान करने के लिये वहाँ स्वयं जाकर लिये हुए पाठान्तरों के साथ में गणधरवाद की मूल गाथाएं परिशिष्ट में दी गई हैं व रचनाकालीन असली पाठशुद्धि के निकट पहुँचने के इच्छुक जिज्ञासु की दृष्टि से एवं कालक्रम से लेखन और उच्चारण-भेद को लेकर किस किस रीति से मूल पाठ में परिवर्तन होता है वह पाठालोचन की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है।

(3) टीकाकार ने जो अवतरण (उद्धरण) उद्धृत किये हैं और जो अवतरण चर्चा की भूमिका को पूर्ण करते हैं उन अवतरणों के मूल स्थानों का उल्लेख करने वाला परिशिष्ट संशोधक विद्वानों की दृष्टि में बहुत ही उपयोगी है।

(4) पृष्ठांक 255–264 में दी हुई शब्दसूची भाषान्तर में प्रयुक्त पदों और नामों के अतिरिक्त ग्रन्थगत विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से विशेष उपयोगी है।

समग्र भाषान्तर ऐसी सरलता और प्रवाहबद्ध मधुर भाषा में हुआ है कि पढ़ने के साथ ही जिज्ञासु अधिकारी को इसका अर्थ रहस्य समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। भाषान्तर की यह भी विशेषता है कि इसमें मूल और टीका दोनों का सम्पूर्ण आशय पुनरुक्ति के बिना आ जाता है और यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ हो ऐसा अनुभव होता है। संवादात्मक शैली के कारण जटिलता नहीं रहती और भगवान् एवं गणधरों के प्रश्नोत्तर पूर्णरूपेण पृथक पृथक ध्यान में आ जाते हैं। अनुवाद में जो पारिभाषिक शब्द आये हैं जो दार्शनिक विचार संकलित हुए हैं और जो दोनों पक्षों के तर्क दिये गये हैं उन सब का अत्यधिक स्पष्टीकरण हो जाने से भाषान्तर जटिल न बन कर सुगम बन गया है तथा विशेष जिज्ञासु के लिये अन्त में टिप्पणियाँ होने से उसकी विशिष्ट जिज्ञासा भी सन्तुष्ट हो जाती है।

वैदिक बौद्ध या जैन आदि भारतीय दर्शनों में आत्मा, कर्म पुनर्जन्म परलोक जैसे विषयों की चर्चा साधारण है। उसमें कोई भी भारतीय दर्शन की शाखा का उच्चस्तरीय अध्ययन करने वाले एम० ए० की कक्षा के विद्यार्थियों अथवा उस विषय में शोधपूर्ण प्रबन्ध लिखकर डाक्टरेट उपाधि के अभिलाषियों अथवा अध्यापकों के लिये यह पूरी पुस्तक बहुत ही उपयोगी और बहुमूल्य सामग्री प्रदान करने वाली है।

[illegible]

# सन्दर्भ-ग्रन्थ-सकेत सूची

अगुत्तर निकाय (पाली टक्स्ट)
अथर्ववेद
अनुयोगद्वार सूत्र
अनुयोगद्वार चूर्णि
अनुयोगद्वार हरिभद्रसूरि कृत टीका
हेमचन्द्रसूरि कृत टीका
अभिज्ञान शाकुन्तल
अभिधम्मत्थसंगहो (कौशाम्बी)
अभिधर्मकोष (काशी विद्यापीठ)
अष्टस०—अष्टसहस्री (विद्यानन्द)
आचा० नि०—आचारांग निर्युक्ति
आचारांग टीका
आत्मतत्त्वविवेक (उदयनाचार्य)
आप्तपरीक्षा (विद्यानन्द)
आप्तमीमांसा (समन्तभद्र)
आव० नि०—आवश्यक निर्युक्ति
आव० नि० दी०—आवश्यक निर्युक्ति दीपिका
आव० नि० हरि० टी०—आवश्यक निर्युक्ति हरिभद्र कृत टीका
आवश्यक निर्युक्ति मलयगिरि टीका
ईशावास्योपनिषद्
उत्तरा०—उत्तराध्ययन सूत्र
उत्त० नि०—उत्तराध्ययन निर्युक्ति
उत्थान' महावीरांक (स्था० जैन कान्फ्रेन्स बम्बई)
उत्थान (सारनाथ महाबोधि सोसायटी)
उपासकदशांग सूत्र
ऋग्वेद
ऐतरेय आरण्यक
कठो०—कठोपनिषद्
कथावत्थु (पाली टक्स्ट)
कर्मग्रन्थ (भाग १–६ आगरा)
कर्मप्रकृति
कर्मप्रकृति चूर्णि
कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी (विजयराजेन्द्रसूरि)
कषायपाहुड–जयधवला टीका (काशी)
कौषी०—कौषीतकी उपनिषद्
गीता
चतुःशतक (विश्व भारती)
छान्दो०—छान्दोग्योपनिषद्
जिनरत्नकोष (पूना)
जीतकल्प सूत्र
जीतकल्प सूत्र चूर्णि
जैन गुर्जर कविओ (देसाई)
जैन सत्यप्रकाश (अहमदाबाद)
जै सा० सं० इ०—जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास (देसाई)
जैनागम (मालवणिया)
ज्ञानबिन्दु (सिंघी सिरीज)
तत्त्ववार्तिक
तत्त्वसंग्रह
तत्त्वार्थसूत्र
—विवेचन (पं० सुखलालजी)
—भाष्य
—भाष्य सिद्धसेनवृत्ति
तत्त्वार्थ भा०टी०—तत्त्वार्थ भाष्य टीका (सिद्धसेन)
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
तत्त्वोपप्लवसिंह
तैत्तिरीय०—तैत्तिरीय

यजुर्वेद
युक्त्यनुशासन
योगदर्शन
योगदर्शन भाष्य
योग०—योगदृष्टिसमुच्चय
योगशिखोपनिषद
लोकतत्त्वनिर्णय
वाक्यपदीय
विग्रहव्यावर्तिनी(नागार्जुन)
विजयोदया—भगवती आराधना टीका
विप्तिमात्रता सिद्धि
विनयपिटक—महावग्ग
विधिवीय कल्प
विशेषणवती (जिनभद्र)
विशेषा भा०—विशेषावश्यक भाष्य
वि द्धिमग्ग
वैश०—वैशेषिक सूत्र
व्यो०—व्योमवती प्रशस्तपाद भाष्य टीका
शतपथ ब्राह्मण
शांकर भाष्य
शास्त्रदी०—शास्त्रदीपिका
शास्त्रवार्तासमुच्चय
श्रीमद भागवत (छायानुवाद)
श्लोकवा०—मीमांसा श्लोकवार्तिक
श्वेता०—श्वेताश्वतर उपनिषद
षट्खण्डागम—धवला टीका
षड्दर्शनसमुच्चय हरिभद्र)
षोडशक (हरिभद्र)
संयुत्तनिकाय (पाली टेक्स्ट)
सन्मतितर्क (गुजराती)
समयसार
समवायांग सूत्र
सर्वसारोपनिषद
सर्वार्थसिद्धि—तत्त्वार्थ टीका
सांख्यका०—सांख्य कारिका
सांख्यत०—सांख्यतत्त्वकौमुदी
सामवेद
सुत्तनिपात
सूत्रकृ नि० / सूत्र० नि० —सूत्रकृतांग निर्युक्ति
सूर्यप्र —सूर्य प्रज्ञप्ति
सौन्दरनन्द
स्थानांग
स्याद्वादमञ्जरी
स्याद्वाद०—स्याद्वादरत्नाकर (पूना)
हरिवंश पुराण
हेतुबिन्दु
—Outlines of Indian Philosophy—Hiryanra
—Buddhist Conceptio i of spirits—Law
—Buddhist Philosophy—Keith
—E.R E (Encyclopaedia of Religion and Ethics)
—Heaven and Hell—Law
History of Indian Philosophy Vol II—The Creative period—Belvelkar and Ranade
—Hyms of Rigveda
—Nature of Consciousness in Hindu Philosophy—S xena
—Origin and development of Religion in Vedic Literature—Deshmukh


—0—

(८) कर्म का स्वरूप १२८
(९) कर्म के प्रकार १३७
(१०) कर्मबन्ध के प्रबल कारण १३८
(११) कर्मफल का क्षेत्र १४०
(१२) कर्मबन्ध और कर्मफल की प्रक्रिया १४०
(१३) कर्म का कार्य अथवा फल १४२
(१४) कर्म की विविध अवस्थाएं १४७
(१५) कर्मफल का संविभाग १४९
(८) परलोक विचार १५० १६०
(१) वैदिक देव और देवियाँ १५१
(२) वैदिक स्वर्ग नरक १५३
(३) उपनिषदों के देवलोक १५४
(४) देवयान पितृयान १५४
(५) पौराणिक देवलोक १५६
(६) वैदिक असुरादि १५६
(७) उपनिषदों में नरक का वर्णन १५६
(८) पौराणिक नरक १५७
(९) बौद्ध और परलोक १५७
(१०) जैन सम्मत परलोक १५९

## गणधरवाद—पृ० १-१७९

### १ प्रथम गणधर इन्द्रभूति—जीव के अस्तित्व सम्बन्धी चर्चा ३-२८

इन्द्रभूति के संशय का कथन ३
जीव प्रत्यक्ष नहीं ३
जीव का मान से सिद्ध नहीं होता ३
जीव आगम प्रमाण से भी सिद्ध नहीं ४
जीव के विषय में आगमों में परस्पर विरोध ५
उपमान प्रमाण से भी जीव असिद्ध है ६
अर्थापत्ति से भी जीव असिद्ध है ६
[illegible] का निवारण ७ २८
[illegible] ७
[illegible] ८
[illegible] ८
[illegible] ८
[illegible] ९
[illegible] ९
[illegible] १०
[illegible] १०
ज्ञान देह गुण नहीं ११
सर्वज्ञ को जीव प्रत्यक्ष है १२
अन्य देह में आत्म सिद्धि १३
आत्म सिद्धि के लिए अनुमान १३
आत्मा कथंचित् मूर्त है १५
संशय का विषय होने से जीव है १५
अजीव के प्रतिपक्षी रूप में जीव की सिद्धि १६
निषेध्य होने से जीव सिद्धि १६
निषेध का अर्थ १७
सर्वथा असत् का निषेध नहीं १८
शरीर जीव का आश्रय है १८
जीव-पद से पर है १९
जीव पद का अर्थ दृष्ट नहीं १९
सर्वज्ञ वचन द्वारा जीव सिद्धि १९
सर्वज्ञ झूठ नहीं बोलता २०
भगवान् सर्वज्ञ क्या ? २०
जीव एक ही है २०

जीव अनेक हैं २१
जीव सर्वव्यापी नहीं २३
वेद वाक्यों का समन्वय २३
जीव नित्यानित्य है २५
विज्ञान मात्र भ्रम नहीं २६
वेद पद का क्या अर्थ है ? २७
वस्तु की उभयमयता २८


## २ द्वितीय गणधर अग्निभूति—कर्म के अस्तित्व की चर्चा २९-४८


कर्म के विषय में संशय २९-३०
कर्म की सिद्धि ३०-४८
कर्म साधक अनुमान ३१
सुख दुःखमात्र दृष्ट कारणजन्य नहीं ३१
कर्म साधक अन्य अनुमान ३१
कार्मण शरीर की सिद्धि ३२
चेतन की क्रिया सफल होने के कारण कर्म की सिद्धि ३२
क्रिया का फल अदृष्ट है ३४
न चाहने पर भी अदृष्ट फल मिलता है ३५
अदृष्ट होने पर भी कर्म मूर्त है ३६
कर्म परिणामी है ३७
कर्म विचित्र है ३८
कार्मण देह स्थूल शरीर भिन्न है ३९
मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से सम्बन्ध ३९
शुभ व अशुभ कर्म ही हैं ४०
मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा पर प्रभाव है ४१
संसारी आत्मा मूर्त भी है ४१
जीव कर्म का अनादि सम्बन्ध ४१
वेद-वाक्यों की संगति ४२
ईश्वरादि कारण नहीं ४२
स्वभाववाद का निराकरण ४४
वेद वाक्य का सम्बन्ध ४६


## ३ तृतीय गणधर वायुभूति—जीव-शरीर चर्चा ४९-६६


जीव व शरीर एक ही है यह संशय ४९-५०
संशय का निराकरण ५०-६०
जो प्रत्येक में नहीं होता वह समुदाय में नहीं होता ५१
प्रत्येक भूत में चैतन्य नहीं ५१
भूत भिन्न आत्मा का साधक अनुमान ५३
इन्द्रियाँ आत्मा नहीं ५३
इन्द्रियाँ ग्राहक नहीं ५४
अतीन्द्रिय वस्तु की सिद्धि में प्रमाण ५५
भूत भिन्न आत्मा का साधक अनुमान ५५
जीव क्षणिक नहीं ५८
विज्ञान भी सर्वथा क्षणिक नहीं ५९
ज्ञान के प्रकार ६३
विद्यमान होने पर अनुपलब्धि के कारण ६३
आत्मा का अभाव क्यों नहीं ६५
वेद से समर्थन ६५


## ४ चतुर्थ गणधर व्यक्त—शून्यवाद निरास ६७-९३


भूतों की सत्ता के विषय में संदेह ६७-७३
पदार्थ मायिक हैं ६७
संस्कार प्रवाह सापेक्ष ६८
सर्व शून्यता का समर्थन ७०
उत्पत्ति घटित नहीं होती ७१
सत्य होने के कारण शून्य नहीं ७२

संशय निवारण ७२-९३

भूतों के विषय में संशय का होना उनकी सत्ता का द्योतक है ७३

स्वप्न के निमित्त ७४

सर्व शून्यता में व्यवहाराभाव ७४

सभी ज्ञान भ्रान्त नहीं ७५

सर्व सत्ता मात्र सापेक्ष न हो ७६

शून्यवाद में स्व-पर पक्ष का भेद नहीं घटता ७६

[illegible] स्वाभाविक नहीं ७७

वस्तु की [illegible] निरपेक्षता ७८

स्वतः परतः आदि पक्षों की सिद्धि ७८

[illegible] का निराकरण ७९

उत्पत्ति सहेतुक ? ८०

[illegible] ८१

[illegible] ८५

[illegible] ८

[illegible] ८७

[illegible] की सिद्धि ८८

[illegible] ८९

भूतों के सजीव होने पर भी [illegible] का सद्भाव ९१

हिंसा अहिंसा का विवेक ९१

वेद वचन का समन्वय ९२


## ५ पंचम गणधर सुधर्मा—इस भव तथा परभव के सादृश्य की चर्चा ९४-१०२


इह-परलोक के सादृश्य असादृश्य का संशय ९४-९५

कारण सदृश कार्य ९४

संशय निवारण ९५-१०२

कारण में विलक्षण कार्य ९५

कारण वैचित्र्य से कार्य वैचित्र्य ९५

इस भव की तरह परभव विचित्र है ९६

कर्म का फल परभव में भी होता है ९६

कर्म के अभाव में संसार नहीं ९७

परभव स्वभावजन्य नहीं ९७

स्वभाववाद का निराकरण ९८

वस्तु समान तथा असमान है १००

परभव में अन्य जाति नहीं १०१

बन्ध-बाधकों का समन्वय १०१


## ६ छठे गणधर मण्डिक—बन्ध मोक्ष चर्चा १०३-१२०


बन्ध मोक्ष का संशय १०३-१०५

जीव कर्म से पृथक नहीं हो सकता १०४

कर्म जीव से पहले सम्भव नहीं १०४

जीव तथा कर्म युगपद् उत्पन्न नहीं हैं १०४

संशय निवारण १०५-१२०

कर्म संतति अनादि है १०५

जीव का बन्ध १०६

कर्म सिद्धि १०६

बन्ध अनादि सान्त है १०७

भव्य अभव्य का भेद १०८

अनादि होने पर भी भव्यत्व का अन्त १०८

भव्यों का मोक्ष मानने से भी संसार खाली नहीं होता १०९

सर्वज्ञ के वचन का प्रमाण मानना १०९

मोक्ष में न जाने वाले भव्य क्या ? ११०

मोक्ष कृतक होने पर भी नित्य है १११

मोक्ष एकान्ततः कृतक नहीं १११

मुक्त पुनः संसार में नहीं आते ११

आत्मा व्यापक नहीं है ११३

आत्मा नित्य अनित्य है ११३

मुक्त लोक के अग्रभाग में रहते हैं ११३

आत्मा अरूपी होने पर भी सक्रिय ११४

अलोक के अस्तित्व में प्रमाण ११६
धर्माधर्मास्तिकायों की सिद्धि ११७
सिद्ध-स्थान से पतन नहीं ११८
आदि सिद्ध कोई नहीं ११९
सिद्धों का समावेश ११९
वेद-वाक्यों का समन्वय ११९


## ७ सातवें गणधर मौर्यपुत्र—देव चर्चा १२१-१२७


देवों के विषय में सन्देह १२१ १२२
संशय का निवारण १२२ १२७
देव प्रत्यक्ष हैं १२२
अनुमान से सिद्धि १२२
देव इस लोक में क्यों नहीं आते ? १२४
वे यहाँ कैसे आएँ ? १२४
देव-साधक अन्य अनुमान १२५
अर्ह विकार की सिद्धि १२५
देव पद की सार्थकता १२५
वेद वाक्यों का समन्वय १२६


## ८. आठवें गणधर अकम्पित—नारक-चर्चा १२८-१३३


नारक विषयक सन्देह १२८
संशय निवारण १२९ १३३
नारक सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष हैं १२९
किसी को भी प्रत्यक्ष हो यह प्रत्यक्ष ही है १२९
इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष है १२९
उपलब्धि-कर्त्ता इन्द्रियाँ नहीं, आत्मा है १३०
आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है १३०
अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय समस्त है १३१
इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष क्यों ? १३१
अनुमान से नारक सिद्धि १३२
सर्वज्ञ के वचन से सिद्धि १३२
वेद वाक्यों का समन्वय १३३


## ९ नवमे गणधर अचलभ्राता—पुण्य-पाप-चर्चा १३४-१५१


पुण्य पाप के विषय में संदेह १३४ १३६
पुण्यवाद १३५
पापवाद १३५
पुण्य पाप दोनों संकीर्ण हैं १३५
पुण्य-पाप दोनों स्वतन्त्र हैं १३६
स्वभाववाद १३६
संशय निवारण १३६ १५१
स्वभाववाद का निराकरण १३६
अनुमान से पुण्य पाप कर्म की सिद्धि १३७
पुण्य पाप रूप अदृष्ट कर्म की सिद्धि १३८
कर्म के पुण्य-पाप भेदों की सिद्धि १३९
कर्म अमूर्त नहीं १३९
अदृष्ट रूप कर्म की सिद्धि १४१
केवल पुण्यवाद का निरास पाप सिद्धि १४२
केवल पापवाद का निरास पुण्य सिद्धि १४३
संकीर्ण पक्ष का निरास १४३
कर्म संक्रम का नियम १४५
पुण्य व पाप का लक्षण १४५
कर्म ग्रहण की प्रक्रिया १४६
पुण्य-पाप प्रकृति की गणना १४८
पुण्य-पाप के स्वातन्त्र्य का समर्थन १४९
वेद वाक्यों का समन्वय १

## १० दशवें गणधर मेतार्य—परलोक चर्चा १५२-१५८


परलोक विषयक सन्देह १५२ १५३

भूत धर्म चैतन्य का भूतों के साथ नाश १५२

भूतों से उत्पन्न चैतन्य अनित्य है १५३

बद्ध आत्मा का संसरण नहीं होता १५३

संशय निवारण १५३ १५८

परलोक सिद्धि आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है १५३

आत्मा अनेक है १५३

आत्मा देह-परिमाण है १५४

आत्मा सक्रिय है १५४

देव नारक का अस्तित्व १५४

परलोक के अभाव का पूर्वपक्ष

विज्ञान अनित्य होने से आत्मा अनित्य १५४

एकान्त नित्य में कर्त्तृत्वादि नहीं १५५

अज्ञानी आत्मा का संसरण नहीं १५५

परलोक सिद्धि—आत्मा अनित्य है अतः नित्य भी है १५५

घट भी नित्यानित्य है १५६

विज्ञान भी नित्यानित्य है १५७

वेद-वाक्यों का समन्वय १५८


## ११ ग्यारहवें गणधर प्रभास—निर्वाण-चर्चा १५९ १७९


निर्वाण सम्बन्धी सन्देह १५९ १६०

निर्वाण विषयक मतभेद १६०

सन्देह निवारण १६१ १७९

निर्वाण सिद्धि जीव-कर्म का अनादि संयोग नष्ट होता है १६१

संसार-पर्याय का नाश होने पर भी जीव विद्यमान रहता है १६१

कर्म-नाश से संसार के समान जीव का नाश नहीं १६१

जीव सर्वथा विनाशी नहीं १६१

कुशल होने पर भी आत्मा का नाश नहीं १६२

[illegible] नुष्ट नहीं १६२

[illegible] ही [illegible] है १६२

[illegible] है १६२

[illegible] नहीं १६३

जीव [illegible] व मोक्ष है १६३

मोक्ष नित्यानित्य है १६३

पुद्गल के स्वभाव का निरूपण १६४

विषय भोग के अभाव में भी मुक्त को सुख होता है १६५

इन्द्रियों के अभाव में भी मुक्त ज्ञानी है १६६

मुक्तात्मा अजीव नहीं बनता १६७

इन्द्रियों के बिना भी ज्ञान है १६८

आत्मा ज्ञान स्वरूप है १६९

पुण्य के अभाव में भी मुक्त सुखी है, पुण्य का फल सुख नहीं है १७०

देह के बिना भी सुख का अनुभव १७४

सिद्ध का सुख व ज्ञान नित्य है १७४

सुख व ज्ञान अनित्य भी है १७५

वेद-वाक्यों का समन्वय १७६

[illegible] १८० २१०

[illegible] २११ २१२

[illegible] २१३ २५२

[illegible] २५३ २५४

[illegible] २५५ २६४

# प्रस्तावना

## 1 गणधरवाद क्या है ?

आवश्यक सूत्र जैनागम का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जैनधर्म की सर्वप्रथम प्राकृत ग्रन्थ रचना अनुयोगद्वार सूत्र में दृष्टिगोचर होती है और वह आवश्यक सूत्र की व्याख्या के रूप में है। आचार्य भद्रबाहु ने जिन अनेक निर्युक्तियों की रचना की है उनमें आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति का विशेष स्थान है। अन्य निर्युक्तियों के समान उसमें प्राकृत पद्य में आवश्यक सूत्र की व्याख्या की गई है। आवश्यक सूत्र के छः अध्ययन हैं जिनमें सामायिक अध्ययन प्रथम है। आचार्य जिनभद्र ने उस सामायिक अध्ययन तथा उस पर उक्त निर्युक्ति तक के सीमित भाग की प्राकृत पद्य में अति विस्तृत व्याख्या की है वह विशेषावश्यक भाष्य के नाम से सुविख्यात है। विशेषावश्यक भाष्य की अनेक व्याख्याओं में आचार्य मलधारी हेमचन्द्र की विस्तृत संस्कृत व्याख्या सर्वाधिक प्रसिद्ध है। प्रस्तुत पुस्तक में आचार्य जिनभद्र के भाष्य की इस विस्तृत व्याख्या के आधार पर गणधरवाद नामक प्रकरण का भाषान्तर है।

### भाषान्तर की शैली

मेरे विचार में प्रस्तुत ग्रन्थ का केवल भाषान्तर न समझ कर रूपान्तर समझना अधिक उपयुक्त होगा। प्रकरण के नाम के अनुसार इसमें उस वाद का समावेश है जो भगवान् महावीर और ब्राह्मण-पण्डितों में हुआ था। इस वाद के पश्चात् ये ब्राह्मण पण्डित भगवान् से प्रभावित हुए उनके मुख्य शिष्य बने और गणधर कहलाए। इसलिए इस वाद का नाम गणधरवाद है। अतः भाषान्तर की शैली संवादात्मक रखी गई है। संवाद को अनुकूल रूप प्रदान करने के लिए मलधारी की व्याख्या के वाक्यों का भाषान्तर के साथ साथ रूपान्तर भी करना पड़ा है। अतः यह भाषान्तर संस्कृत से गुजराती भाषा में केवल अनुवाद नहीं है प्रत्युत इस व्याख्या को संवादात्मक रूप में उपस्थित करने का एक प्रयत्न है। इसी कारण मैंने इसे रूपान्तर कहा है।

संस्कृत भाषा की यह विशेषता है कि उसमें ऐसी परम्परा विद्यमान है जिसके आधार पर गम्भीर दार्शनिक विषयों की चर्चा अति संक्षिप्त शैली में हो सकती है और फिर भी विषय की अस्पष्टता लेशमात्र नहीं रहती। गुजराती भाषा की तथा संस्कृत भाषा की शैली में भी भेद है। अतः भाषान्तर को सुवाच्य बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी शैली गुजराती हो। केवल शब्दशः अनुवाद करने से भावों के अस्पष्ट रहने की अधिक संभावना रहती है। यह भी संभव है कि भाषान्तर गुजराती में हो और उसमें गुजरातीपन भी न झलकाए न हो। इन कारणों से भाषान्तरकार के लिए यह आवश्यक है कि वह केवल शब्दों को नहीं अपितु शब्दों और भावों को मिलाकर संस्कृत भाषा से गुजराती भाषा में रूपान्तर करे। इस भाषान्तर में इसी नीति के अनुसार कार्य करने का विनम्र प्रयास किया है। मुझे इसमें कहाँ तक सफलता मिली इस बात का निर्णय तो पाठक ही कर सकते हैं।

[illegible]

[illegible]

इस प्रकार [illegible] (स्थानकवासी) के साथ आवश्यक सूत्र [illegible] नन्दी [illegible] जिनदास रचित जिनदासकृत [illegible] और हेमचन्द्र [illegible] प्रणीत [illegible] ग्रन्थों का सहयोग है। अतएव इस प्रस्तावना में उक्त उक्त ग्रन्थों के प्रणेता आचार्यों का परिचय देना उचित समझता हूँ और साथ में गणधरों का सामान्य परिचय देकर प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिपाद्य आचारांग, कर्मवाद और [illegible] विषयों का [illegible] ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन किया है। इसमें ग्रन्थकर्ता से सम्बन्धित दार्शनिक भूमिका क्या है? यह पाठकों के ध्यान में आ जायगी।

## 2 आवश्यक के सूत्र कर्ता कौन ?

जैन आगम साहित्य के दो भेद किये जाते हैं —अर्थागम और सूत्रागम अर्थात् [illegible]। अनुयोगद्वार में कहा गया है कि तीर्थंकर आगम का उपदेश करते हैं इसलिये वे स्वयं अर्थागम के कर्ता हैं। वह अर्थागम गणधरों को तीर्थंकर से साक्षात् (प्रत्यक्ष) में मिलने के कारण गणधरों की अपेक्षा से वह अनन्तरागम है। किन्तु उस अर्थागम के आधार से गणधर सूत्रों की रचना करते हैं इसलिये सूत्रागम या शब्दागम के प्रणेता गणधर ही कहे जाते हैं। गणधरों के प्रशिष्य तथा शिष्यों की अपेक्षा से अर्थागम परम्परागम कहलाता है और उनको गणधरों के पास से ग्रन्थरूप में मिलने के कारण उनकी अपेक्षा से वह सूत्रागम अनन्तरागम कहा जाता है। गणधरों के प्रशिष्यों या उनसे तीसरी प्रकार के आगम परम्परागम कहलाते हैं।[1]

इस आधार से यह निश्चय निकलता है कि आगम के अर्थ का उपदेश तीर्थंकरों ने दिया था और उनको ग्रन्थबद्ध करने का अर्थ गणधरों को दिया जाता है। इसलिये जहाँ जहाँ आगम को तीर्थंकर प्रणीत कहते हैं वहाँ उसका इतना ही अर्थ समझना चाहिए कि इस आगम में जिस बात का प्रतिपादन हुआ है उसका मूल तीर्थंकर के उपदेश में है। उसका अभिप्राय यह नहीं होता है कि वे ग्रन्थ भी तीर्थंकरों ने बनाये हैं। आचार्य भद्रबाहु ने भी आवश्यक निर्युक्ति में इसी मत का समर्थन किया है —

---

1 अनुयोगद्वार सू 147 पृ 219 विशेषावश्यक भाष्य 918-949

अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ ॥92॥[1]

आवश्यक के प्रणेता के सम्बन्ध में दो मत बताये --

अब इस प्रश्न पर विचार करें कि किन किन [illegible] की रचना [illegible] की है? और उनमें आवश्यक सूत्र का समावेश होता है या न[illegible]? इस प्रश्न पर आगम [illegible] ही [illegible] नहीं मिलता।

अनुयोगद्वार सूत्र में आगमों के सम्बन्ध में प्रतिपादन किया गया है। उसमें तीर्थंकरों को आचारांग से लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त बारह अंगों के प्रणेता कहा गया है।[2] इससे यह इस प्रकार कह सकते हैं कि तीर्थंकरों के उपदेश के आधार पर गणधरों ने द्वादशांगी की रचना की। इसी बात का नन्दीसूत्र में भी सम्यक् श्रुत का प्रतिपादन करते हुए अनुयोगद्वार के समान ही वर्णन किया गया है।[3] षट्खण्डागम की धवला टीका और कषायपाहुड की जयधवला टीका में भी गणधर इन्द्रभूति को द्वादशांग और चौदह पूर्व[4] के सूत्रकर्ता के रूप में कहा गया है।[5]

इस मान्यता का समर्थन अन्य ग्रन्थों में भी मिलता है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ भाष्य में आगमों में अंग और अंगबाह्य का भेद किस कारण से किया गया है? इसका समाधान करते हुए कहा है कि जो गणधर कृत हैं वे अंग हैं और जो स्थविर रचित हैं वे अंगबाह्य[6] हैं। बृहत्कल्पभाष्य[7] और विशेषावश्यक भाष्य[8] में अंग और अंगबाह्य के तीन प्रकार से [illegible] कराये गये हैं। उनमें से एक प्रकार आचार्य उमास्वाति द्वारा निर्दिष्ट मत का अनुसरण करता है। इससे साथ यह भी ज्ञात होता है कि उनके समय में आचार्य उमास्वाति निर्दिष्ट

---

1 इस बात का समर्थन भगवती आराधना गा० 34 विजयोदया पृ० 125 षट्खण्डागम धवला टीका (पृ० 60) और कषायपाहुड की जयधवला टीका (पृ० 84) में तथा महापुराण (आदिपुराण) 1 202 तिलोयपण्णत्ति 1 33 1 80 तत्त्वार्थभाष्य-सिद्धसेन वृत्ति 1 20 में भी है।

2 अनुयोगद्वार सूत्र 147 पृ० 218

3 नन्दी सूत्र 40

4 चौदह पूर्वों का समावेश बारहवें अंग में होने से धवला और जयधवला मत पूर्वोक्त मत से भिन्न नहीं है।

5 षट्खण्डागम धवला टीका भाग 1 पृ० 65 और कषायपाहुड जयधवला टीका भाग 1 पृ० 84

6 तत्त्वार्थ भा० 1 20

7 बृहत्कल्प भा० गा० 144

8 विशेषा० भा० गा० 550 यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि बृहत्कल्पभाष्य और विशेषा० भा० की गाथा में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है।

मान्यता में शिथिलता आने लग गई थी। यही कारण है कि अंगबाह्य का भेद उमास्वाति द्वारा प्रतिपादित एक प्रकार का न होकर, तीन प्रकार का बताया गया है।

नन्दी सूत्र की चूर्णि[1] में तथा आचार्य हरिभद्र रचित नन्दी सूत्र की टीका में अंग बाह्य की रचना के विषय में दो धारायें (मत) प्राप्त होते हैं उसमें भी एक मत तो आचार्य उमास्वाति स्वीकृत मत ही है कि जो गणधर रचित हैं वे अंग हैं और स्थविर प्रणीत होते हैं वे अंग-बाह्य[2]। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जैसे जैसे समय बीतता गया वैसे वैसे अंग बाह्य गणधर कृत हैं ऐसी मान्यता की तरफ आकर्षित होते हुए भी आचार्य उस प्राचीन मान्यता को स्मरण में रखते हुए उल्लेख करते रहे।

जो कुछ भी हो किन्तु प्राचीन मान्यता से यह प्रतिपादित होता है कि आवश्यक सूत्र अंग बाह्य होने से इसके कर्ता गणधर नहीं अपितु कोई स्थविर थे।

यह कहना कठिन है कि इस मान्यता के विरुद्ध दूसरी मान्यता कब से प्रारंभ हुई? तो भी इतना तो निश्चित है कि यह आवश्यक सूत्र भी गणधर प्रणीत है। इस प्रकार की मान्यता का सर्वप्रथम स्पष्ट प्रतिपादन आवश्यक निर्युक्ति में दिखाई पड़ता है।

आवश्यक सूत्र के सामायिकाध्ययन की उपोद्घात निर्युक्ति में उद्देशादि[3] अनेक द्वारों में जो प्रश्न उठाये गये हैं उनका निर्युक्तिकार ने क्रमशः उत्तर दिया है। उनका निरन्तर स्वाध्याय करने वाले की दृष्टि में यह तथ्य स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि निर्युक्तिकार बारम्बार यही तथ्य सिद्ध करना चाहते हैं कि सामायिकादि अध्ययनों की रचना भगवान के उपदेश के आधार पर गणधरों ने की है। इसी बात का समर्थन निर्युक्ति का भाष्य करते हुए विशेषावश्यक भाष्यकार जिनभद्र ने किया है।[4] निर्युक्ति और भाष्य के टीकाकार आचार्य हरिभद्र मलयगिरि मलधारी हेमचन्द्र भी उस उस प्रसंग पर इसी बात का अनुसरण करें यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। आचार्य भद्रबाहु ने इस बात को भी स्पष्ट किया है कि इसमें मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह परम्परा से प्राप्त हुआ है।[5] इस परम्परा का अनुसंधान करें तो हमें यह बात आवश्यक की प्राचीनतम व्याख्या अनुयोगद्वार में मिलती है। वहाँ भी आवश्यक के अध्ययनों के विषय में आवश्यक निर्युक्ति में आगत उद्देशादि प्रतीक गाथायें

---

1 नन्दी चूर्णी पृ 47

2 पृ 90

3 आव० नि० गा 140–141

4 आव नि की विशेषरूप से उसके भाष्यादि टीकाओं के साथ निम्नांकित गाथाएं द्रष्टव्य हैं — गा० 80 90 270 734 735 742 745 750 विशेषा 948–49 973–974 1484–1485 1533 1545–1548 2082 2083 2089।

5 आव नि 87

उसी रूप में है।[1] अनुयोगद्वार चूर्णि में इन गाथाओं पर विशेष विवरण के रूप में कुछ भी नहीं कहा गया है किन्तु आचार्य हरिभद्र ने स्वरचित आवश्यक टीका में इनका विवेचन करने की प्रतिज्ञा की है।[2] यह कहने की आवश्यकता न थी कि वह विवेचन आवश्यक निर्युक्ति का ही अनुसरण करता है। मलधारी आचार्य हेमचन्द्र भी आवश्यक निर्युक्ति का ही उपयोग करके इन गाथाओं की व्याख्या करते हैं।[3] ऐसी अवस्था में यह मान सकते हैं कि अनुयोग की उक्त गाथाओं का तात्पर्य यह है कि आवश्यक सूत्र गणधर प्रणीत है। यह परम्परा टीकाकारों को मान्य है तथा यह आवश्यक निर्युक्ति जितनी ही प्राचीन भी है। आचार्य भद्रबाहु स्वयं कहते हैं कि मैं परम्परा के अनुसार सामायिक विषयक विवेचन करता हूँ। इसलिये यह माना जा सकता है कि आचार्य भद्रबाहु के भी पहले कभी यह मान्यता रही कि मात्र अंग ही नहीं अपितु अंग बाह्य ग्रन्थों में से आवश्यक सूत्र के अध्ययन भी गणधर प्रणीत हैं। यह मान्यता कब से चली न तो रही अपितु समस्त अंग-बाह्य आगम ग्रन्थों को गणधर रचित हैं ऐसा माना जाने लगा। इसके प्रमाण दिगम्बर ग्रन्थों में भी प्राप्त होते हैं। इसी मान्यता का अनुसरण दिगम्बर आचार्य जिनसेन (वि० 840) स्वरचित हरिवंश पुराण में करते हैं। वे लिखते हैं कि भगवान महावीर ने पहले बारह अंगों का सर्वप्रथम उपदेश दिया।[4] इसके पश्चात गौतम गणधर ने उसी गति द्वादशांगी की रचना की।[5]

जैसा कि ऊपर मूल के मूल में एक स्थान पर द्वादशांगी को ही जिन प्रणीत कहा है तो भी चूर्णिकार अंगबाह्य को भी स्पष्ट रूप से जोड़ने की सूचना देते हैं।[6] चूर्णिकार संकेत करते हैं कि संभवतः अंगबाह्य को भी गणधरकृत मानने की परम्परा प्रारम्भ हो गयी थी। इसलिये वे दूसरे स्थान पर सूत्र में जहाँ अंग और अंग बाह्य दोनों की गणना है वहाँ वे दोनों के लिये लिखते हैं कि वे गणधर अथवा स्थविर के उपदेशानुसार हैं।[7] आचार्य हरिभद्र को भी नन्दी की टीका में चूर्णि की मान्यता का अनुसरण करना पड़ा जब कि चूर्णिकार और हरिभद्र दोनों अपनी-अपनी इस मान्यता के लिए आधार प्रस्तुत थे उसका भी संकेत करना नहीं भूलते कि कतिपय स्थविर रचित ग्रन्थों में और स्थविर-प्रणीत अंगबाह्य हैं।[8]

[illegible] अंगबाह्य कृत हैं यह मान्यता [illegible] नहीं चली, बल्कि जैसा [illegible] के प्रमाण की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए उपाध्याय में स्पष्ट करता

---

1 [illegible] 195
2 [illegible] पृ० 1[illegible]
3 [illegible] 1
4 [illegible] 9 -195
5 [illegible] 2111
6 [illegible] 1
7 [illegible] 43
8 [illegible] 43-44

उचित समझा कि ये पुराण भी मानव गणधर कृत हैं और हम तो यह वस्तु परम्परा से प्राप्त हुई है अतएव उसी के आधार से रचना करने में आई है।[1] इस प्रकार गणधर रचित न केवल अंग ग्रंथ ही अपितु अंग बाह्य ग्रंथों के साथ पुराण भी गणधर कृत माने जाने लगे।

इस प्रस्तुत चर्चा का उपयोगी निष्कर्ष यह है कि प्राचीन मान्यता के अनुसार यह आवश्यक अंगबाह्य होने से गणधर प्रणीत नहीं माना जाता था किन्तु बाद में आचार्यगण इसको भी गणधर रचित मानने लगे। साथ ही यह भी कहना चाहिए कि अंगबाह्य ग्रंथों में से सर्व प्रथम आवश्यक को ही गणधर रचित मानने की परम्परा प्रारम्भ हुई और उसके बाद दूसरे अंग-बाह्य ग्रंथों को भी गणधर कृत ग्रंथों में सम्मिलित करने लगे।[2]

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसा किसलिए करना पड़ा? इसका सीधा समाधान तो यह हो सकता है कि गणधर विशिष्ट ऋद्धि सम्पन्न माने जाते थे और उन्होंने भगवान से सीधा उपदेश ग्रहण किया था। इसलिये दूसरों की अपेक्षा उनकी रचना की प्रामाणिकता बढ़ जाय यह स्वाभाविक है। इसलिये पीछे के आचार्यों ने आगम में समावेश हो जाय ऐसे समस्त साहित्य को गणधरों के नाम चढ़ाना उचित समझा जिससे उसकी प्रामाणिकता में सन्देह की गुंजाइश ही न रहे। इस प्रकार क्रमशः आवश्यक से लेकर पुराणों तक समस्त अंग बाह्य साहित्य गणधर कृत माना जाने लगा।

अंग बाह्य में तो अनेक ग्रंथ थे तो भी आवश्यक को सर्वप्रथम गणधर रचित मानने की परम्परा का प्रचलन इसलिये हुआ कि आगम ग्रंथों में अनेक स्थलों पर जहां जहां भगवान महावीर के साक्षात शिष्यों के अध्ययन अभ्यास का निर्देश है वहां-वहां उन्होंने सामायिकादि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया ऐसे उल्लेख मिलते हैं। सामायिक यह आवश्यक का प्रथम प्रकरण है। अध्ययन क्रम में यदि उसका स्थान ग्यारह अंगों में भी पहिले है तो आवश्यक को गणधर-कृत मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं होती। अतएव अंग बाह्य में से आवश्यक को गणधरों की कृति के रूप में सर्वप्रथम स्वीकार करें यह स्वाभाविक है।

और आवश्यक की सब से प्राचीनतम व्याख्या अनयोगद्वार सूत्र के उपक्रमद्वार में प्रमाणभेद की चर्चा करते हुए सूत्रागम आदि भेद किये हैं। आवश्यक सूत्र के सामायिक अध्ययन की ही चर्चा के प्रसंग में उक्त भेदों के करने से नियुक्तिकार भाष्यकार और अन्य टीकाकारों ने सामायिक अध्ययन को सामने रखकर ही इन भेदों का प्रतिपादन किया हो यह स्वाभाविक है। इसी कारण वे समस्त सामायिक के अर्थकर्त्ता के रूप में तीर्थंकर को सूत्र कर्त्ता के रूप में गणधर को मानते हैं। किन्तु इतना ध्यान रखना चाहिए कि अनयोगद्वार सूत्र में आगम के सूत्रागम आदि भेद करते हुए भी प्रस्तुत सामायिक सूत्र में उसका उपक्रमद्वार

---

1 पद्मचरित 1 41–42 महापुराण (आदिपुराण) 1 26 1 198–201

2 अंगबाह्य की जिन भिन्न भिन्न व्याख्याओं का उल्लेख करने में आया है उन कारणों पर विचार करने से एक कारण यह प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा और उनके साहित्य के सम्बन्ध में ज्यों ज्यों मतभेद तीव्रतम होता गया त्यों-त्यों अंगबाह्य गणधरकृत मानने और मनवाने की प्रवृत्ति सबलता के साथ बढ़ती गई और पुराण जैसे ग्रंथों को भी गणधर-कृत कतियों में समावेश करते गए।

नष्ट किया है। अनयोगद्वार की अन्य रचना पर यह पद्धति है कि प्रस्तुत अप्रस्तुत समस्त का उल्लेख कर अन्त में उपसंहार में अप्रस्तुत का निराकरण कर प्रस्तुत कथा है? उसका उल्लेख करते हैं।

## 3 आवश्यक निर्युक्ति के कर्ता

आचार्य भद्रबाहु नाम के अनेक आचार्य होने से एक का जीवन घटना दूसरे के नाम पर और एक का कार्य दूसरे के नाम पर चढ़ जाने की अधिक सम्भावनायें होती हैं। उदाहरण स्वरूप निर्युक्तियों में प्रथम चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के पश्चात् अनेक आचार्यों का नामोल्लेख होने पर भी आज तक यह मान्यता प्रचलित थी कि समस्त निर्युक्तियाँ चतुर्दश पूर्वधर रचित हैं और आज भी बहुत से श्रद्धालु जन इसी मान्यता से जुड़े हुए हैं। साथ ही जहाँ श्वेताम्बर आगमों के अनुसार ऐसी कथा है कि चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु योग साधना के लिए नेपाल गये वहाँ वे भद्रबाहु दक्षिण में गये थे ऐसी कथा दिगम्बर साहित्य में प्रचलित है। ऐसा लगता है कि ये दोनों भिन्न भिन्न भद्रबाहु के जीवन की घटनाएँ एक के नाम में चढ़ गई हैं। इनमें कौनसी घटना कौन से भद्रबाहु के जीवन में घटी है यह अभी तक शोध का विषय है। आवश्यक आदि की जो निर्युक्तियाँ उपलब्ध हैं वे प्रथम चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु की नहीं अपितु विक्रम की छठी शताब्दी में विद्यमान दूसरे भद्रबाहु की रचना है ऐसा मुनि श्री पुण्यविजयजी ने स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिया है।

आचार्य भद्रबाहु प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के सगे भाई थे। जैन परम्परा में वे नैमित्तिक और मन्त्रवेत्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। वराहमिहिर ने पञ्चसिद्धान्तिका की प्रशस्ति में रचना काल शक संवत 427 अर्थात् विक्रम संवत 562 बताया है। इसलिये हम ऐसा कह सकते हैं कि आचार्य भद्रबाहु छठी शताब्दी में विद्यमान[1] थे।

---

1 यह बात चाहे छठी शताब्दी में सत्य हो किन्तु प्रश्न यह है कि इनकी लिखी हुई निर्युक्तियों में कोई प्राचीन भाग सम्मिलित है अथवा नहीं। धवला आदि के ग्रन्थों में बहुत सी गाथाएँ निर्युक्ति की हैं भगवती आराधना और मूलाचार में भी हैं अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि उपलब्ध निर्युक्ति की समस्त गाथाएँ केवल छठी शताब्दी में ही लिखी गई हैं? यदि पुरानी गाथाओं का समावेश कर नई कृति उपलब्ध रूप में उस समय बनी तो समग्र निर्युक्ति को छठी शताब्दी की ही कैसे माना जाए? इसमें सन्देह नहीं कि हम यह निश्चय नहीं कर सकते कि पुरानी गाथाएँ कौन कौन सी है और कितनी हैं? फिर भी निर्युक्ति का व्याख्यान पद्धति अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होती है। अनयोगद्वार प्रधान है उसकी गाथाएँ भी निर्युक्ति में हैं। अतः यदि छठी शताब्दी के भद्रबाहु ने उपलब्ध रचना लिखी हो तो भी यह मानना पड़ता है कि प्राचीनता की परम्परा निराधार न है। छठी शताब्दी के भद्रबाहु की कृति में से प्राचीन माने जाने वाले दिगम्बर ग्रन्थों में गाथाएँ मिलना यह कल्पना कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण मालूम होती है। यह अधिक संभव है कि समय के पूर्व-परम्परा से लेने में कुछ लिया गया हो जैसे कि कर्म साहित्य और श्रावकाचार की परिभाषा के विषय में हुआ है।

आचार्य भद्रबाहु के नाम से विख्यात दशा श्रुतस्कन्ध की चतुर्दश पूर्वधर स्थविर भद्रबाहु की रचना स्वीकार की जानी चाहिए —

1 आवश्यक 2 दशवैकालिक 3 उत्तराध्ययन 4 आचाराङ्ग 5 सूत्रकृताङ्ग 6 दशा श्रुतस्कन्ध 7 बृहत्कल्प 8 व्यवहार 9 सूर्य प्रज्ञप्ति 10 ऋषि भाषित।

इन दस निर्युक्तियों के लिखने की प्रतिज्ञा स्वयं भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में की है। इनमें से अन्तिम दो को छोड़कर शेष सब उपलब्ध हैं।

पञ्चकल्प व जीतकल्प भी इन्हीं भद्रबाहु की रचना मानी जाती है। इसमें संदेह करने का कोई कारण भी नहीं है। भद्रबाहु संहिता भी उनकी कृति मानी जाती है किन्तु इस नाम की उपलब्ध रचना उनकी हो यह कहना कठिन है।

आवश्यक निर्युक्ति, दशवैकालिक निर्युक्ति, उत्तराध्ययन निर्युक्ति, आचाराङ्ग निर्युक्ति, सूत्रकृताङ्ग निर्युक्ति, दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति, बृहत्कल्प निर्युक्ति, व्यवहार निर्युक्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति निर्युक्ति, ऋषिभाषित निर्युक्ति, पञ्चकल्प निर्युक्ति, जीतकल्प निर्युक्ति, संसक्त निर्युक्ति, गोविन्द निर्युक्ति, आराधना निर्युक्ति, उपसर्ग निर्युक्ति, स्तुति निर्युक्ति, प्रत्याख्यान निर्युक्ति, वसुदेव हिण्डी आदि ग्रन्थों की रचना मानने में कई बाधाएँ हैं।[2]

## 4 आचार्य भद्रबाहु की निर्युक्तियों का उपोद्घात

### निर्युक्ति का स्वरूप

जिस प्रकार यास्क ने निरुक्त निघण्टु शब्दों की व्याख्या लिखी थी उसी प्रकार आचार्य भद्रबाहु ने आगम पक्ष में निर्युक्तियाँ लिखकर जैनागम के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या लिखी थी। उनकी इन निर्युक्तियों की सामान्य रूपरेखा यह थी—वे कभी भी ग्रन्थ के प्रत्येक शब्द अथवा प्रत्येक वाक्य का अर्थ या विवरण नहीं लिखते। वे साधारणतः ग्रन्थ के नाम का प्रस्तुत अर्थ बताते हैं, ग्रन्थ के आधारभूत अर्थ आगम प्रकरणों का उल्लेख करते हैं, तत्सम्बन्धित समस्त ग्रन्थ को विषयानुक्रम संक्षेप में सूचित करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अध्ययन की निर्युक्ति लिखते समय सम्बन्धित अध्ययन के नाम का प्रस्तुत अर्थ स्पष्ट करते हैं और अध्ययन में वर्णित कुछ महत्त्वपूर्ण शब्दों का विवरण लिखकर समाप्त का अनुभव करते हैं। शास्त्रों के प्रस्तुत अर्थ का ज्ञान प्राप्त कराने के लिए वे निक्षेप पद्धति से शब्द के सभी सम्भावित अर्थ बताते हैं और अप्रस्तुत अर्थों का निराकरण कर केवल प्रस्तुत अर्थ को स्वीकार करने की प्रेरणा प्रदान कर तथा तत्सम्बन्धी विषय उल्लेखनीय बातों का प्रतिपादन कर व्याख्यापूर्ण कर देते हैं।

---

1 आव० नि० गा० 84–85।

2 आचार्य भद्रबाहु सम्बन्धी उक्त सभी तथ्य मुनि पुण्यविजयजी के महावीर जैन विद्यालय के रजत महोत्सव अंक (पृ 185) में प्रकाशित लेख के आधार पर लिखे गए हैं। उनका आभार मानता हूँ।

सामान्य क्रम वैसा ही है जैसा कि ऊपर प्रतिपादित किया गया है तथापि आवश्यक निर्युक्ति उनकी सर्वप्रथम निर्युक्ति है अतः उसमें कुछ विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इस निर्युक्ति में उन विशेषताओं को इसलिए स्थान दिया गया है कि वह सभी निर्युक्तियों के लिए उपयोगी सिद्ध हो तथा उसकी पुनरावृत्ति न करनी पड़े। भारतीय संस्कार के अनुसार शुभ कार्य का प्रारम्भ मंगल से होता है। अतः आचार्य भद्रबाहु ने भी आवश्यक निर्युक्ति में पाँच ज्ञान रूप मंगल की विस्तारपूर्वक व्याख्या कर मंगलाचरण किया है। साथ ही उन्होंने यह भी संकेत किया है कि ज्ञान क्रम के अनुसार किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा गुण की महत्ता अधिक है। पीठिका ग्रन्थ स्वरूप (प्रस्तावना रूप) इस मंगल कार्य को करने के बाद आचार्य ने मत व्यक्त किया है कि इन पाँच ज्ञानों में श्रुतज्ञान का ही अधिकार प्रस्तुत है क्योंकि यही एक ऐसा ज्ञान है जो दीपक के समान स्व पर प्रकाशक है। अतः श्रुतज्ञान के द्वारा ही अन्य सम्यक् ज्ञानों का और स्वयं श्रुत का भी निरूपण हो सकता है।[1]

इसी पीठिका बनाकर उन्होंने उपोद्घात की रचना के लिए कुछ प्रासंगिक बातें लिखी हैं। उसमें उन्होंने सर्वप्रथम सामान्य रूप से सभी तीर्थंकरों को नमस्कार करने के बाद भगवान महावीर को नमस्कार किया है क्योंकि उनका तीर्थ-शासन आजकल प्रवर्तमान है। भगवान महावीर के उपदेश को धारण कर जिन्होंने प्रथम बार उसे प्रवाहित गणधरों को नमस्कार कर [illegible]

वश को नमस्कार किया है[1] और अन्त में यह प्रतिज्ञा की है कि इन्होंने श्रुत का जो अर्थ बताया है वे उसकी नियुक्ति अर्थात् श्रुत के साथ अर्थ की योजना करेंगे। उन्होंने प्रारम्भ में यह भी सकेत कर दिया है कि वे कौन कौन से श्रुत के अर्थ की योजना करने का विचार रखते हैं। उन श्रुतों के नाम ये हैं—1 आवश्यक 2 दशवैकालिक 3 उत्तराध्ययन 4 आचाराग 5 सूत्रकृताग 6 दशाश्रुतस्कन्ध[3] 7 कल्प बृहत्कल्प 8 व्यवहार 9 सूर्य प्रज्ञप्ति 10 ऋषिभाषित।

रचना क्रम

मेरा अनुमान है कि उन्होंने जिस क्रम से आवश्यक नियुक्ति में ग्रन्थों का उल्लेख किया है उसी क्रम से उनकी-नियुक्तियों की रचना की होगी। इस बात का समर्थन निम्न लिखित कतिपय प्रमाणों से होता है —

1 उत्तराध्ययन नियुक्ति में विनय की नियुक्ति करते हुए कहा गया है कि इस विषय में पहले लिखा जा चुका है[4] यह बात दशवैकालिक के विनय समाधि नामक अध्ययन की नियुक्ति को लक्ष्य में रखकर लिखी गयी है। इससे सिद्ध होता है कि उत्तराध्ययन नियुक्ति से पहले दशवैकालिक नियुक्ति की रचना हो चुकी थी।

2 कामा पुव्वद्दिट्ठा—उत्तराध्ययन नियुक्ति गा० 208 से सकेत किया है कि काम के विषय में पहले विवेचन हो चुका है। यह दशवैकालिक नियुक्ति 161 में है। अत उत्तराध्ययन नियुक्ति से पहले दशवैकालिक नियुक्ति की रचना हुई।

3 उत्तराध्ययन नियुक्ति की—100वी गाथा आवश्यक नियुक्ति में से वसी की वसी उद्धरित की गई है (आवश्यक नियुक्ति 1279)।

4 आवश्यक नियुक्ति में निह्नववाद सम्बन्धी जो गाथाएं हैं (778 से) वे सभी सामान्यत उसी रूप में उत्तराध्ययन में ली गई हैं (नि० गा० 164 से)। इससे और आवश्यक नियुक्ति के प्रारम्भ की प्रतिज्ञा से भी सिद्ध होता है कि उत्तराध्ययन नियुक्ति से पहले आवश्यक नियुक्ति बन चुकी थी।

5 आचाराग नियुक्ति 5 में कहा है कि आचार और अग के निक्षेप का कथन पहले हो चुका है। इससे दशवैकालिक नियुक्ति तथा उत्तराध्ययन नियुक्ति की रचना आचाराग नियुक्ति से पहले सिद्ध होती है। कारण यह है कि दशवैकालिक के क्षुल्लिकाचार अध्ययन की नियुक्ति में आचार की तथा उत्तराध्ययन के चतुरग अध्ययन की नियुक्ति में अग की जो नियुक्ति की गई है आचार्य ने उसी का उल्लेख किया है।

6 इसी प्रकार आचाराग नियुक्ति 176 में कहा है कि लोगो भणिओ। इससे भी आवश्यक नियुक्ति के नागस्स पाठ की नियुक्ति का निर्देश है।

---

1 आव० नि गा० 82
2 आव नि० गा 83
3 आव० नि० गा० 84–86
4 उत्त० नि 29 विणओ पुव्वद्दिट्ठो

सामायिक श्रुत का अधिकारी होता है वही कभी क्रमेण विकास मार्ग का आश्रय लेकर तीर्थंकर बन सकता है और सुने हुए ज्ञान को साक्षात् ज्ञान में परिणत करने के पश्चात् अपना शासन स्थापित करने में सफल होता है तथा जिन प्रवचन को उत्पन्न कर सकता है।

इस पद्धति से जिन प्रवचन की उत्पत्ति के सामान्य क्रम का उल्लेख कर जिन प्रवचन सूत्र तथा अर्थ अर्थात् अनुयोग के पर्याय संगृहीत किए गए हैं जो ये हैं[1]—

प्रवचन—श्रुत धर्म तीर्थ मार्ग ये पर्यायवाची हैं।

सूत्र—तंत्र ग्रंथ पाठ शास्त्र ये पर्यायवाची हैं।

अनुयोग—नियोग भाष्य विभाषा वार्तिक ये पर्यायवाची हैं।

उपोद्घात

अनुयोग तथा अननुयोग का सोदाहरण विशेष सहित विवरण करने के बाद भाषा विभाषा और वार्तिक के भेद दृष्टान्त सहित स्पष्ट किए[3] गए हैं। व्याख्यान विधि का विवेचन करते हुए आचार्य तथा शिष्य की योग्यता का सदृष्टान्त निरूपण[4] किया गया है।

इतना प्रासंगिक चर्चा करने के उपरान्त आचार्य सामायिक अध्ययन के उपोद्घात की रचना करते हैं। अर्थात् उन्होंने सामायिक सम्बन्धी कुछ प्रश्न उठाए हैं और उनकी चर्चा द्वारा उन सम्बन्धित विषयों का निरूपण किया है जिनका ज्ञान सामायिक के सूत्र-पाठ की व्याख्या करने से पहले होना आवश्यक है। आजकल किसी भी पुस्तक की प्रस्तावना में जिन बातों की चर्चा आवश्यक होती है वैसी ही बातों की चर्चा आचार्य ने उपोद्घात में की है जो इस प्रकार है —

1 उद्देश—जिसकी व्याख्या करनी हो उसका सामान्य कथन, जैसे कि अध्ययन। 2 निर्देश—जिसकी व्याख्या करनी हो उसका विशेष कथन जैसे कि सामायिक। 3 निर्गम—व्याख्येय वस्तु का निर्गम सामायिक का आविर्भाव किस से हुआ? 4 क्षेत्र—उसके क्षेत्र-देश की चर्चा। 5 काल—उसके समय की चर्चा। 6 पुरुष—किस पुरुष से इस वस्तु की प्राप्ति हुई? 7 कारण चर्चा। 8 प्रत्यय—श्रद्धा की चर्चा। 9 लक्षण चर्चा। 10 नय विचार। 11 समवतार—नयों की अवतारणा। 12 अनुमत—व्यवहार निश्चय की दृष्टि से विचार। 13 किम—यह क्या है? 14 उसके भेद कितने हैं? 15 किसकी है? 16 कहाँ है? 17 किसमें है? 18 किस तरह प्राप्त होती है? 19 कितने समय स्थिर रहती है? 20 किसे प्राप्त करता है? 21 किस काल में किसे है? 22 अधिकारी कौन कितना है? 23 किसने अब तक प्राप्त करता है? 24 कितनी बार बार करता है? 25 किसने सत्य का स्पर्श करता है? और 26 निरुक्ति।

---

1 अनु० नि० गा० 130-131

2 अनु० नि० गा० 132-134

3 अनु० नि० गा० 135

4 अनु० नि० गा० 136-139

5 अनु० नि० गा० 140-141

भगवान ऋषभदेव—परिचय

निगम के विवरण में आचार्य ने उद्देशादि के समान निर्गम के भी सामायिक छह निक्षेप[1] करके उनके अनेक भेद बताए हैं। इस प्रसंग पर यह भी लिखा है कि भगवान महावीर का मिथ्यात्वादि से निगम —निकलना किस प्रकार हुआ? इस संबंध में भगवान् महावीर के पूर्व भवों की चर्चा करते हुए भगवान् ऋषभदेव के युग से पूर्ववर्तीन कुलकरों के समय से आचार्य ने इतिहास प्रारम्भ किया है।[2] उनमें कुलकर[3] के पूर्वभव जन्म नाम प्रमाण संस्थान वर्ण उनकी स्त्रियाँ आयु पिता वंश की आयु में कुलकर बन मर कर कौन से भव में गए उनके समय की नीति-रीति विषयों की चर्चा की गई है। अंतिम कुलकर नाभि की पत्नी का नाम मरुदेवी था। विनीता भूमि में उनका निवास था। ऋषभदेव उनके पुत्र थे। ऋषभदेव पूर्वभव में वज्रनाभ नाम के राजा थे। उस भव में उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्म बांधा और वे सर्वार्थसिद्धि में देव हुए। वहाँ से च्युत होकर वे ऋषभदेव बने।[5] यहाँ पर ऋषभदेव के भी अनेक पूर्व भवों का वर्णन है।[6] जिन बीस कारणों के आधार पर उनके जीव ने तीर्थंकर नाम कर्म का बंधन किया उनके नाम का भी निर्देश है।[7] तीर्थंकर नाम कर्म सम्बन्धी कुछ और बातों का भी उल्लेख है।[8] इसके बाद ऋषभदेव के जीवन के विषय में निम्नलिखित बातों का वर्णन है —जन्म नाम वृद्धि जातिस्मरण विवाह संतान अभिषेक राज्य संग्रह।[9] तत्पश्चात् आचार्य ने आहार शिल्प कर्म परिग्रह विभूषा इत्यादि 40 विषयों की चर्चा द्वारा उस युग का चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करने का प्रयत्न किया है और बताया है कि उस युग के निर्माण में ऋषभदेव की क्या देन थी।[10] नियुक्ति में इन सब विषयों की चर्चा नहीं की गई केवल उनका निर्देश है। ऋषभदेव का चरित्र वर्णन करते हुए 24 तीर्थंकरों के चरित्र पर भी सामान्य अवमय संबोधन परित्याग इत्यादि 21 विषयों के आधार पर विचार किया गया है।[11] यह अत्यन्त संक्षिप्त रूप में 24 तीर्थंकरों के जीवन का सार दे दिया गया है। इन सब बातों का वर्णन क्यों करना पड़ा इस का पूर्वापर सम्बन्ध बताते हुए आचार्य ने कहा है कि सामायिक के निगम के विचार में भगवान महावीर के पूर्वभवों की चर्चा के अन्तर्गत उनके मरीचि जन्म का विचार आवश्यक था अतः भगवान

---

1 आव० नि० गा० 145
2 आव० नि० गा० 146
3 आव० नि० गा० 150
4 आव० नि० गा० 152
5 आव० नि० गा० 170
6 आव० नि० गा० 171–178
7 आव० नि० गा० 179–181
8 आव० नि० गा० 182–184
9 आव० नि० गा० 185–202
10 आव० नि० गा० 203 से
11 आव० नि० गा० 209–312

। यज्ञवाटिका के उत्तर में एकान्त स्थान में देवेन्द्र व दानव ने जिनेन्द्र की कर रहे थे।[1] आचार्य ने समवसरण का भी विस्तृत वर्णन किया है।

घोष का श्रवण कर यज्ञवाटिका में बैठे हुए लोगों को प्रसन्नता हुई कि उनके होकर देवता आ रहे हैं। भगवान के 11 गणधर उस यज्ञवाटिका में आए हुए उच्चकुल के थे। आचार्य ने उनके नाम भी गिनाए हैं। उन्होंने दीक्षा क्यों ली? क्या-क्या संशय थे? उनके शिष्यों की संख्या कितनी थी? इन सब बातों का भी है।[3]

किन्तु जब उन्हें ज्ञात हुआ कि देवता तो जिनेन्द्र का यशोगान कर रहे हैं तब अभिमानी क्रोध के साथ भगवान महावीर के पास आया। भगवान ने उसे नाम गोत्र से बुलाया। उसके मन में विद्यमान संशय का कथन करके कहा कि तुम वेद पदों का अर्थ नहीं तुम्हें उनका सच्चा अर्थ बताता हूँ। जब उसके संशय का निवारण हो गया तब ने पाँच सौ शिष्यों के साथ दीक्षा ली। इसी प्रकार अन्य गणधरों की दीक्षा हुई।[4] ख के बाद आचार्य ने गणधरों के सम्बन्ध में कुछ बातें लिखी हैं।[5]

इस पद्धति से उपोद्घात निर्युक्ति के द्वारा में से निगम द्वार का वर्णन करते हुए यक के अर्थकर्ता तीर्थंकर और सूत्रकर्ता गणधरों के निगम का प्रतिपादन किया।[6] निगम के कालादि अन्य निक्षेपों की विवेचना है।[7] इस प्रसंग में विशेषतः आचार आदि दस प्रकार की सामाचारी की चर्चा विस्तार पूर्वक की गई है।[8]

काल विवेचन में प्रश्न किया है कि प्रस्तुत क्या है? खेत्तम्मि कम्मि काले जिणवरिंदेण[9] (733) अर्थात किस क्षेत्र और किस काल में जिनवरेन्द्र ने (सामायिक किया? इसके उत्तर में कहा है कि वैशाख शुक्ल एकादशी के दिन पूर्वाह्न में स्थान में भगवान ने सामायिक को प्रकट किया। अर्थात इस क्षेत्र और इस समय सामायिक का मात्रात् निगम है। अन्य क्षेत्रों और काल में उसकी परम्परा में है।[10]

---

वि नि गा० 539–542
वि नि० गा० 543–590
गा 591–597
गा० 598–641
642–659
सूत्रप्रणेतारो तीर्थंकर गणधराणां निगम आव नि० हरि० टी०
(0 का उद्धरण।
660
66–723
13 (विशेषा 2082)
34 (विशेषा० 2083 2089)

यहाँ से भगवान् महावीर का चरित्र प्रारम्भ होता है। भाष्य में निर्देश किया है कि निम्न बातों का वर्णन किया जाएगा—1 स्वप्न 2 गर्भापहार 3 अभिग्रह 4 जन्म, 5 अभिषेक 6 वृद्धि 7 जातिस्मरण 8 देव द्वारा डराने का प्रयत्न 9 विवाह 10 अपत्य 11 दान 12 सम्बोधन 13 महाभिनिष्क्रमण[1]। महावीर ने माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् दीक्षा ली। साढ़े बारह वर्ष तक परीषह सहन करने के बाद वे भगवान् के पास से विहार आया। इसकी भी सूचना निर्युक्ति में है। कोल्लाक सन्निवेश में ब्राह्मण बहुल द्वारा पारणे के निमित्त वसुधारा[2] का उल्लेख है। महावीर अपने पिता के मित्र सुवर्ण की कुटी में भी रहे। वहाँ उन्होंने पाँच तीव्र अभिग्रह-प्रतिज्ञाएँ स्वीकार की—1 जहाँ रात्रि में मकान का मालिक नाराज हो वहाँ नहीं रहना 2 प्रायः कायोत्सर्ग अवस्था में रहना 3 प्रायः मौन रहना 4 भिक्षा हाथ में ही लेना पात्र में नहीं और 5 गृहस्थ की वन्दना नहीं करना।[4] कोल्लाक सन्निवेश से प्रस्थान कर उन्होंने अस्थिग्राम में चातुर्मास किया। वहाँ शूलपाणि का उपद्रव[5] हुआ, उसने अनेक भयंकर उपसर्ग किए और अन्त में हार मानकर उसने भगवान् की स्तुति की।[6]

भगवान् के साधनाकालीन[7] विहार में उनसे गोशालक मिला। निर्युक्ति में गोशालक के पराक्रम (?) भगवान् के उग्र परीषह उपसर्ग तथा मान का वर्णन कर बताया गया है कि उन्हें जृम्भिक गाँव के बाहर ऋजुवालुका नदी के तट पर वैयावृत्य यक्ष के निकट श्यामाक गृहपति के क्षेत्र में शाल वृक्ष के नीचे षष्ठभक्त के तप की अवस्था में उकडू आसन की स्थिति में केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।[8]

इसके बाद आचार्य ने भगवान की सम्पूर्ण तपस्या का उल्लेख किया[9] है और कहा है कि उन की छद्मस्थ पर्याय बारह वर्ष और साढ़े छह महीने की थी।[10]

**गणधर प्रसंग**

केवलज्ञान होने के उपरान्त भगवान महावीर रात के समय मध्यमापावा नगरी के निकट में स्थित वन के उद्यान में पहुँच गए। वहाँ दूसरा समवसरण हुआ। सोमिलार्य नाम के ब्राह्मण के घर यज्ञ (सस्कार विशेष) के अवसर पर यज्ञवाटिका में एक विशाल सम्मेलन

---

1 आव० नि० गा० 458
2 आव० नि० गा० 459-460
3 आव० नि० गा० 461
4 आव० नि० गा० 462-463
5 आव० नि० गा० 464
6 आव० नि० गा० 464
7 आव० नि० गा० 464-525
8 आव० नि० गा० 472-526
9 आव० नि० गा० 527-536
10 आव० नि० गा० 537-538

एकत्रित हुआ था। यज्ञवाटिका के उत्तर में एकान्त स्थान में देवेन्द्र व लोकपाल ने जिन की महिमा का गान कर रहे थे।[1] आचार्य ने समवसरण का भी विस्तृत वर्णन किया है।[2]

दिव्य घोष का श्रवण कर यज्ञवाटिका में बैठे हुए लोगों को प्रसन्नता हुई कि उनके यज्ञ से आकृष्ट होकर देवता आ रहे हैं। भगवान् के 11 गणधर उस यज्ञवाटिका में आए हुए थे। वे सभी उच्चकुलीन थे। आचार्य ने उनके नाम भी गिनाए हैं। उनका गोत्र क्या था? उनके मन में क्या-क्या संशय थे? उनके शिष्यों की संख्या कितनी थी? इन सब बातों का भी वर्णन किया है।[3]

किन्तु जब उन्हें ज्ञात हुआ कि देवता तो जिनेन्द्र का यशोगान कर रहे हैं तब अभिमानी इन्द्रभूति क्रोध के साथ भगवान महावीर के पास आया। भगवान् ने उसे नाम-गोत्र से बुलाया। भगवान ने उसके मन में विद्यमान संशय का कथन करके कहा कि तुम वेद पदों का अर्थ नहीं जानते हैं तुम्हें उनका सच्चा अर्थ बताता हूँ। जब उसके संशय का निवारण हो गया तब उसने अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ दीक्षा ले ली। इसी प्रकार अन्य गणधरों की दीक्षा हुई।[4] इस उल्लेख के बाद आचार्य ने गणधरों के सम्बन्ध में कुछ बातें लिखी हैं।[5]

**शेष द्वार**

इस पद्धति से उपोद्घात निर्युक्ति के द्वारों में से निगम द्वार का वर्णन करते हुए सामायिक के अर्थकर्ता तीर्थंकर और सूत्रकर्ता गणधरों के निगम का प्रतिपादन किया।[6] तत्पश्चात् निगम के कालादि अन्य विषयों की विवेचना है।[7] इस प्रसंग में विनय इच्छाकार मिथ्याकार आदि इस प्रकार की सामाचारी की व्याख्या विस्तार पूर्वक की गई है।[8]

क्षेत्र काल विवेचन में प्रश्न किया है कि प्रस्तुत क्या है? खेत्तम्मि कम्मि काले विभासिय जिणवरिंदेण[9] (733) अर्थात किस क्षेत्र और किस काल में जिनवरेन्द्र ने (सामायिक का) प्रकट किया? इसके उत्तर में कहा है कि वैशाख शुक्ला एकादशी के दिन पूर्वाह्न में महासेन उद्यान में भगवान ने सामायिक को प्रकट किया। अर्थात इस क्षेत्र और इस समय में (सामायिक का) साक्षात निगम है। अन्य क्षेत्रों और काल में उसका परम्परा से निगम है।[10]

---

1 आव० नि० गा० 539–542
2 आव० नि० गा० 543–590
3 आव० नि० गा० 591–597
4 आव० नि० गा० 598–641
5 आव० नि० गा० 642–659
6 उक्त सामायिकाद्यसूत्रप्रणेतृणां तीर्थकर गणधराणां निगम आव० नि० हरि० टी० पृ० 257 गा० 660 का उद्धरण।
7 आव० नि० गा० 660
8 आव० नि० गा० 666–723
9 आव० नि० गा० 733 (विशेषा० 2082)
10 आव० नि० गा० 734 (विशेषा० 2083 2089)

[illegible]

[illegible]

[illegible]

सामायिक

इतनी प्रासंगिक चर्चा करने के पश्चात् अनुमत[1] द्वार की व्याख्या करके आचार्य ने सामायिक क्या है?[2] इस द्वार की चर्चा प्रारम्भ की है। यहाँ नय-दृष्टि से सामायिक पर विचार किया गया है। सामायिक के भेदों पर विचार करते हुए उसके तीन भेद बताए गए हैं — सम्यक्त्व, श्रुत, चारित्र।[3] सामायिक किसकी होती है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में रमण करती है उसी को सामायिक है। जो सब जीवों के प्रति सम भाव रखता है उसकी सच्ची सामायिक है।[4] तत्पश्चात् सामायिक के कारण-आचरण का उपदेश दिया गया है।[5] सामायिक कहाँ है? इस प्रश्न के उत्तर में क्षेत्र आदि अनेक द्वारों पर विचार किया गया है।[6] किसमें है?[7] इस पर विचार प्रकट कर आचार्य ने यह भी उल्लेख किया है कि वह किस प्रकार प्राप्त होती है?[8] और साथ ही मनुष्य भव की दुर्लभता का दृष्टान्त सहित विवेचन किया है।[9] श्रुत की दुर्लभता[10] और बोधि-सामायिक की दुर्लभता का भी वर्णन किया गया है और उसकी प्राप्ति का क्रम सदृष्टान्त स्पष्ट किया गया है।[11] वह कब तक स्थिर रहती है? इत्यादि[12] प्रश्नों का समाधान कर, सामायिक के सम्यक्त्व आदि भेदों के पर्यायों का संग्रह[13] कर तथा उपोद्घात निर्युक्ति के निरुक्ति नामक अन्तिम द्वार का विवेचन कर उन आठ प्रसिद्ध महापुरुषों के उदाहरण दिए गए गए हैं जिन्होंने सामायिक का पालन करके महर्षि पद को प्राप्त किया।[14] उन्हें नमस्कार करने के बाद उपोद्घात निर्युक्ति का प्रकरण समाप्त हो जाता है।

उपसंहार

उपोद्घात निर्युक्ति के उक्त विषयानुक्रम को सविस्तार इसलिए प्रतिपादित किया गया है कि पाठक यह बात समझ सकें कि आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक के उपोद्घात के व्याज से

---

1 आव० नि० गा० 789
2 790 794
3 795
4 796 97
5 799 803
6 804-829
7 830
8 831
9 832 40
10 841 843
11 844 48
12 849 60
13 861 864
14 865 879

वर्णन समस्त तीर्थंकरों का उन्होंने किया है। [illegible] उन सब विषयों का [illegible] समावेश कर लिया है। [illegible] निर्युक्तियों में इन विषयों की पुनरावृत्ति नहीं की गई है। आवश्यक निर्युक्ति के कथन उस प्रकार ही हैं जो अन्य निर्युक्तियों में हैं कि उनकी कई गाथाएँ अन्य निर्युक्तियों में समानतया पाई जाती हैं। मूल आवश्यक सूत्र का परिमाण अन्य सूत्रों की अपेक्षा बहुत ही कम है तथापि उसकी [illegible] निर्युक्ति का ही प्रणयन अनेक सम्पूर्ण निर्युक्तियों के परिमाण में बढ़ कर आता है। इससे स्पष्ट होता है कि सर्वत्र उपयोगी होने के कारण इस उपोद्घात का विस्तार होता गया होगा।

शास्त्रों की उत्पत्ति कैसे हुई? यह बताने के लिए आचार्य जैन परम्परा के मूल तक पहुँचे हैं। उन्होंने न केवल भगवान महावीर के अपितु भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त जैन परम्परा के समग्र इतिहास का उल्लेख किया है। भगवान महावीर किस क्रम से तीर्थंकर बने यह बात बताने के उद्देश्य से [illegible] अन्तिम जीवन का ही वर्णन नहीं किया प्रत्युत भगवान ऋषभदेव से भी पहले के युग में भगवान महावीर के पूर्वभवों की शोध की है और अन्त में उनके तीर्थंकर बनने तक के आरोह अवरोह का इतिहास उपलब्ध साहित्य की दृष्टि से क्रमबद्ध करने का सर्वप्रथम प्रयत्न किया है। वस्तुतः उपलब्ध जैन साहित्य में जैन परम्परा का सर्वप्रथम सुव्यवस्थित इतिहास लिखने का श्रेय आचार्य भद्रबाहु को है। उनकी निर्युक्ति में उपलब्ध तथ्यों के आधार पर ही उत्तरकालीन समस्त साहित्य में जैन परम्परा की इतिहास सम्बन्धी बातों का वर्णन किया गया है। उनके द्वारा प्रतिपादित तथ्यों के आधार से (शेष में) कवियों ने रस भर कर महापुरुषों तथा महाकाव्यों की रचना की है।

उन्होंने साम्प्रदायिक परम्परा के कुछ ऐसे तथ्य वर्णित किए हैं जो उनके ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होते। निह्नवों की चर्चा इसका एक उदाहरण है। यदि निर्युक्ति में इस विषय में विशेष वक्तव्य न होता तो निह्नवों सम्बन्धी सम्पूर्ण इतिहास अन्धकार में ही रहता। ऐसी अन्य अनेक चर्चाएँ हैं।

सम्प्रदाय प्रसिद्ध दृष्टान्त माला को एक दो गाथाओं में ही बद्ध कर देने की उनकी विशेषता प्रशंसनीय है। साथ ही वे सारी कथा का सारांश जिस प्रकार संक्षेप में लिख देते हैं वह उनकी अद्भुत कुशलता का उदाहरण है। उनकी लेखिनी में यह चमत्कार है कि जिस व्यक्ति ने वह कथा पूरी पढ़ी हो अथवा सुनी हो उसके सम्मुख एक या दो गाथाओं में ही सम्पूर्ण कथा का चित्र उपस्थित हो जाता है।

निर्युक्ति की व्याख्यान शैली का वर्णन करते हुए आचार्य ने स्वयं कहा है कि आहरणहेउकारणपदत्थिबहुनिस समासेण (गा० 86)। अर्थात इसमें दृष्टान्त पद हेतु पद तथा कारण पद का आश्रय लेकर संक्षिप्त निरूपण करना है। अन्यत्र भी आचार्य ने कहा है—

'जिणवयण सिद्ध चेव भण्णई कत्थवी उदाहरणं।
आसज्ज उ सोयारं हेऊवि कहंचि भणेज्जा ॥'

इसका तात्पर्य यह है कि भगवान ने जो उपदेश दिया वह तो सिद्ध ही है उसे अनुमान द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है तथापि श्रोता की दृष्टि को लक्ष्य में रखकर कहीं आवश्यक प्रतीत हो तो वहाँ दृष्टान्त का उपयोग करना चाहिए और श्रोता की योग्यता के अनुसार हेतु देकर भी समझाना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान के वचन का प्रामाण्य मान्य है अर्थात् वह स्वतन्त्र आगम प्रमाण है। उनके वचन में कई ऐसी बातें हो सकती हैं जो अनुमान या दृष्टान्त से सिद्ध न हो सकें। ऐसी बातें भी सम्भव हैं जो दृष्टान्त और हेतु द्वारा समझाई जा सकें। उनका यह आशय उनकी समस्त निर्युक्तियों में लक्षित होता है। जिस वस्तु को वे दृष्टान्त योग्य समझते थे उसका स्पष्टीकरण उन्होंने एक नहीं अनेक दृष्टान्तों द्वारा किया है। अनेक विषयों के सम्बन्ध में दृष्टान्त के साथ साथ हेतुओं का भी प्रतिपादन किया है। विषय को स्पष्ट करने के लिए उनकी अधिकतर उपमायें पूर्णोपमा होती हैं।

व्याख्या करने की उनकी विशेषता यह है कि वे पहले व्याख्येय विषय के द्वार निश्चित कर लिख देते हैं और तत्पश्चात् एक एक द्वार का स्पष्टीकरण करते हैं। द्वारों में विशेषण अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ नामादि निक्षेपों का आश्रय लिया गया है। व्याख्येय शब्द के पर्यायवाची शब्द अवश्य लिखे जाते हैं और शब्दार्थ के भेदों प्रकारों का भी उल्लेख किया जाता है। इन सब बातों के परिणामस्वरूप अत्यन्त संक्षेप में वस्तु सम्बन्धी सभी ज्ञातव्य बातें अनावश्यक विस्तार के बिना ही बताई जा सकती हैं।

शब्दों की व्युत्पत्ति अर्थ प्रधान और शब्द प्रधान दोनों प्रकार से करते हैं। यहाँ प्राकृत भाषा के शब्द व्याख्येय हैं उनकी व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य संस्कृत धातुओं से चिपके नहीं रहते वे प्रयत्न करते हैं कि शब्द को तोड़कर किसी भी प्रकार प्राकृत शब्द के आधार पर ही व्युत्पत्ति की जाए और उससे इष्ट अर्थ की प्राप्ति की जाए। इसके उदाहरण के लिए मिच्छा मि दुक्कड (गा० 686–87) की निर्युक्ति द्रष्टव्य है। आचार्य ने 'उत्तम' शब्द की जो व्युत्पत्ति की है वह मनस्वी होने के साथ साथ आध्यात्मिक अर्थ-युक्त होने के कारण रोचक प्रतीत होती है (आव० नि० गाथा 1100 दो) ऐसे अन्य अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं[1]।

आचार्य की किसी भी निर्युक्ति को देखने से यह बात शीघ्र ध्यान में आ जाती है कि आचार्य का जैन परिभाषा तथा परम्परा सम्बन्धी ज्ञान अत्यन्त सर्वस्पर्शी है। आचार्य ने जैन

---

1 मिच्छा मि दुक्कड इस पद में छह प्रकार हैं। उनमें मि का मृदुता छा का दोषाच्छादन मि का मर्यादा में रहते हुए दु का दोषयुक्त आत्मा की जुगुप्सा क का किया गया दोष और ड का प्रतिक्रमण अक्षरार्थ करके एक प्रकार से यह अर्थ सूचित किया है— नम्रता पूर्वक चारित्र की मर्यादा में रहकर दोष निवारण के निमित्त मैं आत्मा की जुगुप्सा करता हूँ। और किये गये पाप का इस समय [illegible]। जिस प्रकार निर्युक्ति ग्रन्थों में व्युत्पत्ति की गई है उसी [illegible]

आचार के [illegible] में [illegible] किया है इससे [illegible] [illegible] सकता है कि उन्होंने जैन [illegible] का भी [illegible] किया हुआ है।

इसी उपोद्घात निर्युक्ति में ही उन्होंने [illegible] की विस्तृत चर्चा आगे की जायगी। यह बात तो निश्चित है कि [illegible] विषयों का उल्लेख किया है उनमें उन सब सूत्र विषयों का समावेश हो जाता है जिनकी उस काल में आगमीय [illegible] में चर्चा होती थी। [illegible] उन्हीं गाथाओं के आधार वे वाक्य थे यह बात आचार्य ने निर्युक्ति में प्रतिज्ञा की है। इसका उल्लेख निर्युक्ति से पूर्व किसी भी ग्रन्थ में नहीं है। अतः [illegible] यह बात स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाते हैं कि ये उल्लेख आचार्य भद्रबाहु की प्रतिभा का ही परिणाम है।

उपोद्घात निर्युक्ति के उत्तरवर्ती आवश्यक निर्युक्ति ग्रन्थ में सूत्र का [illegible] करते हुए आवश्यक सूत्र के छः अध्ययनों की व्याख्या की गई है।

---

व्युत्पत्ति दृष्टिगोचर होती है। यहाँ इसका एक उदाहरण पर्याप्त होगा— अरिहन्त [illegible] जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में मान्य है। व्युत्पत्ति [illegible] निर्युक्ति ग्रन्थ में इसकी व्युत्पत्ति निम्नप्रकार से की है —

अरहन्त के लिए उपयोग में आने वाले अरिहन्त अरहन्त और अरहंत ये तीन शब्द दिये हैं। उनके प्रमाण में एक और दो अर्थों की उत्पत्ति की गई है।

(1) अरिहन्त अर्थात (अ) कर्म रूपी अरि को मारने–दूर करने से अरिहन्त (ब) कर्म रूपी अरि का हनन अर्थात हनन करने से अरिहन्त।

(2) अरहन्त–संसार रूपी चक्र के आरों का हनन करने से अरहन्त।

(3) अरहं—(अ) वस्त्रपात्रादि के दान के अर्ह योग्य होने से अरहं।

(ब) रहं —एकान्त में पाप का —नहीं करने से अरहं।

आरकता होता च रिपुमारीन सो मुनि।
हत संसार चक्कारा पच्चयाणेतचारहो।
न रहा करोति पापानि अरहं तेन वुच्चति।

जैन परम्परा में अरिहन्त और अरहन्त इन दो प्राकृत शब्दों के अतिरिक्त एक अरुहन्त शब्द भी उपलब्ध होता है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है —

अरुहं—अर्थात जो दुबारा न जन्म लेकर न हो वह अरुहन्त।

वैदिक परम्परा के व्युत्पत्ति प्रधान निरुक्त शास्त्र में भी ऐसी ही व्युत्पत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरणतः यास्क ने दुहिता (पुत्री) की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की है—

(1) दुर + हिता = जिसका हित साधन वर को बड़ा कठिन है।

(2) दूर + हिता = जो माता पिता आदि सम्बन्ध से दूर रहने पर ही हितावह है।

(3) दुह + हिता = जो सम्पत्ति धन वस्त्र आदि से माता पिता का दोहन करती है।

अन्य निर्युक्तियों में भी आवश्यक के समान आचार्य ने प्रारम्भ में इन उन मूल ग्रन्थों के प्रादुर्भाव की कथा का वर्णन किया है किन्तु यह वर्णन उसी ग्रन्थ में है जिसकी उत्पत्ति की कथा आवश्यक से भिन्न है। अन्यत्र अध्ययनों के नाम और विषयों का निर्देश कर उनकी निर्युक्ति का मूल स्थान या ग्रन्थ बताकर और प्रायः प्रत्येक अध्ययन के नाम का निर्देश कर व्याख्या की गई है। अध्ययन के अन्तर्गत किसी महत्त्वपूर्ण शब्द अथवा उसमें विद्यमान मौलिक भाव को लेकर आचार्य ने उसका अपने ढंग से विवेचन करके ही सन्तोष माना है। अन्य ग्रन्थों में आवश्यक के समान मूल स्पर्शी निर्युक्ति अत्यन्त अल्प दिखाई देती है। यही कारण है कि अन्य ग्रन्थों की निर्युक्ति का परिमाण मूल ग्रन्थ की अपेक्षा बहुत कम है। आवश्यक की स्थिति इससे विपरीत है।

## 5 आचार्य जिनभद्र

### पूर्व भूमिका

इस विश्व का मूल सत् है अथवा असत् है इस विषय में दो परस्पर विरोधी वादों का खण्डन मण्डन उपनिषदों में उपलब्ध होता है। त्रिपिटक तथा गणिपिटक—जैन आगम में भी विरोधी का खण्डन करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है अतः हम यह विश्वास कर सकते हैं कि, वाद विवाद का इतिहास अति प्राचीन है और उत्तरोत्तर उसका विकास होता रहा है। किन्तु दार्शनिक विवादों के इतिहास में नागार्जुन से लेकर धर्मकीर्ति के समय तक का काल ऐसा है जिसमें दार्शनिकों की वाद विवाद सम्बन्धी प्रवृत्ति तीव्रतम हो गई है। नागार्जुन वसुबन्धु और दिङ्नाग जैसे बौद्ध आचार्यों के तार्किक प्रहारों के बाद सभी दर्शनों पर सतत पड़े थे और उनके प्रतीकार के रूप में भारतीय दर्शनों में पुनर्विचार की धारा प्रवाहित हुई थी। न्यायदर्शन में वात्स्यायन और उद्योतकर वैशेषिक दर्शन में प्रशस्तपाद मीमांसा दर्शन में शबर और कुमारिल जैसे प्रौढ़ विद्वानों ने अपने दर्शनों पर होने वाले प्रहारों के प्रत्युत्तर दिए। यही नहीं उन्होंने इस व्याज से स्वदर्शन को भी नया आकाश प्रदान कर उसे सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। दार्शनिक विवादों के इस अखाड़े में जैन तार्किकों ने भी भाग लिया और अपने आगम के आधार पर जैन दर्शन को तर्क-पुरस्सर सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य उमास्वाति ने इस विवाद में तत्त्वार्थ सूत्र लिखने की प्रेरणा प्राप्त की परन्तु उन्होंने उन सब का खण्डन कर जैन दर्शन को स्वकीय रूप प्रदान करने का कार्य नहीं किया उन्होंने केवल जैन दर्शन के तत्त्वों को सूत्रात्मक शैली में उपस्थित किया और विवाद का काम बाद में होने वाले पूज्यपाद अकलंक सिद्धसेन गणि विद्यानन्द आदि टीकाकारों के लिए छोड़ दिया।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने इस विवाद में से जैन न्याय की आवश्यकता का अनुभव कर 'न्यायावतार' जैसी अत्यन्त संक्षिप्त कृति की रचना की और जैन-न्याय में महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाले अनेकान्तवाद के मूल में स्थित नयवाद का विवेचन करने के लिए सन्मतितर्क

आचार के गली कूचों में भ्रमण किया है इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है। यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने जैन तत्त्वज्ञान का भी पान किया हुआ है।

इसी उपोद्घात निर्युक्ति में ही उन्होंने गणधरवाद के बीज रख दिये हैं। इस विषय की विशेष चर्चा आगे की जायगी। यह बात तो निश्चित है कि गणधरों की शंकाओं के रूप में विषयों का उन्होंने निर्देश किया है उनमें उन सब महत्त्वपूर्ण विषयों का समावेश हो जाता है जिनकी उस काल में भारतीय दर्शनों में चर्चा होती थी। गणधर ब्राह्मण थे अतः उनकी शंकाओं के आधार वेद वाक्य थे यह बात आचार्य ने निर्युक्ति में प्रतिपादित की है। इससे उक्त निर्युक्ति से पूर्व किसी भी ग्रंथ में नहीं है। अतः विद्वान सहज ही यह बात स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाते हैं कि यह उल्लेख आचार्य भद्रबाहु की प्रतिभा का ही परिणाम है।

उपोद्घात निर्युक्ति के उत्तरवर्ती आवश्यक निर्युक्ति ग्रंथ में सूत्र का स्पर्श करते हुए आवश्यक सूत्र के छह अध्ययनों की व्याख्या की गई है।

---

व्युत्पत्ति दृष्टिगोचर होती है। यहाँ इसका एक उदाहरण पर्याप्त होगा— अरिहंत शब्द जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में सामान्य है। बुद्धघोष ने विसुद्धि मग्ग में उसकी व्युत्पत्ति निम्नप्रकार से की है —

अर्हत के लिए उपयोग में आने वाले अरिहंत, अरहंत और अरह ये तीन शब्द दिये हैं। उनके कारण को एक और से अर्थों की उपपत्ति की गई है।

(1) अरिहंत अर्थात (अ) कलेश रूपी अरि को आरात्—दूर करने से अरिहंत (आ) कलेश रूपी अरि का हनन अर्थात हनन करने से अरिहंत।

(2) अरहंत—संसार रूपी चक्र के आरों का हनन करने से अरहंत।

(3) अरह—(अ) चीवरादि के दान के अर्ह योग्य होने से अरह।

(आ) रह —एकान्त में पाप का—नहीं करने से अरह।

आरकानं हतत्ता च विवटं तेहि सो मुनि।
हतो संसार चक्कारो पच्चया नेचारहो।
न रहो करोति पापानि अरहं तेन वुच्चति।

जैन परम्परा में अरिहंत और अरहंत शब्द को प्राकृत रूपों के अतिरिक्त एक अर्थ में ही व्यवहार होता है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है —

अ र—अष्टविध कर्म शत्रु का नाश करने से अरहंत।

[illegible] परम्परा के [illegible] निरुक्त शास्त्र में भी अनेकों ही व्युत्पत्तियाँ [illegible] है। [illegible] (दिशा) की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की है—

(1) [illegible] दिशा दिन [illegible] का आश्रय करती है।

(2) [illegible] दिशा [illegible] में दूर रहने पर ही दिखाई देती है।

(3) [illegible] दूर [illegible] में [illegible] दिशा का दाहन करता है।

अन्य निर्युक्तियों में भी आवश्यक के समान आचार्य ने प्रारम्भ में इन उन मूल ग्रन्थों के प्रादुर्भाव की कथा का वर्णन किया है किन्तु यह वर्णन उसी ग्रन्थ में है जिसकी उत्पत्ति की कथा आवश्यक से भिन्न है। अन्यत्र अध्ययनों के नाम और विषयों का निर्देश कर उनकी निर्युक्ति का मूल स्थान या ग्रन्थ बताकर और प्रायः प्रत्येक अध्ययन के नाम का निर्देश कर व्याख्या की गई है। अध्ययन के अन्तर्गत किसी महत्वपूर्ण शब्द अथवा उसमें विद्यमान मौलिक भाव को लेकर आचार्य ने उसका अपने ढंग से विवेचन करके ही सन्तोष माना है। अन्य ग्रन्थों में आवश्यक के समान सूत्र स्पर्शी निर्युक्ति अत्यन्त अल्प दिखाई देती है। यही कारण है कि अन्य ग्रन्थों की निर्युक्ति का परिमाण मूल ग्रन्थ की अपेक्षा बहुत कम है। आवश्यक की स्थिति इससे विपरीत है।

## 5 आचार्य जिनभद्र

### पूर्व भूमिका

इस विश्व का मूल सत् है अथवा असत् है इस विषय में दो परस्पर विरोधी वादों का खण्डन मण्डन उपनिषदों में उपलब्ध होता है। त्रिपिटक तथा गणिपिटक—जैन आगम में भी विरोधी का खण्डन करने की प्रवृत्ति दृग्गोचर होती है अतः हम यह विश्वास कर सकते हैं कि, वाद विवाद का इतिहास अति प्राचीन है और उत्तरोत्तर उसका विकास होता रहा है। किन्तु दार्शनिक विवादों के इतिहास में नागार्जुन से लेकर धर्मकीर्ति के समय तक का काल ऐसा है जिसमें दार्शनिकों की वाद विवाद सम्बन्धी प्रवृत्ति तीव्रतम हो गई है। नागार्जुन वसुबन्धु और दिङ्नाग जैसे बौद्ध आचार्यों के तार्किक प्रहारों के बाद सभी दर्शनों पर सतत पड़ रहे थे और उनके प्रतीकार के रूप में भारतीय दर्शनों में पुनर्विचार की धारा प्रवाहित हुई थी। न्यायदर्शन में वात्स्यायन और उद्योतकर वैशेषिक दर्शन में प्रशस्तपाद मीमांसा दर्शन में शबर और कुमारिल जैसे प्रौढ़ विद्वानों ने अपने दर्शनों पर होने वाले प्रहारों के प्रत्युत्तर दिए। यही नहीं उन्होंने इस व्याज से स्वदर्शन को भी नया प्रकाश प्रदान कर उन्हें सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। दार्शनिक विवादों के इस अखाड़े में जैन तार्किकों ने भी भाग लिया और अपने आगम के आधार पर जैन दर्शन को तर्क पुरस्सर सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य उमास्वाति ने इस विवाद से तत्त्वार्थ सूत्र लिखने की प्रेरणा प्राप्त की परन्तु उन्होंने उन सब का खण्डन कर जैन दर्शन को स्वकीय रूप प्रदान करने का कार्य नहीं किया उन्होंने केवल जैन दर्शन के तत्त्वों को सूत्रात्मक शैली में उपस्थित किया और विवाद का काम बाद में होने वाले पूज्यपाद अकलंक सिद्धसेन गणि विद्यानन्द आदि टीकाकारों के लिए छोड़ दिया।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने इस विवाद में से जैन न्याय की आवश्यकता का अनुभव कर 'न्यायावतार' जैसी अत्यन्त संक्षिप्त कृति की रचना की और जैन-न्याय में महत्वपूर्ण स्थान रखने वाले अनेकान्तवाद के मूल में स्थित नयवाद का विवेचन करने के लिए सन्मतितर्क

मूल स्थान भी पश्चिम [illegible] में ही है अतः हम [illegible] यह [illegible] कर सकते हैं कि प्रथम शताब्दी के बाद जैन साधुओं का विहार विशेषतः पश्चिम में हुआ। जैन [illegible] में वलभी नगरी का महत्त्व उसके नष्ट होने तक रहा है और उसके [illegible] होने के बाद वलभी के निकटवर्ती पालीताना आदि नगर जैन धर्म के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहे हैं।

आचार्य जिनभद्र कृत विशेषावश्यक भाष्य की प्रति शक संवत् 531 में लिखी गई और वलभी के किसी जैन मन्दिर को समर्पित की गई। इससे ज्ञात होता है कि वलभी नगरी में आचार्य जिनभद्र का कोई सम्बन्ध होना चाहिये। अतः हम यह अनुमान मान कर सकते हैं कि वलभी और उसके आसपास उनका विहार हुआ होगा।

विविधतीर्थकल्प में मथुरा कल्प के प्रसंग में आचार्य जिनप्रभ ने लिखा है कि—आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण ने मथुरा में देवनिर्मित स्तूप के देव की एक पक्ष की तपस्या कर आराधना की और दीमक द्वारा खाए हुए महानिशीथ सूत्र का उद्धार किया[1]। इससे यह तथ्य ज्ञात होता है कि जिनभद्र ने वलभी के उपरान्त मथुरा में भी विचरण किया था और उन्होंने महानिशीथ सूत्र का उद्धार किया था।

अभी कुछ ही समय पूर्व अकोटा (प्राचीन अकोटा गांव) से प्राप्त हुई प्राचीन जैन मूर्तियों का अध्ययन करते हुए श्री उमाकान्त प्रेमानन्द शाह को दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतिमाएं मिली हैं। उन्होंने जैन सत्यप्रकाश (अंक 196) में उन मूर्तियों का परिचय दिया है। कला तथा लिपि विद्या के आधार पर उन्होंने इन्हें ई. सन 550 से 600 तक के काल में रखा है। उन्होंने यह भी निश्चय किया है कि इन मूर्तियों के लेख में जिन आचार्य जिनभद्र का नाम है वे क्षमाश्रमण (पद्मासन) के पृष्ठ भाग में "आ स्वधर्मीय निवतिकुल जिनभद्रवाचनाचार्यस्य" ऐसा लेख है और दूसरी मूर्ति के भामण्डल में "आ निवतिकुल जिनभद्रवाचनाचार्यस्य" यह लेख उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त वर्णन से निश्चयरूपेण ये तीन नई बातें ज्ञात होती हैं—आचार्य जिनभद्र ने इन मूर्तियों की प्रतिष्ठित किया होगा उनके कुल का नाम निवति कुल था और वे वाचनाचार्य कहलाते थे। इसमें एक तथ्य यह भी फलित होता है कि वे चैत्यवासी थे[2] क्योंकि लेख में लिखा है कि जिनभद्र वाचनाचार्य का। इस तथ्य को इस कारण विचाराधीन समझना चाहिए

---

1 इत्थ देवनिम्मियथूभे पक्खक्खमणेण देवय आराहित्ता जिणभद्दखमासमणेहिं उद्धरिया

2 श्री शाह की वाचना प्रामाणिक है और उनका लिपि के समय का अनुमान भी ठीक है। इस बात का समर्थन बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के प्राचीन लिपि विशारद प्रो० कृष्णदेव ने भी किया है अतः इसमें शंका का अवकाश नहीं है।

3 श्री शाह ने भी यह मान लिया है, परन्तु कारण अन्य बताया है।

कि इस विषय में इस लेख के अतिरिक्त अन्य प्रमाण नहीं मिल सकता। पुरातन व मुनियों अराधुक व मिला है अतः यह अनुमान भी संभव है कि बलभी के निकटवर्ती उस काल में अन्य के आस पास भी उनका प्रभाव था और आचार्य जिनभद्र का इस ओर भी विहार हुआ होगा।

इस लेख में आचार्य जिनभद्र को क्षमाश्रमण नहीं कहा गया है किन्तु वाचनाचार्य कहा है। इस विषय में कुछ विचार करना आवश्यक है। परम्परा के अनुसार वाचक क्षमाश्रमण दोनों शब्द एकार्थक माने गए हैं[1]। वाचक और वाचनाचार्य भी एकार्थक हैं अतः परम्परा के अनुसार वाचनाचार्य और क्षमाश्रमण शब्द एक ही अर्थ के सूचक हैं। फिर भी यह विचार करने योग्य बात है कि ये शब्द एकार्थक क्यों माने गए? आचार्य जिनभद्र ने स्वयं वाचनाचार्य पद का उल्लेख किया है तथापि उनकी विशेष प्रसिद्धि क्षमाश्रमण के नाम से क्यों है? इस प्रश्न का उत्तर कल्पना के आधार पर देना चाहें तो दिया जा सकता है।

प्रारम्भ में वाचक शब्द शास्त्रविशारद के लिए विशेष प्रचलित था परन्तु जब वाचकों में क्षमाश्रमणों की संख्या बढ़ी गई तब क्षमाश्रमण शब्द भी वाचक के पर्याय रूप में प्रसिद्ध हो गया अथवा क्षमाश्रमण शब्द से दशवैकालिक सूत्र में साधु के गुणों के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है अतः सम्भव है कि शिष्य विद्या-गुरु को क्षमाश्रमण के नाम से सम्बोधित करते रहे हों इसलिए यह स्वाभाविक है कि क्षमाश्रमण वाचक का पर्याय बन जाए। जब समाज में जब वाचकों की प्रतिष्ठा स्थापित हुई तब शास्त्र वैशारद्य के कारण वाचकों का ही अधिकतर भाग था। नाम से विख्यात हुआ होगा अतः कालान्तर में वाचकों का भी वाचक का ही पर्यायवाची बन जाना स्वाभाविक है। सिद्धसेन जैसे शास्त्रविशारद विद्वान् अपने को दिवाकर कहलाते होंगे अथवा उनके साथियों ने उन्हें दिवाकर की पदवी दी होगी इसलिए वाचक के पर्यायों में दिवाकर को भी स्थान मिल गया। आचार्य जिनभद्र का युग क्षमाश्रमणों का युग रहा होगा अतः सम्भव है कि उनके बाद के लेखकों ने उनके लिए वाचनाचार्य के स्थान पर क्षमाश्रमण पद का उल्लेख किया हो।

आचार्य जिनभद्र का कुल निवृति कुल था यह तथ्य उक्त लेख के अतिरिक्त अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। भगवान् महावीर के 17वें पट्ट पर आचार्य वज्रसेन हुए थे। उन्होंने सोपारक नगर के सेठ जिनदत्त और सेठानी ईश्वरी के चार पुत्रों को दीक्षा दी थी। उनके नाम थे—नागेन्द्र, चन्द्र, निवृति और विद्याधर। भविष्य में इन चारों के नाम से भिन्न भिन्न चार परम्पराएं चलीं और वे नागेन्द्र, चन्द्र, निवृति तथा विद्याधर कुलों के नाम से प्रसिद्ध हुईं। उक्त सूचि लेख के आधार पर यह सिद्ध होता है कि आचार्य जिनभद्र निवृति कुल में हुए। महापुरुष चरित्र नामक प्राकृत ग्रन्थ के लेखक शीलाचार्य उपमिति भव प्रपंचा-कथा के लेखक

---

1 कहावली का उद्धरण देखें—स अंक 1।

2 खरतर गच्छ की पट्टावली पृष्ठ 669। निवृति शब्द के निवृति निवृत्ति ये भिन्न गोत्र होते हैं

मूल स्थान भी पश्चिम [illegible] में ही है अतः हम सहज ही यह अनुमान कर सकते हैं कि प्रथम शताब्दी के बाद जैन साधुओं का विहार विशेषतः पश्चिम में हुआ। जैन दृष्टि से वलभी नगरी का महत्त्व उसके नष्ट होने तक रहा है और उसके नष्ट होने के बाद वलभी के निकटवर्ती पालीताना आदि नगर जैन धर्म के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहे हैं।

आचार्य जिनभद्र कृत विशेषावश्यक भाष्य की प्रति शक संवत् 531 में लिखी गई और वलभी के किसी जैन मन्दिर को समर्पित की गई। इससे ज्ञात होता है कि वलभी नगरी से आचार्य जिनभद्र का कोई सम्बन्ध रहा होना चाहिये। इससे हम यह अनुमान भी कर सकते हैं कि वलभी और उसके आसपास उनका विहार हुआ होगा।

विविधतीर्थकल्प में मथुरा कल्प के प्रसंग में आचार्य जिनप्रभ ने लिखा है कि—आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण ने मथुरा में देवनिर्मित स्तूप के देव की एक मास की तपस्या कर आराधना की और देवता द्वारा लाए हुए महानिशीथ सूत्र का उद्धार किया[1]। इससे यह तथ्य ज्ञात होता है कि जिनभद्र ने वलभी के उपरान्त मथुरा में भी विचरण किया था और उन्होंने महानिशीथ सूत्र का उद्धार किया था।

अभी कुछ ही समय पूर्व अकोटा (प्राचीन अकोटा गांव) से प्राप्त हुई प्राचीन जैन मूर्तियों का अध्ययन करते हुए श्री उमाकान्त प्रेमानन्द शाह को दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतिमाएं मिली हैं। उन्होंने जैन सत्यप्रकाश (अंक 196) में उन मूर्तियों का परिचय दिया है। कला तथा लिपि विद्या के आधार पर उन्होंने इन्हें ई० सन 550 से 600 तक के काल में रखा है। [illegible] यह भी निर्णय किया है कि इन मूर्तियों के लेख में जिन आचार्य जिनभद्र का नाम है वे विशेषावश्यक भाष्य के कर्ता क्षमाश्रमण जिनभद्र ही हैं अन्य नहीं। उनकी वाचनानुसारी[2] एक मूर्ति के पृष्ठभाग (पद्मासन) के पृष्ठ भाग में श्री स्वधर्मीय निवृतिकुल जिनभद्रवाचनाचार्यस्य [illegible] लेख है और दूसरी मूर्ति के भी मस्तक में श्री निवृतिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य यह लेख [illegible] है।

[illegible] लेखों से निश्चयात्मक रूप से तीन नई बातें ज्ञात होती हैं—आचार्य जिनभद्र ने इन मूर्तियों की प्रतिष्ठा किया होगा उनके कुल का नाम निवृति कुल था और वे वाचनाचार्य [illegible] थे। इससे एक तथ्य यह भी फलित होता है कि वे [illegible] लेख में [illegible] हैं कि जिनभद्रवाचनाचार्य का। इस तथ्य का इस कारण विचारणीय समझना चाहिए

---

1 [illegible] आराहिया जिणभद्दखमासमणेहिं उद्धरिया [illegible] महानिसीहं सव्वं। वि० तीर्थकल्प पृ० 19

2 [illegible] का [illegible] है और उनका लिपि के समय का अनुमान भी ठीक है। इस [illegible] कारण कि [illegible] लिपि विशारद श्री [illegible] ने [illegible] इसमें मतभेद का अवकाश नहीं है।

3 [illegible] किया है परन्तु [illegible] अन्य [illegible] है।

गाथाओं के आधार पर निर्णय किया है कि उनकी रचना वि० सं० 666 में हुई। वे गाथाएं ये हैं —

पंच सता इगतीसा सगणिवकालस्स वट्टमाणस्स ।
तो चेत्तपुण्णिमाए बुधदिण सातिमि णक्खत्ते ॥
रज्जे ण पालणपरे सी [लाइ]च्चम्मि णरवरिंदम्मि ।
वलभीणगरीए इम महवि मि जिणभवणे ॥[1]

श्री जिनविजयजी इन गाथाओं का तात्पर्य यह बताते हैं कि शक संवत 531 में वलभी में जब शिलादित्य राज्य करते थे तब चैत्र की पूर्णिमा बुधवार तथा स्वाति नक्षत्र में विशेषावश्यक की रचना पूर्ण हुई। किन्तु मूल गाथाओं से उनका बताया हुआ तात्पर्य नहीं निकलता। इस गाथा में रचना के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। टूटे हुए अक्षरों को हम यदि किसी मन्दिर का नाम मानें तो इन दोनों गाथाओं में कोई क्रिया ही नहीं है इसलिए यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इस भाष्य की रचना शक संवत 531 (वि० सं० 666) में हुई। इस बात की सम्भावना अधिक है कि वह प्रति उस वर्ष लिखी गई और उस मन्दिर में रखी गई। गाथाओं का तात्पर्य रचना से नहीं अपितु मन्दिर में स्थापित करने से है यह बात निम्नलिखित कारणों से अधिक संगत प्रतीत होती है —

1 ये गाथाएं केवल जैसलमेर की प्रति में ही मिलती हैं अन्यत्र किसी भी प्रति में ये नहीं हैं अतः यह मानना पड़ेगा कि ये गाथाएं मूल कर्त्ता की नहीं किन्तु प्रति के लिखे जाने और उक्त मन्दिर में रखे जाने की सूचक हैं। जो प्रति मन्दिर में रखी गई होगी उसी की नकल जैसलमेर की प्रति होगी अतः उसमें भी इन गाथाओं के सम्मिलित हो जाने की सम्भावना है। हम यह अनुमान कर सकते हैं कि इस प्रति के आधार पर दूसरी कोई प्रति नहीं लिखी गई इसीलिए अन्य किसी प्रति में इनका समावेश नहीं हुआ।

2 यदि इन गाथाओं को रचनाकाल सूचक माना जाए तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि इन्हें आचार्य जिनभद्र ने बनाया। ऐसी दशा में उनकी टीका भी उपलब्ध होनी चाहिए किन्तु जिनभद्र द्वारा आरम्भ की गई और आचार्य कोट्याचार्य द्वारा पूर्ण की गई विशेषावश्यक की सर्व प्रथम टीका में अथवा कोट्याचार्य और आचार्य हेमचन्द्र मलधारी की टीकाओं में भी इन गाथाओं की टीका दृग्गोचर नहीं होती यही नहीं इन गाथाओं के अस्तित्व का भी संकेत नहीं मिलता। अतः हम कह सकते हैं कि ये गाथाएँ आचार्य जिनभद्र की रचना नहीं हैं। अर्थात हो सकता है कि प्रति की नकल करने वाले या करवाने वाले ने इन्हें लिखा हो। तब इन गाथाओं में उल्लिखित समय रचना संवत नहीं किन्तु प्रति लेखन संवत सिद्ध होता है। कोट्याचार्य के उल्लेख से यह भी सिद्ध होता है कि आचार्य जिनभद्र की अन्तिम कृति विशेषावश्यक भाष्य है। कोट्याचार्य ने यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि उस भाष्य की स्वोपज्ञ टीका उनका स्वर्गवास हो जाने के कारण पूर्ण न हो सकी।

अब यदि विशेषा की यह प्रति शक संवत 531 में अर्थात वि० सं० 666 में लिखी गई तो उसकी रचना का समय वि० 660 के बाद का तो हो ही नहीं सकता। हम यह भी

जानते हैं कि यह आचार्य जिनभद्र की अन्तिम कृति थी। उनकी लेखनी भी उनके स्वर्गवास के कारण अपूर्ण रही अतः स्वयं जिनभद्र की भी उत्तरावधि वि० 650 के पश्चात नहीं हो सकती।

गुरु परम्परा के आधार पर भी उनकी इस उत्तर अवधि का समर्थन होता है। विचारश्रेणी के उल्लेख के अनुसार आचार्य जिनभद्र का स्वर्गवास वि० 650 में निश्चित किया जा सकता है क्योंकि उसमें वीर निर्वाण 1055 में आचार्य हरिभद्र का स्वर्गवास लिखा है और उनके बाद 65 वर्ष तक जिनभद्र का युगप्रधान काल बताया है[1] अतः आचार्य जिनभद्र का स्वर्गवास 1120 वीर निर्वाण संवत् में निश्चित होता है अर्थात् वि० 650 में उनका स्वर्गवास हुआ। विचारश्रेणी के अनुसार हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं विचारश्रेणी का यह मत हमारी उपर्युक्त विचारणा के अनुरूप है अतः उन्हें निश्चय कोटि में नहीं तो सम्भव कोटि में अवश्यमेव रख सकते हैं।

दूसरी परम्परा के अनुसार आचार्य जिनभद्र वीर निर्वाण 1115 में युगप्रधान बने। इसका उल्लेख धर्मसागरीय पट्टावली में है। इस युगप्रधान काल को 60 या 65 वर्ष का गिनने से उनका स्वर्गवास विक्रम 705-710 में निश्चित होता है किन्तु इसके साथ उक्त प्रति के उल्लेख का मेल नहीं बैठता क्योंकि वह वि० 666 में लिखी गई थी अतः उसका निर्माण उससे पहले ही पूर्ण हो चुका था। अन्तिम कृति होने के कारण उसके निर्माण और आचार्य की मृत्यु के समय में 10 या 15 वर्ष से अधिक के अन्तर की कल्पना भी नहीं की जा सकती। फिर भी यदि कल्पना करें कि यह उल्लेख ग्रन्थ के निर्माण का सूचक है तो ऐसी दशा में इस ग्रन्थ की रचना के चालीस वर्ष बाद उनकी मृत्यु माननी पड़ेगी किन्तु कोट्याचार्य का उल्लेख इसमें स्पष्ट रूप से बाधक है अतः धर्मसागरीय पट्टावली में वर्णित समय से विचारश्रेणी में प्रतिपादित समय अधिक उपयुक्त है अर्थात् आचार्य जिनभद्र का स्वर्गवास अधिक से अधिक वि० 650 में हुआ यह मानना अधिक ठीक है।

ऐसी जनश्रुति है कि आचार्य जिनभद्र की पूर्ण आयु 104 वर्ष की थी। उसके अनुसार उनका समय वि० 545 से 650 तक माना जा सकता है जब तक इसके विरुद्ध प्रमाण न मिले तब तक हम आचार्य जिनभद्र के इस समय को प्रामाणिक मान सकते हैं।

उनके ग्रन्थों में उपलब्ध होने वाले उल्लेखों की शोध करने पर भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जो इस मान्यता में बाधक हो। सामान्यतः उनके ग्रन्थों में आचार्य सिद्धसेन पूज्यपाद नागार्जुन आदि प्राचीन आचार्यों के मतों का निर्देश है किन्तु वि० 650 के बाद के किसी भी आचार्य का उल्लेख उनके ग्रन्थों में देखने में नहीं आता। जिनदास की चूर्णि में जिनभद्र के मत का उल्लेख मिलता है। इससे भी उक्त समयावधि का समर्थन हो जाता है।

---

1 आचार्य हरिभद्र के समय के विषय में यह उल्लेख भ्रान्त है। यह बात आचार्य जिनविजयजी ने सप्रमाण अपने मत में सिद्ध की है यह उचित है फिर भी आचार्य जिनभद्र का समय अभ्रान्त हो सकता है।

न ही चूर्णि तो निश्चित रूप म 733 वि० म बनी थी और उसम पग-पग पर विशेषावश्यक का उल्लेख है।

## 6 आचार्य जिनभद्र के ग्रन्थ

निम्न लिखित ग्रन्थ आचार्य जिनभद्र के नाम स प्रसिद्ध हैं —

1 विशेषावश्यक भाष्य—प्राकृत पद्य
2 विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञवृत्ति—संस्कृत गद्य
3 बृहत् संग्रहणी—प्राकृत पद्य
4 बृहत् क्षेत्रसमास—प्राकृत पद्य
5 विशेषणवती—प्राकृत पद्य
6 जीतकल्प सूत्र – प्राकृत पद्य
7 जीतकल्पसूत्र भाष्य—प्राकृत पद्य
8 ध्यानशतक

**(1) विशेषावश्यक भाष्य—**

यदि इस ग्रन्थ को जैन ज्ञान महोदधि की उपमा दी जाए तो इसम लेशमात्र भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसम जैन आगमों म बिखरी हुई अनेक दार्शनिक चर्चाओं को सम्यक् और व्यवस्थित रीति स तर्क-पुरस्सर सुव्यवस्थित कर उपस्थित किया गया है। जैन परिभाषाओं को स्थिर रूप प्रदान करने म इस ग्रन्थ को जो श्रेय प्राप्त है वह शायद ही अन्य अनेक ग्रन्थों को एक साथ मिलाकर मिल सके। जब से इस महान ग्रन्थ की रचना हुई तब से जैन आगम की व्याख्या करने वाला कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं बना जिसमे इस ग्रन्थ का आधार न लिया गया हो। इस से हम सहज ही यह समझ सकते हैं कि इस ग्रन्थ का महत्त्व कितना है। इस ग्रन्थ के अनेक प्रकरण ऐसे हैं जो स्वतन्त्र ग्रन्थ के समान है। पांच ज्ञान चर्चा गणधरवाद निह्नववाद नयाधिकार नमस्कार प्रकरण सामायिक विवेचन तथा अन्य ऐसे अनेक प्रकरण हैं जो स्वतन्त्र ग्रन्थ का उद्देश्य पूरा करते हैं। आचार्य जब किसी भी विषय की चर्चा का आरम्भ करते हैं तब उस की गहराई मे तो जाते ही हैं साथ ही उसका विस्तृत वर्णन करने म भी संकोच नहीं करते। फलतः किसी भी विषय का गम्भीर व विस्तृत चर्चा एक ही स्थान पर पाठकों को उपलब्ध हो जाती है।

यह ग्रन्थ आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति की टीका के रूप म लिखा गया है अतः इसका सूत्र के अनुसार होना स्वाभाविक है किन्तु आचार्य वस्तु-संकलन म इतने कुशल हैं कि सूत्र की स्पष्टता के आधार पर वे अनेक सम्बद्ध विषयों की चर्चा कर देते हैं। इस ग्रन्थ के परिचय के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के लिखे जाने की आवश्यकता है अतः यहाँ उसका अधिक विस्तार करना अनावश्यक समझ कर सामान्य परिचय देकर ही सन्तोष मानना उचित है।

इस भाष्य की 3606 गाथाएँ हैं जिनकी टीका स्वयं आचार्य ने संस्कृत म लिखी थी। वह ग्रन्थ के आरम्भ से छठे गणधर तक है उनके स्वर्गवास के कारण वह टीका अधूरी रह गई अतः उसे आचार्य कोट्याचार्य ने पूरा किया।

दूसरी टीका कोट्याचार्य की है और तीसरी मलधारी हेमचन्द्र की। प्रस्तुत अनुवाद इसी तीसरी टीका के आधार पर तैयार किया गया है।

(2) विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञ वृत्ति

आचार्य ने यह टीका संस्कृत में लिखी है। प्रायः प्राकृत गाथाओं का वर्णन संस्कृत भाषा में लिख दिया गया है और यत्र तत्र कुछ अधिक चर्चा भी की है। यह वृत्ति अत्यन्त संक्षिप्त है अतः साधारण पाठक मूल का तात्पर्य नहीं समझ सकते इसीलिए आचार्य कोट्याचार्य तथा मलधारी हेमचन्द्र ने इस पर उत्तरोत्तर विस्तृत टीका लिखना उचित समझा। इस टीका का विशेष परिचय मुनि श्री पुण्यविजयजी ने ही कुछ समय पूर्व दिया है और उन्होंने ही सर्वप्रथम उसकी नोंध की है।

आचार्य ने इस टीका में आचार्य सिद्धसेन के नाम का उल्लेख किया है, अतः अब यह बात निश्चित हो जाती है कि ग्रन्थ टीकाकारों ने जिन कुछ मतों को सिद्धसेन के मत के रूप में माना है उनका आधार प्रस्तुत टीका ही है[1]। उनकी स्वोपज्ञ टीका से यह भी सिद्ध होता है कि उन्होंने स्वयं ही इस भाष्य का नाम विशेषावश्यक रखा। गाथा 1863 तक आचार्य ने व्याख्या की तत्पश्चात् उनकी मृत्यु हो जाने के कारण व्याख्या अधूरी रह गई[2]।

(3) बृहत् संग्रहणी

बृहत् संग्रहणी के विवरण के मंगलाचरण प्रसंग पर आचार्य मलयगिरि ने इस ग्रन्थ के कर्ता के रूप में आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का उल्लेख अत्यन्त आदर-पूर्वक किया है[3]। अतः इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि इस कृति के कर्ता आचार्य जिनभद्र हैं। आचार्य जिनभद्र ने स्वयं इस ग्रन्थ का नाम संग्रहणी लिखा है किन्तु अन्य संग्रहणियों से पृथक् करने के लिए इसे बृहत् संग्रहणी कहा जाता है। इसमें चारों गति के जीवों की स्थिति आदि का संग्रह किया गया है अतः इस ग्रन्थ का नाम संग्रहणी पड़ा। प्रारम्भ की दो गाथाओं में आचार्य ने इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का संग्रह किया है उससे ज्ञात होता है कि देवों व नारकों की

---

1 गाथा 65 की व्याख्या देखें।

2 गाथा 1442 की व्याख्या देखें।

3 निर्माय षष्ठगणधरवक्तव्यं किंचिदिवगता पूज्या।
अनुयोगमाय (ग) दर्शिकजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणा॥
तानेव प्रन्थिपदान् परमर्षि (व) शिष्यविवरणं क्रियते।
कारुण्यवान्गणिना मन्दधिया शक्तिमनपेक्ष्य॥ गाथा 1863

4 नमत जिनबुद्धिनेत्र प्रतिहतनिशपङ्कुमपनतिमिरम्।
जिनवचनकनिपण्णं जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणम्॥
यामकुरुत संग्रहणिं जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यः।
तस्या गुरुपदेशानुसारतो वक्ष्ये विवृतिमहम्॥

5 तां संग्रहणिं इति नामतः॥ गा० 1

स्थिति भवन तथा अवगाहना मनुष्यों व तिर्यंचों के देह मान तथा आयु प्रमाण देवों और नारकों के उपपात तथा उद्वर्तन के विरहकाल संख्या एक समय में कितनों का उपपात तथा उद्वर्तन होता है और समस्त जीवों की गति व आगति का इस ग्रन्थ में क्रमशः वर्णन किया गया है[1]।

वस्तुतः यह ग्रन्थ भूगोल व खगोल के अतिरिक्त देवों तथा नारकों के विषय में संक्षेप में जैन मन्तव्य का प्रतिपादन करता है। यही नहीं मनुष्यों तथा तिर्यंचों के सम्बन्ध में भी अनेक ज्ञातव्य बातें इसमें संगृहीत हैं। वास्तविक रूप में इस ग्रन्थ को जीव व जगत विषयक मन्तव्यों का संग्राहक ग्रन्थ कहना चाहिए। आचार्य मलयगिरि ने इस ग्रन्थ की कलश रूप जो टीका लिखी है उससे इस ग्रन्थ का स्थान सहज ही जीव व जगत सम्बन्धी जैन मन्तव्यों के एक विश्वकोश का हो जाता है। अन्त में आचार्य ने लिखा है कि इसमें जो कुछ प्रतिपादित किया गया है, वह मूल श्रुत ग्रन्थों और पूर्वाचार्यों द्वारा कृत ग्रन्थों के आधार पर स्व मति से उद्धृत है। इसमें यदि कोई त्रुटि हो तो श्रुतधर और श्रुतज्ञानी क्षमा करें[2]।

इस ग्रन्थ की कुल गाथाएँ 367 हैं किन्तु आचार्य मलयगिरि के अनुसार उनमें कुछ अन्यकृत[3] और कुछ मतान्तर सूचक प्रक्षिप्त[4] गाथाएँ भी हैं। उन्हें निकाल कर मूल गाथाओं की संख्या 353 है। प्रक्षेप की चर्चा के अवसर पर यह भी बताया गया है कि आचार्य हरिभद्र ने भी इसकी एक टीका लिखी थी।

(4) बृहत् क्षेत्रसमास

आचार्य मलयगिरि ने अपनी वृत्ति के प्रारम्भ में और अन्त में क्षेत्रसमास को आचार्य जिनभद्र की कृति बताया है। बृहत् क्षेत्रसमास के नाम से प्रसिद्ध क्षेत्र समास कृति आचार्य जिनभद्र की है इसमें सन्देह का स्थान नहीं है। आचार्य जिनभद्र ने स्वयं इस ग्रन्थ का नाम[5] समय क्षेत्र-समास अथवा क्षेत्र-समास प्रकरण[6] सूचित किया है। आचार्य मलयगिरि ने मंगलाचरण के प्रसंग पर आरम्भ में इसका नाम क्षेत्र समास सूचित किया है। दूसरे क्षेत्र समास से इसके पृथक्करण के लिए तथा इसके बृहत् होने के कारण यह ग्रन्थ बृहत् क्षेत्र समास के नाम से विशेषरूपेण प्रसिद्ध है तथापि आचार्य ने स्वयं इसका जो समय-क्षेत्र समास नाम प्रदान किया है वह भी सार्थक है। कारण यह है कि इसमें जितने क्षेत्र में सूर्यादि की गति के आधार पर

---

1 गाथा 2 व 3 देखें।

2 गाथा 367

3 गाथा 9 10 15 16 68 (सूर्य प्र०) 69 (सूर्य प्र०) 72 (सूर्य प्र०)

4 अथेयं प्रक्षेपगाथेति कथमवसीयते ? उच्यते मूलटीकाकारेण हरिभद्रसूरिणा। लेशतोऽप्यस्या असूचनात्। एवमुत्तरा अपि मतान्तरप्रतिपादिका गाथा प्रक्षेपगाथा अवसेया। मलयगिरि टीका गाथा 73 से 79 तक की गाथाएं प्रक्षिप्त हैं।

5 गाथा 1 1 76

6 गाथा 50 75

समय की गणना की गई है उतने समय क्षेत्र के विषय में ही—अर्थात मनुष्य क्षेत्र अथवा ढाई द्वीप के विषय में संक्षिप्त कथन है किन्तु इसे संक्षेप में क्षेत्र समास कहते हैं।

इस ग्रंथ में जम्बू द्वीप लवण समुद्र धातकी खण्ड कालोदधि और पुष्करवर द्वीपार्ध नामक पाँच प्रकरणों में इन द्वीपों तथा समुद्रों का वर्णन किया गया है। जम्बू द्वीप का निरूपण करते समय सूर्य चन्द्र तथा नक्षत्रों की गति के विषय में विस्तार पूर्वक प्ररूपणा की गई है। लवणोदधि के वर्णन के समय अन्तर द्वीपों की भी विस्तृत प्ररूपणा है। यह समझना चाहिए कि आचार्य ने इस ग्रंथ में जैन भूगोल और खगोल का समावेश किया है साथ ही इसमें गणित अनुयोग का भी वर्णन है।

जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर ने इस ग्रंथ को आचार्य मलयगिरि की टीका के साथ प्रकाशित किया है उसमें कुल 656 गाथाएं हैं। जिस गाथा में ग्रंथ की गाथा-संख्या का उल्लेख है उस गाथा[1] में एक पाठान्तर के अनुसार 655 गाथाओं का निर्देश है, किन्तु आचार्य मलयगिरि ने 637 गाथाओं का पाठ स्वीकृत किया है फिर भी उन्होंने जो व्याख्या की है वह 656 गाथाओं की है। ग्रंथ प्रशस्ति रूप अन्तिम गाथा को निकाल कर पाठान्तर निर्दिष्ट इन 655 गाथाओं मूल ग्रंथ की माना जा सकता है। आचार्य मलयगिरि ने किसी भी गाथा के संबंध में प्रक्षेप की सूचना नहीं दी है। ऐसा क्यों हुआ? यह अनुमान करना कठिन है। सम्भव है कि मूल गाथाएं 637 ही हों बाद में उनमें प्रक्षेप हुआ हो परन्तु आचार्य मलयगिरि उस प्रक्षेप का पता न लगा सके हों। उन्होंने बिना गिने ही जो पाठ मिला उसकी टीका लिख दी परन्तु गाथा की संख्या पर सम्भवतः उनका ध्यान नहीं आया फिर भी यह पाठान्तर उपलब्ध है अतः प्रक्षेप की सम्भावना अयथार्थ नहीं है।

रचना के उपरान्त इस ग्रंथ का अत्यधिक प्रचार हुआ। यही कारण है कि इस ग्रंथ के अनुकरण पर अनेक ग्रंथ रचे गये हैं और इस पर अनेक टीकाएं भी रची गई हैं।

जिन ग्रन्थों में इस ग्रंथ की दस टीकाओं का उल्लेख है —

1 आचार्य हरिभद्र कृत वृत्ति—यह वृत्ति प्रसिद्ध याकिनीसूनु हरिभद्र की नहीं किन्तु जिनभद्रगणि के शिष्य—जिनदेव उपाध्याय के शिष्य हरिभद्र कृत है। यह संवत् 1185 में लिखी गई।

2 सिंहसूरि कृत वृत्ति—[illegible] के देवसूरि के शिष्य सिंहसेनसूरि ने 3 [illegible] प्रकरण वृत्ति की रचना संवत् 1192 में पूर्ण की।

3 आचार्य मलयगिरि कृत वृत्ति—यह वृत्ति प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने लिखी है। [illegible] 7837 श्लोक का है। आचार्य मलयगिरि प्रसिद्ध हेमचन्द्राचार्य के [illegible] थे।

4 सिंहतिलक कृत वृत्ति—इसकी रचना संवत् 1215 में हुई। इसका परिमाण [illegible] है। [illegible] का सम्भव है कि वे सिंहतिलक वही हैं जिन्हें [illegible]

---

1 [illegible]

[illegible] पृ० 250

समास की टीका लिखी है और वे चन्द्रगच्छीय अभयदेव[1] परम्परा में—धनेश्वर-अजितसिंह-वर्धमान-चन्द्रप्रभ-भद्रेश्वर-हरिभद्र-जिनचन्द्र के शिष्य थे।

5 देवानन्द कृत वृत्ति—यह वृत्ति पद्मप्रभ के शिष्य देवानन्द ने संवत् 1455 में 3332 श्लोक प्रमाण लिखी।

6 देवभद्र कृत वृत्ति—संवत् 1233 में देवभद्र ने एक हजार श्लोक प्रमाण इस वृत्ति की रचना की।

7 आनन्दसूरि कृत वृत्ति—देवभद्र के शिष्य जिनेश्वर के शिष्य आनन्दसूरि ने इसकी रचना की। इसका प्रमाण 2000 श्लोक है।

8–10 वृत्तियाँ—ये किन की हैं ज्ञात नहीं किन्तु मंगलाचरणों से पता चलता है कि पूर्वोक्त वृत्तियों से ये भिन्न हैं।

(5) विशेषणवती[2]

आचार्य जिनभद्र तक की अपेक्षा आगम को अधिक महत्व दिया था अतः आगम गत असंगतियों का निराकरण करना उनका परम कर्त्तव्य था। विशेषणवती ग्रंथ लिखकर उन्होंने अपने इस कर्त्तव्य का को पालन किया। उन्होंने असंगति का निराकरण विशेष प्रकार की अपेक्षा को मद्देनजर रखकर किया है। अर्थात् एक ही विषय में दो विरोधी मत उपस्थित हों तब उन दोनों की विशेषता किस बात में है यह बताकर असंगति का निवारण करते समय उन मतों या का विशेषण से विशिष्ट करना पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी कारण इस ग्रंथ का नाम विशेषणवती पड़ा। पुनश्च आगम गत असंगतियों के उपरान्त जैनाचार्यों के ही कतिपय ऐसे मन्तव्य थे जो आगम की मान्यता के विरुद्ध थे। उनका आचार्य जिनभद्र ने इस ग्रंथ में निराकरण करते हुए और आगम-पक्ष की स्थापना की है। इस ग्रंथ में जिन विषयों की चर्चा की गई है उनमें से कुछ ये हैं —

प्रारम्भ में ही उत्सेधांगुल प्रमाणांगुल व आत्मांगुल के माप की चर्चा है। भगवान् महावीर की ऊंचाई जिस शास्त्र में बताई गई है उसके साथ इन अंगुलों के माप का मेल नहीं है। ऐसी स्थिति में इसका समाधान कैसे करना चाहिये यह प्रश्न उपस्थित कर उसका अपेक्षा विशेष से समाधान किया है[3]। कुरुक्षेत्र की शास्त्रों में जो सात दस और पन्द्रह संख्या दृष्टिगोचर होती है उसका भी संक्षेप व विस्तार-दृष्टि से विवेचन किया है[4]। तिर्यंच में चारित्र नहीं है यह बात आगम में बताई गई है फिर भी तिर्यंच को महाव्रत आरोपण करने के उदाहरण शास्त्र में मिलते हैं। इस विरोध का परिहार यह कह कर किया है कि महाव्रत

---

1 जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास पृ० 278

2 रतलाम की ऋषभदेवजी केशरीमलजी की पेढ़ी की ओर से वि० सं० 1984 में प्रत्याख्यान स्वरूपादि पाँच ग्रंथ एक साथ प्रकाशित हुए हैं उनमें एक यह विशेषणवती है।

3 गाथा 1 से

4 गाथा 18 से

रोकने होने पर भी चारित्रिक परिणामों का प्रभाव होता है[1]। विग्रहगति के चार व पाँच समय के निर्देश की असंगति का भी निराकरण किया है[2]। एक स्थान पर ऋषभ के सात भव और अन्यत्र बारह भव बताये हैं उसका स्पष्टीकरण भी सम्यक् विस्तार से समझ लेना चाहिए यह बताया गया है[3]। सिद्धों की आदि अन्त न माना है किन्तु सिद्धि को कभी भी सिद्धों से शून्य स्वीकार नहीं किया गया अन्त या तो सिद्धों की आदि नहीं मानी जा सकती अथवा सिद्धि को किसी समय सिद्ध शून्य भी मानना पड़ेगा। आचार्य ने इस समस्या का यह समाधान किया है कि जिस प्रकार जीव के समस्त शरीर सादि हैं फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि कौन सा शरीर आदि अथवा सर्वप्रथम है, क्योंकि काल अनादि है और जीव के शरीर अनादि काल से जीव के साथ सम्बद्ध होते आये हैं अथवा सभी रातें और सभी दिन सादि हैं फिर भी हम यह नहीं बता सकते कि अमुक दिन या अमुक रात सर्वप्रथम थी उसी प्रकार सिद्धों के विषय में यह समझना चाहिए कि सभी सिद्ध सादि हैं तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि कौन सा सिद्ध सर्वप्रथम था अतएव सिद्धों के सादि होने पर भी सिद्धि को कभी भी सिद्धि शून्य नहीं माना जा सकता[4]। सिद्धान्त में जिस उत्कृष्ट आयु और ऊँचाई का निर्देश है उसके साथ वासुदेव मरुदेवी और कुर्मापुत्र आदि की आयु व ऊँचाई का मेल नहीं है। इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि तीर्थंकर की जो उत्कृष्ट आयु और ऊँचाई होती है वह सामान्य मनुष्य की नहीं होती। अथवा यह समझना चाहिए कि कुर्मापुत्रादि सम्बन्धी आयु आदि आश्चर्य है अथवा सिद्धान्त प्रतिपादित आयु और ऊँचाई सामान्य रूप से है विशेष रूप से न[5]। वनस्पति के जीवों का असंख्यातीत पुद्गल परावर्त संसार होता है तब मोक्ष जाने वाला भव्य जीव उत्कृष्ट भव में वनस्पति रूप में किस प्रकार हो सकता है? इसके उत्तर में बताया है कि उक्त स्थिति कायस्थिति की अपेक्षा से समझनी चाहिए[6]। चतुर्दश पूर्व के विच्छेद के साथ ही प्रथम संघयण विच्छिन्न होता है और प्रथम संघयण के बिना सर्वार्थ में जाना सम्भव नहीं यह कथन सिद्धान्त में प्रतिपादित है। ऐसी अवस्था में वज्र प्रथम संघयण के अभाव में सर्वार्थ में कैसे गये? इसका समाधान यह कहकर किया है कि वज्र सर्वार्थ सिद्ध में गये हैं ऐसा उल्लेख आगम में नहीं है अतः इसमें विरोध की कोई बात नहीं है[7]।

आगम में यह बात बार बार कही गई है कि विभंगज्ञानी का भी अवधिदर्शन होता है तो कर्मग्रन्थ में वर्णित अवधिदर्शन के विषय के साथ इसकी संगति कैसे होगी? इसका समाधान इस प्रकार किया गया है[8]। द्रव्यलेश्या 34 में भी अधिक हैं तो आगम में

---

1 गाथा 21 में
2 गाथा 23 में
3 गाथा 31 में
4 गाथा 35 में
5 गाथा 38 से 45
6 गाथा 45 में
7 गाथा 101–103
8 गाथा 104–1 5

इस गाथा के अर्थ को अन्यथा समझने से विरोध है। आगमों में जो उसमें भूल हो।

केवल 34 का ही क्या निर्देश है ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि 34 का कथन नियत अतिशयों की अपेक्षा से है। अन्य अनियत कितने ही हो सकते हैं[1]। आचार्य सिद्धसेन का मत है कि केवली में ज्ञान दर्शनोपयोग का भेद ही नहीं है। दूसरे आचार्यों के मत में केवली में ज्ञान दर्शन का उपयोग युगपद है किन्तु आचार्य जिनभद्र की मान्यता है कि आगम में ज्ञान दर्शन का उपयोग क्रमिक लिखा है। सिद्धसेन आदि आचार्य आगम पाठों का अपनी पद्धति से अर्थ कर उनकी संगति का प्रतिपादन करते हैं किन्तु आचार्य जिनभद्र ने आगम के अनेक पाठ तथा मतान्तर उपस्थित कर विरोधी मतों की समालोचना की है और बताया है कि पूर्वापर संगति की दृष्टि से आगम के प्रमाणानुसार क्रमिक उपयोग ही मानना चाहिए[2]। इस ग्रन्थ में यह प्रकरण सबसे लम्बा है और लगभग एक सौ गाथाओं में इसकी चर्चा है। इस चर्चा के उपसंहार में आचार्य ने अपना हृदय खोलकर रख दिया है और यह स्पष्ट किया है कि उनकी बुद्धि स्वतन्त्र नहीं किन्तु आगम-तन्त्र से बंधी हुई है। इन गाथाओं से आचार्य जिनभद्र की प्रकृति का ठीक-ठीक परिचय मिल जाता है। वे कहते हैं कि मुझे क्रमिक उपयोग के विषय में कोई एकान्त अभिनिवेश नहीं जिसके आधार पर मैं किसी भी प्रकार उस मत की स्थापना का प्रयत्न करूँ[3] तथापि मुझे यह कहना चाहिए कि जिनमत को अन्यथा करने की मुझ में शक्ति नहीं है। पुनश्च आगम और हेतुवाद की मर्यादा भिन्न है अतः उनका कथन है कि तर्क[4] को एक ओर रखकर मात्र आगम का ही अवलम्बन करना चाहिए और तदनन्तर यह विचार करना चाहिए कि युक्त क्या है और अयुक्त क्या है ? अर्थात युक्तियों को आगम का अनुसरण करना चाहिए न कि जिस विषय का युक्ति से पहले विचार कर लिया जाय उसके समर्थन में आगमों को रखा जाय[5]। उन्होंने यह भी कहा है कि आगम में जो कुछ कहा है वह अहेतुक

---

1 गाथा 109–110

2 गाथा 153–249

3 ण वि अभिणिवेसबुद्धी अम्हं एगंतरोइओगम्मि।
तह वि भणिमो न तीरइ ज जिणमयमण्णहा काउं। गाथा 247

4 मोत्तूण हेउवादं आगममेत्तावलंबिणो होउ।
सम्मंमणंचितणिज्जं किं जत्तमजुत्तमेयं ति।

5 यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि सिद्धसेन दिवाकर ने हेतुवाद और आगमवाद के पारस्परिक विरोध का परिहार दोनों वादों के विषय को पृथक करके किया है। (देखें सन्मतितर्क काण्ड 3 गाथा 43–45 गुजराती विवेचन)। हेतु अहेतुवाद का संघर्ष मात्र एक परम्परा में ही नहीं है। ऐसा संघर्ष प्रत्येक दर्शन परम्परा में उत्पन्न होता ही है। उदाहरणतः पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा दोनों श्रुति या आगम का ही मुख्य आश्रय लेते हैं। वे तर्क का उपयोग आगम के समर्थन के लिए ही करते हैं स्वतन्त्र रूप से नहीं। इसके विपरीत सांख्य जैसे दर्शन मुख्यतः हेतुजीवी हैं वे तर्क सिद्ध वस्तु की स्थापनार्थ ही श्रुति का अवलम्बन लेते हैं ऐसा संघर्ष अनिवार्य है इसीलिए जैनाचार्यों ने इसका समाधान अपने अपने ढंग से प्रस्तुत किया है उसमें क्षमाश्रमण जिनभद्र का पहला स्थान है और सिद्धसेन का दूसरा।

अथवा निराधार तो नहीं है अतः हेतु से आगम का समर्थन करना चाहिए किन्तु हेतु से आगम विरोधी वस्तु का प्रतिपादन कदापि न करना चाहिए[1]। तथा जिनेश्वर को अन्य प्रसंग पर और भी अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि आप लोग अभिनिवेश क्यों रखते हैं कि आपको जो तर्क संगत प्रतीत हो वही जिनमत होना चाहिए? तर्क में सत्य अथवा जिन के मत का निर्णय करने का सामर्थ्य नहीं है अतः तर्क का आगम का अनुसरण करना चाहिए आगम को तर्क का नहीं।

इस छोटे से प्रकरण ग्रन्थ में जिन चार आगम और आगमेतर प्रकरणों के नामों का समन्वय किया गया है वे आगम और आगमेतर ग्रन्थ हैं —

आगम—

प्रज्ञापना[3] स्थानांग[4] प्रज्ञप्ति (भगवती)[5] द्वीपसागर प्रज्ञप्ति[6] जीवाभिगम प्रज्ञप्ति जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति[8] सूर्य प्रज्ञप्ति[9] आवश्यक[10] सामायिक[11] भूत आचारप्रज्ञप्ति[12] गौतम पृच्छा (भगवती)।

आगमेतर—

कर्मप्रकृति[13] सप्ततिका[14] वसुदेव चरित[15]

(6) जीतकल्प सूत्र

आचार्य जिनभद्र ने इस ग्रन्थ की रचना 103 गाथाओं में की है और उसमें जीत व्यवहार के आधार पर दिये जाने वाले प्रायश्चित्तों का संक्षिप्त वर्णन है (गा० 1)। प्रायश्चित्त का सम्बन्ध मोक्ष के कारणभूत चारित्र से है क्योंकि चारित्र की शुद्धि का मुख्य आधार

---

1 गाथा 249
2 गाथा 274
3 गाथा 220 275
4 गाथा 18
5 गाथा 13 18 254 220 172
6 गाथा 9
7 गाथा 13 242
8 गाथा 13
9 गाथा 17 का उत्थान
10 गाथा 253
11 गाथा 31
12 गाथा 252
13 गाथा 83 85 104 126
14 गाथा 90-92
15 गाथा 31

प्रायश्चित्त है अतः मुनियों के लिए प्रायश्चित्त का ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार इस ग्रन्थ की रचना का प्रयोजन बताकर (गा० 2–3) आचार्य ने प्रायश्चित्त के आलोचनादि दस भेद बताये हैं (गा० 4) और तदनन्तर उन्होंने प्रत्येक प्रायश्चित्त के योग्य अपराध-स्थानों का निर्देश किया है—अर्थात् कौन-सा अपराध होने पर क्या प्रायश्चित्त लेना चाहिए इसका निर्देश किया है (गा० 5–101)। अन्त में उन्होंने कहा है कि अनवस्थाप्य तथा पारांचिक नाम के दो प्रायश्चित्त चौदह पूर्वधारियों के सत्ता काल पर्यन्त दिये जाते थे—अर्थात् आचार्य भद्रबाहु के समय तक इनका व्यवहार था उसके बाद उनका विच्छेद हो गया (गा० 102)। उपसंहार करते हुए बताया गया है कि इस जीतकल्प की रचना सुविहितों पर अनुकम्पा की दृष्टि से की गई है। इस शास्त्र का उपयोग गुरु की परीक्षा कर के करना चाहिए।

(7) जीतकल्प भाष्य

आचार्य जिनभद्र ने अपने 103 गाथा परिमाण वाले मूल जीतकल्प सूत्र पर 2606 गाथाओं का भाष्य लिखा है। इसमें मूल-सम्बद्ध अनेक विषयों की चर्चा करके आचार्य ने जीत व्यवहार शास्त्र का ही नहीं अपितु सम्पूर्ण छेदशास्त्र का रहस्य प्रकट किया है।

मूल-सूत्र के एक एक शब्द की व्याख्या प्रथम पर्याय बताकर और तत्पश्चात् भावार्थ का प्रदान कर की गई है। आचार्य को इससे भी सन्तोष न हुआ, अतः अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति बताकर भी इष्टार्थ की सिद्धि की है। भाष्य का उद्देश्य केवल अर्थ प्रदान नहीं अपितु उसमें प्रतिपादित विषयों से सम्बद्ध अनेक उपयोगी विषयों का स्पष्टीकरण करने में भी आचार्य ने संकोच का अनुभव नहीं किया और इस प्रकार इस ग्रन्थ को उन्होंने एक शास्त्र का रूप प्रदान कर दिया।

आचार्य ने मूल में (गा० 1) प्रवचन को नमस्कार किया है अतः भाष्य में सर्वप्रथम प्रवचन शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है (गा० 1–3) और फिर प्रायश्चित्त शब्द की व्याख्या की है कि—

> पावं छिंदति जम्हा पायच्छित्तं ति भण्णते तेणं।
> पायेण वा वि चित्तं सोहयई तेण पच्छित्तं ॥ गा० 5॥

संस्कृत शब्द प्रायश्चित्त के प्राकृत में दो रूप प्रचलित हैं—पायच्छित्त और पच्छित्त। अतः दोनों शब्दों की स्वतन्त्र व्युत्पत्ति दी गई है—जो पाप का छेद करे वह पायच्छित्त और जिसके द्वारा प्रायः चित्त शुद्ध होता है वह पच्छित्त। ये दोनों व्युत्पत्तियाँ शब्द रूपानुसारी हैं। इन शब्दों के मूल में कौन सी धातु थी इसको लक्ष्य में रखकर व्युत्पत्ति नहीं की गई है। इससे ज्ञात होता है कि प्राकृत शब्दों की व्युत्पत्ति करने में टीकाकार कितने स्वतन्त्र हैं। प्रथम गाथा गत जीत व्यवहार शब्द की व्याख्या के प्रसंग में (गा० 7) आगम श्रुत आदि सब मिलाकर पाँच व्यवहारों की विस्तार से विवेचना की है (गा० 8–705)। जीत व्यवहार की व्याख्या यह की है कि जो व्यवहार परम्परा प्राप्त हो महाजन सम्मत हो और बहुशः न जिसका बार-बार सेवन किया हो परन्तु उनके द्वारा जिसका निवारण न किया गया हो वह जीत व्यवहार कहलाता है (गा० 675–677)। आगम श्रुत आज्ञा अथवा धारणा में से जिस व्यवहार का एक भी आधार न हो वह जीत व्यवहार कहलाता है क्योंकि उसके मूल में

आगमादि का व्यवहार नहीं अपितु केवल परम्परा ही होती है (गा० 678)। जो जीत व्यवहार चारित्र की शुद्धि करता है उसी का आचरण करना चाहिए और जो जीत आचार शुद्धि का कारण न हो उसका आचरण नहीं करना चाहिए (गा० 691)। यह भी सम्भव है कि ऐसा भी कोई जीत व्यवहार हो जिसका आचरण केवल एक व्यक्ति ने किया हो फिर भी यदि वह व्यक्ति संवेग परायण हो संयमी हो और वह आचार शुद्धि कर सिद्ध हुआ हो तो अन्य जीत व्यवहार का अनुसरण करना चाहिए (गा० 694)। इस प्रकार प्रथम मूल गाथा की व्याख्या के प्रसंग पर पाँच व्यवहारों की व्याख्या कर ये हैं 705 गाथाओं की रचना की गई है। इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने पाँच व्यवहारों की ही व्याख्या नहीं की किन्तु अनेक प्रासंगिक विषयों का विशद विवेचन किया है। आगम व्यवहार के स्पष्टीकरण में पाँच ज्ञान का संक्षेप में विवेचन है (गा० 11-106)। उनके विषयों का शब्द की व्युत्पत्ति से नयाधिकादि से व दर्शन सम्मत आदि शब्द के इन्द्रिय अर्थ का निराकरण किया है। इन्द्रिय जन्य ज्ञान को आचार्य ने प्रत्यक्ष नहीं प्रत्युत संव्यवहार[1] कहा है (गा० 14-18)
केवलज्ञान के प्रसंग में —

> सव्वेहि जिणपदेसेहि जुगव जाणति पासई ।
> दंसणं च नाणं च पईवो अब्भसरंग वा । 92 ।
>
> अवरे व कतो एतो त सव्व तु पगासतो ।
> एव तु उवएसतो हो ति सभिण्ण तु ज वय । 93 ।

इन गाथाओं से वाचक का संशय यह प्रतीत हो सकता है कि आचार्य युगपदुपयोगवादी हैं परन्तु वस्तुतः वे अपने विशेषावश्यक भाष्य तथा विशेषणवती ग्रन्थों के आधार पर क्रमोपयोगवादी ही हैं। अतः इन गाथाओं के जुगव शब्द का सम्बन्ध 'जुगव जाणई जुगव पासई' इस प्रकार प्रत्येक के साथ जोड़ना चाहिए जिससे आचार्य का तात्पर्य सुगृहीत हो सके। पूज्य मुनि श्री पुण्यविजयजी ने जीतकल्प की गाथा 60 के आधार पर यह बात सिद्ध[3] की है कि आचार्य ने विशेषावश्यक भाष्य की रचना इस ग्रन्थ से पहले की थी। यदि विशेषावश्यक भाष्य की रचना के उपरान्त उनके मत में परिवर्तन हुआ होता तो वे प्रस्तुत जीतकल्प भाष्य में इस प्रसंग पर विस्तार से इस विषय की चर्चा करते तथा विशेषावश्यक भाष्य में दी गई युक्तियों का खण्डन कर केवली के युगपदुपयोग की सिद्धि करते। आचार्य ने ऐसा नहीं किया अतः उक्त गाथाओं में जुगव शब्द का सम्बन्ध पूर्वोक्त प्रकार से करना उचित है।

ज्ञान विवेचन के अनन्तर प्रायश्चित्त देने वाले की योग्यता तथा अयोग्यता का विस्तार पूर्वक विचार किया गया है (गा० 149-256)।

---

1 विशेषावश्यक के प्रारम्भ में पाँचों ज्ञानों की चर्चा अति विस्तार पूर्वक की गई है। गाथा 91 से

2 विशेषावश्यक भाष्य गाथा 3089 से

3 जीतकल्प भाष्य की प्रस्तावना देखें

वर्तमान काल में ऐसी योग्यता वाले महापुरुष नहीं हैं तो प्रायश्चित्त कैसे किया जाए ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि यह सत्य है कि अधुना कवली और 14 पूर्वधारी नहीं हैं परन्तु प्रायश्चित्त की विधि का मूल प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु में है और उसके आधार[1] पर कल्प प्रकल्प तथा व्यवहार इन तीन ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। वे आज भी विद्यमान हैं और उनके ज्ञाता भी अतः इन ग्रन्थों के आधार पर प्रायश्चित्त का व्यवहार अत्यन्त सरलता से हो सकता है। इससे चारित्र की शुद्धि भी हो सकती है फिर उसका आचरण क्यों न किया जाए ? (गा० 254–273)

प्रायश्चित्त देते हुए देने वाले को दया भाव रखना चाहिए और जिसको प्रायश्चित्त देना हो उसकी शक्ति का भी विचार करना चाहिए। ऐसा होने पर ही प्रायश्चित्त करने वाला संयम में स्थिर होता है अन्यथा प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है और वह शुद्धि के स्थान पर संयम का ही सर्वथा त्याग कर देता है। किन्तु दया भाव इतना महान न होना चाहिए कि प्रायश्चित्त देने का विचार ही छोड़ दिया जाए। ऐसा करने से दोष परम्परा की वृद्धि होती है और चारित्र शुद्धि नहीं हो पाती (गा० 307)। प्रायश्चित्त न देने से चारित्र स्थिर नहीं रहता और उसके अभाव में तीर्थ चारित्र शून्य हो जाता है। तीर्थ में चारित्र न हो तो निर्वाण की प्राप्ति कैसे सम्भव है ? निर्वाण लाभ के अभाव में कोई दीक्षा ही क्यों लेगा ? यदि कोई दीक्षित साधु ही न होगा तो तीर्थ का व्यवहार ही शेष नहीं अतः तीर्थ की स्थिति पर्यन्त प्रायश्चित्त की परम्परा जारी रखनी ही चाहिए। (315–317)

प्रसंगवश भक्त परिज्ञा (322–511) इंगिनीमरण (512–515) और पादपोपगमन (516–559) नामक तीन प्रकार की मारणान्तिक साधना का विवेचन इसलिए किया गया है कि वर्तमान काल में भी ऐसी कठिन तपस्या का आचरण करने वाले विद्यमान हैं। सामान्य प्रायश्चित्तों का आचरण तो उनको अपेक्षा अत्यन्त सरल है अतः उसका अवलम्बन विच्छिन्न क्यों माना जाए ?

मूल की प्रथम गाथा के भाष्य में आचार्य ने इसके अतिरिक्त अनेक अन्य प्रासंगिक विषयों की विशद चर्चा की है। इसके बाद मूलानुसारी भाष्य है अर्थात् मूल में जहां साधुओं से होने वाले दोष गिनाए हैं और उनकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्तों का विधान है वहां सर्वत्र मूल के एक-एक शब्द की व्याख्या के पश्चात् आवश्यक सम्बद्ध विषयों की चर्चा भी आचार्य ने भाष्य में की है और भाष्य को एक सुविस्तृत एवं विशद ग्रन्थ का रूप दिया है।

मुनिराज श्री पुण्यविजयजी ने भाष्य सहित जीतकल्प का सम्पादन किया है और उसे श्री बबलचन्द केसवलाल मोदी ने अहमदाबाद से प्रकाशित किया है।

---

1 कल्प बृहत्कल्प के नाम से ज्ञात ग्रन्थ है प्रकल्प अर्थात् निशीथ तथा व्यवहार यह व्यवहार सूत्र नाम का ग्रन्थ है ये तीनों आज भी विद्यमान हैं।

गृहस्थाश्रम का त्याग प्रशस्त था और वे राजमान्य थे। उन्होंने अपनी चार स्त्रियों को छोड़कर आचार्य अभयदेव मलधारी के पास दीक्षा ली थी[1]। इससे ज्ञात होता है कि आचार्य हेमचन्द्र मलधारी राजमान्य थे और सम्भव है कि इसके कारण उनका अनेक राजाओं पर प्रभाव पड़ा हो। मुनिसुव्रत चरित्र की प्रशस्ति[2] में श्रीचन्द्रसूरि ने उक्त दोनों आचार्यों का जो प्रभाव अन्तरी जीवन लिखा है वह इतना रोचक और वास्तविक है कि उसके विषय में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं रहती अतः वहीं से उसे उद्धृत करता हूँ —

71–73 भगवान् पार्श्वनाथ के 250 वर्ष बाद तीर्थंकर महावीर हुए जिनका तीर्थ आज भी प्रवर्तमान है। इन अन्तिम तीर्थंकर के नाम से श्री प्रभवाहन कुल में हर्षपुर गच्छ में शाकम्भरी मण्डल में श्री जयसिंहसूरि एक प्रसिद्ध आचार्य हुए। वे गणों के भण्डार थे और आचार परायण थे।

74–76 उनके शिष्य रत्नप्रभ थे जो ज्ञान के समान अभयदेवसूरि हुए। उन्होंने अपने उपदेश रूप शस्त्र से मुरगुप्त (?) का मन आकर्षित कर लिया। उनके गुणगान की शक्ति मुरगुप्त में भी नहीं है फिर मुझ में वह सामर्थ्य कहाँ? फिर भी उनके असाधारण गुणों की भक्ति के अधीन होकर उनके गण माहात्म्य का गान करता हूँ।

77 ऐसा प्रतीत होता है कि उनके उच्च गुणों का अनुसरण करने के निमित्त ही उनका शरीर-परिमाण भी ऊँचा था अर्थात् आचार्य लम्बे और बलिष्ठ थे।

78 उनका रूप देखकर कामदेव भी पराजित हो गया। इसीलिए वह कभी उनके समीप नहीं आया अर्थात् आचार्य सुन्दर भी थे और काम विजेता भी।

79–81 तीर्थंकर रूपी सूर्य के अस्त होने पर भारतवर्ष में लोग संयम मार्ग के विषय में प्रमादी हो गए किन्तु उन्होंने तप नियमादि द्वारा धर्मदीप को प्रदीप्त किया अर्थात् उन्होंने क्रियोद्धार किया।

82 उनके किसी भी अनुष्ठान में कषाय का अन्तांश भी नहीं रहता था। स्वपक्ष तथा परपक्ष के विषय में उनका व्यवहार माध्यस्थपूर्ण था अर्थात् वे सब धर्म सम्पन्न थे।

83 वे आचार्य मात्र एक चोलपट्ट (कटिवस्त्र) तथा एक चादर का ही उपयोग निरीह भाव से करते थे अर्थात् वे अपरिग्रही जैन थे।

84 यशस्वी आचार्य वस्त्र एवं देह में मलधारण करते थे ऐसा ज्ञात होता था कि आभ्यन्तरमल भयभीत होकर बाहर आ गया था।

85 आचार्य रसगृद्धि से भी रहित थे घी के अतिरिक्त उन्होंने शेष सभी विगयों (विकृतियों) का जीवन पर्यन्त त्याग किया था।

86 वे अपने कर्मों की निर्जरा के लिए ग्रीष्म ऋतु में ठीक मध्याह्न के समय मिथ्या दृष्टि के घर भिक्षार्थ आया करते थे।

---

1 जैन साहित्य का इ० पृ 245

2 पाटन जैन भण्डार ग्रन्थ सूची पृ० 314 (गायकवाड सिरीज)

करते हुए अन्त में भोजन का सर्वथा त्याग कर दिया। उनके इस उत्तम व्रत की बात ज्ञात कर परतीर्थिक लोग भी अश्रुपूर्ण नेत्रों से उनका दर्शन करने आने लगे। गजरत्नरत्न नगर में ऐसा कोई भी व्यक्ति न था जो उस समय उनका दर्शन करने न आया हो। शान्तिभद्रादि अनेक सूरि भी शोक सहित उनके पास गए थे।

112–116 भादों के महीने में 13वाँ उपवास होने पर भी किसी की सहायता लिए बिना स्वयं पैदल चल कर राजमान्य तथा निकटस्थ सभी प्रदेशों में सम्मानित सीयम्र (श्रीयक) सेठ की अन्तिमकालीन दर्शन की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए साहिब (शोभित) श्रावक के घर से निकल कर वे उस सेठ के पास गए और दर्शन देकर उसकी मृत्यु को सफल किया। इससे ज्ञात होता है कि आचार्य वस्तुतः दाक्षिण्य के समुद्र और परोपकार रसिक थे। इस सेठ ने आचार्यश्री के उपदेश से धर्मव्रत (कार्य) में बीस हजार द्रम खर्च किये।

117 आचार्य की सल्लेखना का समाचार सुनकर प्रायः समस्त गुजरात के नगरों और गाँवों के लोग उनके दर्शनार्थ आए थे।

118 आचार्य ने 47 दिन के समाधि-पूर्वक अनशन के पश्चात् धर्म ध्यान-परायण रहते हुए शरीर का त्याग किया। चन्दन की पालकी में प्रतिष्ठित कर उनका शरीर बाहर लाया गया। उस समय घर की रक्षा के लिए एक एक आदमी को रखकर सभी लोग उनकी शवयात्रा में भक्ति तथा कौतुक से सम्मिलित हुए। अनेक प्रकार के वाद्यों की ध्वनि से आकाश गूँज उठा था।

119 स्वयं राजा जयसिंह भी अपने परिवार सहित पश्चिम अट्टालिका में आकर इस शवयात्रा का दृश्य देख रहे थे। इस आश्चर्यजनक घटना को देखकर राजा के नौकर परस्पर बात करते थे कि यद्यपि मृत्यु अनिष्ट है तथापि ऐसी विभूति मिले तो वह भी इष्ट ही है।

120–130 शवयात्रा का विमान प्रातः सूर्योदय के समय निकला था और वह मध्याह्न में यथास्थान पहुँचा। वहाँ लोगों ने उसका संस्कार करने के लिए उस पर अनेक प्रकार के वस्त्रों का ढेर लगा दिया। चन्दन की पालकी और इन वस्त्रों सहित ही उनकी देह का दाह संस्कार किया गया। लोगों ने चन्दन और कपूर की ऊपर से वर्षा भी की। आग बुझने पर लोगों ने राख ले ली और राख समाप्त होने पर उस स्थान की मिट्टी भी उठा ली अतः उस जगह पर शरीर परिमाण गड्ढा पड़ गया। इस राख और मिट्टी से मस्तक शूल जैसे अनेक प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं।

131 मैंने भक्तिवश होकर भी इनमें लेश मात्र भी मिथ्या कथन नहीं किया जो कुछ मैंने उनके जीवन में प्रत्यक्ष देखा उसी के एक मात्र अंश का वर्णन किया है।

आचार्य मलधारी हेमचन्द्र ऐसे प्रभावशाली गुरु के शिष्य थे। उनके ही शिष्य श्रीचन्द्रसूरि ने उनका जो परिचय दिया है वह उनके जीवन पर प्रकाश डालता है अतः यहाँ उसे उद्धृत किया जाता है। यह परिचय उक्त प्रशस्ति में ही 14 वाँ अभयदेव के परिचय के अनन्तर वर्णित है।

132 अपने तेजस्वी स्वभाव से उत्तम पुरुषों के हृदयों को आनन्द देने वाले कौस्तुभ मणि के समान श्री हेमचन्द्रसूरि आचार्य अभयदेव के बाद हुए।

133 वे अपने युग में प्रवचन के पारगामी और वचनशक्ति सम्पन्न थे। आपको जैसा शास्त्र तो अपने नाम के समान उनके जिह्वाग्र पर स्थित था।

134 उन्होंने मूल ग्रन्थ विशेषावश्यक, व्याकरण और प्रमाणशास्त्र आदि अन्य विषयों के हजारों ग्रन्थों का अध्ययन किया था।

135 वे राजा और मन्त्री जैसे लोगों में जिनशासन की प्रभावना करने में पराक्रमी और सुन्दर तथा परम कारुणिक थे।

136–137 जब वे मेघ के समान गम्भीर ध्वनि से उपदेश देते तब लोग जिनभवन के बाहर खड़े रह कर भी उनके उपदेश का रसपान करते। वे व्याख्यानलब्धि सम्पन्न थे अतः शास्त्र व्याख्यान के समय जड़ बुद्धि मनुष्य भी सरलता से बोध प्राप्त कर लेते थे।

138–141 सिद्धर्षिगणि ने वैराग्य उत्पन्न करने वाली उपमिति भव प्रपंचा कथा बनाई[3] थी किन्तु उसका समझना अत्यन्त कठिन था। अतः कितने ही समय से कोई व्यक्ति उसका व्याख्यान नहीं करता था। किन्तु जब आचार्य ने उस कथा का व्याख्यान किया तो मुग्ध जन भी उस कथा को समझने लगे और लोग आचार्य से यह विनती करने लगे कि बार बार उस कथा को ही सुनाया जाए। इस प्रकार निरन्तर तीन वर्ष तक आचार्य ने उस कथा का व्याख्यान किया। इसके बाद उस कथा का सब प्रचार हुआ। आचार्य ने जिन ग्रन्थों की रचना की वे इस प्रकार हैं —

142–145 उन्होंने सर्वप्रथम उपदेशमाला मूल तथा भव भावना सूत्र की रचना की। तत्पश्चात् उन दोनों की क्रमशः 14 हजार और 13 हजार श्लोक प्रमाण वृत्ति लिखी। [illegible] जीवसमास और शतक (बन्ध शतक) की क्रमशः छह सात और चार हजार श्लोक प्रमाण वृत्ति लिखी। मूल आवश्यक वृत्ति (हरिभद्र कृत) का टिप्पण पांच हजार श्लोक प्रमाण लिखा। इस टिप्पण की रचना उक्त वृत्ति के विषम स्थलों को स्पष्ट करने के लिए हुई थी। विशेषावश्यक सूत्र की विस्तृत वृत्ति 28000 श्लोक प्रमाण लिखी।

1 –148 इनके व्याख्यान की प्रसिद्धि सुनकर गुजरात के अधिपति जयसिंह स्वयं उपा- [illegible] धर्म-कथा सुनते थे। कई बार दर्शन को [illegible] समय तक वार्तालाप करते रहते। [illegible] और [illegible] ग्रन्थ [illegible] प्रकार [illegible] हुआ। [illegible] है।

1 15– [illegible]

चढवाए तथा धधुका और सत्यपुर (सत्यपुर साचोर) में परतीर्थिक-कृत पीडा का निवारण करवा कर जयसिंह की आज्ञा से उन स्थानों में तथा अन्यत्र रथयात्रा चालू करवाई। पुनश्च जनमन्दिर के भाग की जो आय बन्द हो गई थी उसे चालू करवायी और जो आय राज भण्डार में जमा हो चुकी थी उसे भी राजा को समझा कर वापिस दिलवाई। अधिक क्या कहा जाए! जहाँ-जहाँ जैन धर्म का पराभव हुआ था वहाँ-वहाँ सकडों उपाय कर पुनः जैन धर्म की प्रतिष्ठा की। जैनशासन की प्रभावना के लिए ऐसे ऐसे काम किए कि दूसरे जिनकी कल्पना भी न कर सकें। उन्होंने ऐसा प्रबन्ध करवाया कि कहीं भी कभी किसी साधु का अनादर न हो सके।

163–177 अणहिलपुर नगर से तीर्थ यात्रा के निमित्त निकले हुए संघ ने प्रार्थना कर आचार्य को अपने साथ लिया। इस संघ में विविध प्रकार के 1100 तो वाहन थे और घोड़े आदि जानवरों की संख्या कर तो पार ही न था। इस संघ ने वामणवाडी (वथली) में पड़ाव किया। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि मानो राजा की बहुत बड़ी सेना ने पड़ाव किया हो। श्रावकों ने सोने के बहुमूल्य आभूषण पहन रखे थे। यह सब समृद्धि देख कर सारठ के राजा खेंगार के मन में दुर्भावना उत्पन्न हुई। दूसरों ने भी उसे भड़काया कि सम्पूर्ण अणहिलवाड़ नगर की समृद्धि पुण्य प्रताप से तुम्हारे आँगन में आई है इसलिए इस पर अधिकार कर अपना भण्डार भर लेना चाहिए तुम्हें एक करोड़ का द्रव्य मिलेगा। लोभवश हो उस राजा ने संघ से सारा धन छीन लेने का निश्चय किया किन्तु दूसरी ओर यह कार्य लोक मर्यादा के विरुद्ध था अतः लज्जावश उसने अपने उक्त निर्णय को दबाए रखा। लूँ या न लूँ इस दुविधा में पड़ कर किसी न किसी बहाने वह संघ को आगे नहीं बढ़ने देता था। कहने पर भी वह संघ के किसी भी व्यक्ति से मिलता नहीं था। इस अवधि में उसके किसी स्वजन की मृत्यु हो गई। इस निमित्त आचार्य हेमचन्द्र शोक निवारण के बहाने से राजा के पास गए और उसे समझा कर संघ को मुक्त करवाया। बाद में संघ ने क्रमशः गिरनार तथा शत्रुंजय में नेमिनाथ और ऋषभदेव के दर्शन किए। उस अवसर पर गिरनार तीर्थ में पचास हजार और शत्रुञ्जय में तीस हजार पारुथय (सिक्का) की आय हुई। आचार्य के उपदेश को ग्रहण कर भव्य-जन भाविक श्रावक बन जाते और यथाशक्ति देश विरति अथवा सर्व विरति आचार को ग्रहण करते।

178–179 अन्त में उन्होंने अपने बड़े भ्रमदेव के समान ही मृत्यु समय में आराधना की। अन्तर यह था कि उन्होंने सात दिन का अनशन किया था तथा राजा सिद्धराज स्वयं इनकी शवयात्रा में सम्मिलित हुए थे।

180 उनके तीन गणधर थे—विजयसिंह, श्रीचन्द्र और विबुधचन्द्र। उनमें से श्रीचन्द्रसूरि उनके पट्टधर हुए।

इन श्रीचन्द्र आचार्य ने गुरु के स्वर्गवास के उपरान्त थोड़े ही समय में मुनिसुव्रत चरित लिखा था वह संवत 1193 में पूर्ण हुआ था[1]।

---

1 समय सूचक प्रशस्ति गाथा अशुद्ध है किन्तु बृहट्टिप्पनिका में संवत 1193 का निर्देश है। पाटन भण्डार की सूची की प्रस्तावना देखें—पृष्ठ 22

मलधारी राजशेखर ने उपर्युक्त तथ्यों में यह बात और कही है कि आचार्य ने वर्ष में 80 दिन की अमारी घोषणा राजा सिद्धराज से करवाई थी[1]।

विविध-तीर्थ-कल्प में आचार्य जिनप्रभ ने लिखा है कि [illegible] वसति के निर्माण में आचार्य मलधारी हेमचन्द्र का मुख्य हाथ था।

आचार्य विजयसिंह ने धर्मोपदेशमाला की वृत्तिवृत्ति लिखी है उसकी समाप्ति वि० सं० 1191 में हुई थी। उसकी प्रशस्ति में भी आचार्य विजयसिंह ने अपने गुरु आचार्य हेमचन्द्र मलधारी तथा उनके गुरु आचार्य अभयदेव का परिचय दिया है उससे ज्ञात होता है कि वि० सं० 1191 में आचार्य हेमचन्द्र मलधारी का स्वर्गवास हुए बहुत वर्ष हो चुके थे[2] अतः इस बात को स्वीकार करने में कोई अड़चन दृष्टिगोचर नहीं होती कि अपने गुरु अभयदेव की वि० सं० 1168 में मृत्यु उपरान्त वे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए और लगभग वि० सं० 1180 तक [illegible] को सुशोभित करते रहे। इसका समर्थन इस बात से भी होता है कि उनके ग्रन्थ के अन्त में वर्णित प्रशस्ति में वि० सं० 1177 के बाद के वर्ष का उल्लेख नहीं मिलता।

आचार्य हेमचन्द्र के अपने हाथ से लिखी हुई जीवसमास वृत्ति की प्रति के अन्त में [illegible] ने अपना जो परिचय दिया है उससे प्रतीत होता है कि वे यम नियम स्वाध्याय ध्यान के [illegible] थे [illegible] प्रशस्ति और श्वेताम्बराचार्य भट्टारक थे। यह प्रशस्ति [illegible] के संवत् 1164 में लिखी थी। प्रशस्ति इस प्रकार है —

"[illegible] 6427। संवत् 1164 वर्षे मुनि 4 सोमवासरे श्रीमन्नहिलपाटके समस्त राज [illegible] श्रीमज्जयसिंहदेवकल्याणविजयराज्ये [illegible] श्वेताम्बराचार्य भट्टारक-श्रीहेमचन्द्र [illegible] का लिखा था"

— श्री [illegible] द्वारा ज्ञान भण्डार की प्रति-प्रशस्ति संग्रह अहमदाबाद—पृष्ठ 49

## हे आचार्य मलधारी हेमचन्द्र के ग्रन्थ

[illegible] के आधार पर गणधरवाद का प्रस्तुत अनुवाद [illegible] आधार पर [illegible] इस बात का निर्णय किया [illegible] उन्हें किस क्रम से ग्रन्थों की रचना की है। इस क्रम का सार इस [illegible]—

[illegible]

[illegible] की प्रशस्ति। जैन सा० सं० इ० [illegible]

[illegible]

[illegible] 313

महापुरुष ने मुझे संसार समुद्र पार करने के लिए सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप विशाल नौका में बिठा दिया जिससे मैं उसकी सहायता से शिवरत्नद्वीप (मोक्ष) को सरलता से प्राप्त कर सकूँ।

नौका में बिठाने के बाद उस महापुरुष ने सद्भावना की मंजूषा में रखकर मुझे शुभ मनोरूप एक महान रत्न दिया। उन्होंने साथ ही यह कहा कि जब तक तुम इस शुभ मन रूपी रत्न की रक्षा कर सकोगे तब तक तुम्हारी नौका सुरक्षित रूपेण आगे बढ़कर निर्विघ्न रूप से तुम्हें यथेष्ट स्थान पर ले जाएगी यदि इस शुभ मन की रक्षा नहीं कर सकोगे तो तुम्हारी नौका टूट जाएगी। फिर तुम्हारे पास यह शुभ मनोरूप रत्न है इसलिए मोहराज के सैनिक चोर इसकी चोरी करने के लिए तुम्हारा पीछा करेंगे। तब सम्भव है कि मंजूषा के पल्लिये टूट जाएँ उस समय उस मंजूषा को किसी भी प्रकार से उसके नवीन अंगों का निर्माण कर उस को सुरक्षित रखने की विधि भी गुरु ने मुझे समझा दी। कुछ समय तक मेरे साथ नौका विहार कर वे अन्तर्धान हो गए। यह समाचार प्रमाद नगरी में रहने वाले मोहराज के कानों में पहुँचा। उसी समय उसने अपने सैनिकों को सावधान कर दिया कि अपने शत्रु ने अमुक संसारी जीव को शिवरत्नद्वीप का मार्ग बता दिया है और वह उस मार्ग को जान कर यात्रा करने के लिए आगे बढ़ रहा है यही नहीं उसने अपने आश्रय को मानने वाले अन्य अनेक साथियों को भी अपने साथ लिया है इसलिए वे हमारे इस संसार नाटक को समाप्त न कर दें इस उद्देश्य से तुम लोग शीघ्र ही उनके पीछे दौड़ो ऐसा कह कर वह दुर्बुद्धि-नाव में सवार हुआ और उसके साथी दुर्वासना-नावों में सवार हो गए। मेरी नौका के समीप आने पर तो आसुरी तथा दैवी वृत्तियों का युद्ध प्रारम्भ हुआ। उस समय उन्होंने मेरी सद्भावना मंजूषा के अंग जर्जरित कर दिए अतः उस महापुरुष के उपदेश का अनुसरण करते हुए मैंने उस मंजूषा के नूतन अंगों के निर्माण का संकल्प करके सर्वप्रथम (1) आवश्यक टिप्पण की रचना की उस मंजूषा में जड़ी और तत्पश्चात् क्रमशः मंजूषा के जो नवीन नवीन अंग जड़ित किए वे ये हैं—2 शतक विवरण 3 अनुयोगद्वार वृत्ति 4 उपदेशमाला सूत्र 5 उपदेश माला वृत्ति 6 जीवसमास विवरण 7 भव भावना सूत्र 8 भव भावना विवरण 9 नन्दि टिप्पण 10 विशेषावश्यक विवरण (विशेषावश्यक भाष्य बृहद्वृत्ति)

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि मलधारी हेमचन्द्र ने अपने गुरु की आज्ञा से उक्त दस ग्रन्थ लिखे थे। लिखने में उनका मुख्य उद्देश्य अपने शुभाध्यवसाय को स्थिर रखना था गौण उद्देश्य यह था कि उनके ग्रन्थों को पढ़ कर दूसरे व्यक्ति भी मोक्ष मार्ग की शुद्धि कर शिवनगरी की ओर प्रयाण करें।

उनके ग्रन्थों में जैन सिद्धान्त प्रसिद्ध चारों अनुयोगों का समावेश हो जाता है। उनके ग्रन्थ जैन धर्म के आचार और जैन दर्शन के विचार इन दोनों क्षेत्रों को आच्छादित कर लेते हैं। उन्होंने केवल विद्वद्भोग्य ग्रन्थ ही नहीं लिखे प्रत्युत ऐसे ग्रन्थ भी लिखे जिन्हें सामान्य व्यक्ति भी अपनी भाषा में समझ सके अर्थात् उनकी ग्रन्थ रचना संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में है। अनुयोगद्वार वृत्ति और विशेषावश्यक भाष्य-वृत्ति जैसे गम्भीर ग्रन्थों का भी उन्होंने निर्माण किया तथा साथ ही उपदेशमाला और भव भावना जैसे लोक भोग्य ग्रन्थों का भी स्वोपज्ञ टीका सहित निर्माण किया।

इस प्रशस्ति का भावार्थ यह है कि प्रश्नवाहन कुल के हरिभद्रीय गच्छ में, आचार्य जयसिंहसूरि हुए। उनके शिष्य मलधारी आचार्य अभयदेवसूरि हुए। उनके शिष्य हेमचन्द्रसूरि ने इस वृत्ति की रचना की।

इस ग्रंथ के प्रकरण का अनुवाद के साथ सम्पादन श्रीचन्द्रसूरि के भाई तथा आचार्य मलधारी हेमचन्द्र की वृत्ति के साथ प्रकाशित किया है। उसके अन्त में एक लघु भाष्य भी दिया हुआ है।

### ३ अनुयोगद्वार वृत्ति

अनुयोगद्वार की प्रथम टीका चूर्णि प्राकृत में थी। वह संक्षिप्त भी था। आचार्य हरिभद्र जैसे समर्थ विद्वान ने संस्कृत टीका का निर्माण किया था किन्तु वह भी अधिकतर चूर्णि के अनुवाद रूप और संक्षिप्त थी। अतः अत्यन्त कठिन समझे जाने वाले इस ग्रंथ की एक विस्तृत टीका आवश्यक थी। आवश्यक सूत्र की हरिभद्रीय व्याख्या पर आचार्य मलयगिरि ने पहले टिप्पण लिखा था। उसे अनुभव ने उन्हें प्रेरित किया कि अनुयोगद्वार की हरिभद्रीय व्याख्या का टिप्पण नहीं वरन् स्वतन्त्र व्याख्या लिखी जाए। स्वतन्त्र व्याख्या लिखने पर विस्तार कम होता है अतः इसमें जो विषय आवश्यक प्रतीत हो उसकी स्वतन्त्रतापूर्वक चर्चा करने का अवकाश रहता है। टीका का टिप्पण लिखते हुए यह अवकाश नहीं मिलता। आचार्य की यह कृति श्रेष्ठ से तीसरी है किन्तु उनकी ललित प्रौढ़ता और गहन विषय को सरल बनाकर उपस्थित करने की पद्धति किसी भी पाठक के हृदय में उनकी विद्वत्ता के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करती है। यह टीका अनेक उद्धरणों से व्याप्त है। इससे उनके विशाल अध्ययन का पता चलता है किन्तु यह कहना ठीक नहीं कि केवल विशाल अध्ययन से इस ग्रंथ की टीका लिखने की शक्ति प्राप्त होती है। जैन आगम में प्रतिपादित तत्त्वों के मर्म को हृदयंगम किये बिना और उन तत्त्वों को स्पष्ट कर मन्दमति शिष्यों के हृदय में अंकित करने की कला तथा शक्ति के बिना इस ग्रंथ की टीका करने लगना कठिन वस्तु को और भी कठिनतर करना है। इस टीका का अध्ययन करने वाले से यह बात छिपी नहीं रह सकती कि आचार्य आगमों के मर्मज्ञ थे ही नहीं उस मर्म को सुव्यक्त करने की शक्ति भी उनमें विद्यमान थी। यह बात सत्य है कि अनुयोगद्वार सब आगमों को समझने की कुञ्जी है किन्तु इस कुञ्जी के प्रयोक्ता आचार्य मलधारी जैसे समर्थ विद्वान इस प्रकार की टीका न लिखते तो इस चाबी को जंग लग जाता और समय आने पर आगम का ताला खोलने में यह चाबी असमर्थ रहती।

इस टीका का परिमाण 5900 श्लोक जितना है। यह देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार के 37वें ग्रन्थ रूप में प्रकाशित हुई है।

### ४ उपदेशमाला सूत्र

505 प्राकृत गाथाओं में निबद्ध इस प्रकरण का दूसरा नाम सङ्घपट्टक भी पुष्पमाला दिया है किन्तु स्वयं ग्रन्थकार ने इसका गौण नाम कुसुममाला सूचित किया है।

इस ग्रन्थ में धर्म (ब्रह्मचर्य) तप तथा भाव धर्म का सम्पूर्ण विवेचन किया गया है।

इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ तथा अनुवाद का विवेचन शास्त्रीय अभ्यासियों के लिए उपयोगी है किन्तु इस ग्रन्थ में धर्म के लिए विद्यार्थियों को धर्म का रहस्य समझाता है। आवश्यक

तथा अनुयोग मुख्यत संयमी के लिए लाभदायक ग्रन्थ है जब कि यह उपदेशमाला धर्म के जिज्ञासुओं को यह बात सिखाता है कि उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास के मार्ग पर आगे कैसे बढ़ना चाहिए। इस उपदेशमाला की वस्तुतः आचार शास्त्र की बाल पोथी कहना चाहिए।

5 उपदेशमाला विवरण

उपदेशमाला की यह टीका संस्कृत में लिखी गई है किन्तु उसका अधिकतर भाग प्राकृत गद्य और पद्य की कथाओं द्वारा भरा हुआ है। मूल में आचार्य ने दृष्टान्त का संकेत किया है परन्तु विवरण में उसके सम्पूर्ण कथानकों को कथाकार के रूप से वर्णित कर दिया है अतः इस विवरण का परिमाण खूब बढ़ा हो गया है और वह परिमाण 13868 श्लोक का है। जैन कथा साहित्य के अभ्यासी के लिए यह ग्रन्थ कथा कोष का काम देता है।

आचार्य ने अधिकतर कथानक अन्य ग्रन्थों से उद्धृत किये हैं और कुछ को अपनी भाषा में प्रतिपादित किया है अतः इस ग्रन्थ से अधिकतर कथाओं को उनके प्राचीन रूप में ही सुरक्षित रखने का उद्देश्य पूरा हो जाता है।

आचार्य सिद्धर्षि की रूपक-कथा उपमिति भव प्रपंचा से मलधारी हेमचन्द्र बहुत प्रभावित हुए अतः उन्होंने उससे आध्यात्मिक अर्थ गर्भित कथानक भी इस ग्रन्थ में लिए हैं और प्रारम्भ में ही उसका आभार माना है। विवरण सहित उपदेशमाला रतलाम की श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी की पेढ़ी से प्रकाशित हुई है।

6 जीवसमास विवरण

अथवा जीवसमास वृत्ति नाम का ग्रन्थ आचार्य ने वि० 1164 से पूर्व लिखा होगा। इसका कारण यह है कि उनके हस्ताक्षर वाली वि० 1164 की लिखी हुई एक प्रति खम्भात के शान्तिनाथ भण्डार में विद्यमान[1] है। जीवसमास का कर्ता कौन है? यह ज्ञात नहीं हो सका। इसका लेखक कोई प्राचीन आचार्य होना चाहिए। इससे पहले शीलाचार्य ने भी जीवसमास की टीका लिखी थी[2] इससे उनके समय में भी इस ग्रन्थ का महत्व सिद्ध होता है। आगमोदय समिति ने मूल सहित यह विवरण मुद्रित किया है और उसका गुजराती भाषांतर मास्टर चन्दुलाल नानाचन्द ने प्रकाशित किया है।

जीवसमास—अर्थात जीवों का चौदह गुण-स्थानों में संग्रह। अनुयोग के सत्पद प्ररूपणा आदि आठ द्वारों से जीवसमास का विचार इस ग्रन्थ में मुख्यतः किया गया है। प्रसंगवश अजीव के विषय में भी कुछ वर्णन है तथापि ग्रन्थ रचना का मुख्य प्रयोजन जीवों के गुणस्थान-कृत भेदों पर विचार करना है अतः इसका जीवसमास नाम सार्थक है। आचार्य मलधारी ने पूर्वाचार्य कृत टीकाओं के विद्यमान होने पर भी अपनी प्रकृति के अनुसार नई टीका लिखी इसमें उनका प्रधान लक्ष्य सम्पूर्ण विषय को हस्तामलकवत् स्पष्ट कर देना था। पाठक यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकते कि आचार्य को इसमें पूर्ण सफलता मिली। इस वृत्ति के बहाने आचार्य ने जीव-तत्त्व का सर्वग्राही विवेचन कर दिया है।

---

1 जैन साहित्य सं० इ० पृष्ठ 247

2 विनरत्नकोश देखें।

विषय में कुछ नहीं लिखा। अधिकतर यह टिप्पण भी आवश्यक के समान आचार्य हरिभद्र की नन्दि टीका पर होना चाहिए। नन्दिसूत्र में पाँच ज्ञानों का विवेचन है अतः इस टिप्पण का भी यही विषय होना चाहिए।

**10 विशेषावश्यक विवरण**

यह वही ग्रन्थ है जिसके एक प्रकरण के आधार पर प्रस्तुत अनुवाद किया गया है। आवश्यक सूत्र के सामायिक अध्ययन तक का भाष्य आचार्य जिनभद्र ने लिखा था। इस भाष्य की स्वोपज्ञ आदि अनेक टीकाएँ थीं किन्तु आचार्य मलधारी की टीका की रचना के बाद वे सभी टीकाएँ उपेक्षित हो गईं। यही कारण है कि इसकी प्रति अनेक भण्डारों में उपलब्ध है। यह टीका विशद और सरल है और दार्शनिक विषयों को अत्यन्त स्पष्ट करती है अतः अन्य टीकाओं की अपेक्षा इसका महत्त्व बढ़ गया है। अन्य टीकाएँ अत्यन्त संक्षिप्त हैं और यह अति विस्तृत है इसलिए इसका बृहद्वृत्ति यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ किन्तु ग्रन्थकार ने तो इसे वृत्ति ही कहा है।

वि० सं० 1175 की कार्तिक सुदि पंचमी के दिन आचार्य ने इस वृत्ति को पूर्ण किया इसका परिमाण 28000 श्लोक जितना है।

यह वृत्ति यशोविजय ग्रन्थ माला में प्रकाशित हुई है और इसका गुजराती भाषान्तर आगमोदय समिति ने दो भागों में प्रकाशित किया है।

इस वृत्ति के लेखनकार्य में जिन व्यक्तियों ने आचार्य मलधारी को सहायता प्रदान की थी उनके नामों का निर्देश आचार्य ने ग्रन्थ के अन्त में किया है वह इस प्रकार है —

1 अभयकुमारगणि 2 धनदेवगणि 3 जिनभद्रगणि 4 लक्ष्मणगणि तथा 5 विबुधचन्द्र नामक मुनि और 1 श्री महानन्दा तथा 2 महत्तरा श्री वीरमति गणिनी नाम की साध्वियाँ।

इस ग्रन्थ के अन्त में भी वही प्रशस्ति दी गई है जो बृहच्छतक-वृत्ति के अन्त में है केवल उपान्त्य श्लोक में शतकवृत्ति के स्थान पर प्रकृतवृत्ति लिखा है और अन्तिम श्लोक नया रचा है जिसमें लेखनकाल वि० सं० 1175 दिया गया है।

## 9 गणधरों का परिचय

आगमों में गणधरों के सम्बन्ध में बहुत ही कम उल्लेख हैं। समवायांग सूत्र में गणधरों के नामों तथा आयु के विषय में बिखरी हुई बातें उपलब्ध हैं[1]। कल्पसूत्र में भगवान् महावीर का जीवन चरित वर्णित है किन्तु उसमें गणधरवाद का कोई भी उल्लेख नहीं है। कल्पसूत्र की टीकाओं में गणधरवाद के प्रसंग का वर्णन है। कल्पसूत्र में स्थविरावलि[2] के प्रकरण में कहा है कि भगवान् महावीर के नव गण और ग्यारह गणधर थे। उसके स्पष्टीकरण में कल्पसूत्र में 11 गणधरों के नाम गोत्र तथा गणधर का शिष्य सम्बन्ध

1 समवायांग–11 74 78 92 इत्यादि।

2. कल्पसूत्र (कल्पलता) पृ 215

| संख्या | नाम | पिता | माता | जाति | गोत्र | धन्धा | जन्म नगर | जन्म नक्षत्र | [illegible] |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| 1 | [illegible]भूति | वसुभूति | पृथ्वी | [illegible] | गौतम | [illegible] | मगधस्थ गोबर | ज्येष्ठा | [illegible] |
| 2 | अग्निभूति | | | | | | | कृत्तिका | 46 |
| 3 | वायुभूति | | | | | | | स्वाति | 4 |
| 4 | [illegible] | [illegible] | [illegible] | | भारद्वाज | | कोल्लाग सन्निवेश | श्रवण | 50 |
| 5 | [illegible] | [illegible] | मंडिता | | अग्नि वैश्यायन | | | हस्तोत्तर | 50 |
| 6 | [illegible] | [illegible] | विजयन्ती | | वासिष्ठ | | मोरीय सन्निवेश | मघा | 53 |
| | [illegible] | [illegible] | | | [illegible] | | | रोहिणी | 65 |
| 8 | [illegible] | [illegible] | [illegible] | | गौतम | | मिथिला | उत्तरा फाल्गुनी | 43 |
| 9 | [illegible] | [illegible] | [illegible] | | [illegible] | | [illegible] | मूलनक्षत्र | 45 |
| 10 | [illegible] | [illegible] | [illegible] | | कौण्डिन्य | | [illegible] | [illegible] | 36 |
| 11 | [illegible] | [illegible] | [illegible] | | | | राजगृह | पुष्य | 15 |

| छद्मस्थ पर्याय | केवल पर्याय | सर्वायु | शिष्य | शिष्य परम्परा | निर्वाण भूमि | संस्थान | संघयण | निर्वाण समय | शास्त्र | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| 30 | 12 | 92 | 500 | × | राजगृह | समचतुरस्र | वज्रऋषभ नाराच | महावीर के बाद | बारह अंग चौदह पूर्व | ये तीनों सगे भाई थे। |
| 12 | 16 | 74 | 500 | × | | | | महावीर से पहले | | |
| 10 | 18 | 70 | 500 | × | ,, | | | | | |
| 12 | 18 | 80 | 500 | × | | | | | | |
| 42 | 8 | 100 | 500 | जम्बू स्वामि | | | | महावीर के बाद | | |
| 14 | 16 | 83 | 350 | × | | | | महावीर से पहले | | ये दोनों एक ही माता परन्तु भिन्न भिन्न पिता के पुत्र थे। |
| 14 | 16 | 95 | 350 | × | | | | | | |
| 9 | 21 | 78 | 300 | × | | | | | | |
| 12 | 14 | 72 | 300 | × | | | | | | |
| 10 | 16 | 62 | 300 | × | | | | | | |
| 8 | 16 | 40 | 300 | × | | | | ,, | | |

सकल संघ उन्हें वाद का रूप प्रदान किया है। उसी का अनुसरण कर आवश्यक निर्युक्ति तथा कल्पसूत्र के टीकाकारों ने भी उस प्रसंग पर वाद की रचना की है। यह समस्त वाद प्रस्तुत ग्रन्थ में दिया हुआ गया है अतः उसका विशेष विवेचन यहाँ अनावश्यक है।

गणधरों के जीवन के सम्बन्ध में जो नई बातें वाद के साहित्य में उपलब्ध होती हैं उनका निर्देश कर यह प्रकरण पूरा करूँगा।

आचार्य हेमचन्द्र ने उस समय में सुलभ कथानुयोग का संग्रह कर त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र लिखा था। अतः उसमें वर्णित संख्या के आधार पर ही यहाँ कुछ लिखना उचित है। उसमें भी इन्द्रभूति गौतम के अतिरिक्त अन्य गणधरों के विषय में कोई विशेष बात दृष्टिगोचर नहीं होती अतः इन्द्रभूति गौतम के जीवन की वर्णनीय बातों का ही यहाँ प्रतिपादन किया जाता है।

छद्मावस्था में सुदंष्ट्र नामक नागकुमार ने भगवान को उपसर्ग किया था। वह वहाँ से मरकर एक किसान बना था। उस सुलभ बोधि जीव देखकर भगवान ने गौतम इन्द्रभूति को उस किसान के पास उपदेश देने के लिए भेजा। गौतम ने उसे उपदेश देकर दीक्षा दी। तत्पश्चात् गौतम अपने गुरु भगवान महावीर के अतिशयों का वर्णन करके उसे उनके पास ले जाने लगे। भगवान महावीर को देखते ही किसान के मन में पूर्वभव के वैर के कारण उनके प्रति घृणा उत्पन्न हुई और वह यह कहकर चलता बना कि यदि यहाँ तुम्हारे गुरु हैं तो मुझे आने का कोई प्रयोजन नहीं। इसका कारण पूछने पर भगवान् ने गौतम को अपने पूर्वभव का सम्बन्ध बताते हुए कहा मैंने त्रिपृष्ठ के भव में जिस सिंह को मारा था उसी का जीव यह किसान है। उस समय क्रोध से उद्दीप्त उस सिंह को तुमने मेरे सारथि के रूप में आश्वासन दिया था इसी से वह सिंह तब से तुम्हारे प्रति स्नेहशील और मेरे प्रति द्वेष-युक्त बना। पर्व 10 सर्ग 9

इस घटना का मूल मालूम करना हो तो वह भगवती सूत्र में मिल जाता है। वहाँ भगवान ने गौतम से स्वयं कहा है कि हमारा सम्बन्ध कोई नया नहीं किन्तु पूर्वजन्म से चला आता है। सम्भव है कि इस या अन्य किसी ऐसे उल्लेख को आधार बनाकर कथाकारों ने महावीर और गौतम का उक्त कथा में निर्दिष्ट सम्बन्ध जोड़ा हो।

इसी प्रकार अभयदेव आदि टीकाकार भगवती के इसी प्रसंग को गौतम के लिए आश्वासन रूप समझते हैं। उसके अनुसंधान में जिस कथा की रचना की गई है वह यह है— गौतम ने पृष्ठ चम्पा के नागवंशी राजा को उसके माता पिता के साथ दीक्षा दी थी और वे सब भगवान को वन्दना करने के लिए पृष्ठ चम्पा से चम्पा जा रहे थे। इसी अवधि में उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई किन्तु गौतम को इस बात का पता न था अतः जब भगवान की प्रदक्षिणा करके वे केवली परिषद् में बैठने लगे तब गौतम कहने लगे प्रभु को वन्दना तो करो। यह सुनकर भगवान ने गौतम से कहा तुमने केवली की आशातना की है तब गौतम ने प्रायश्चित्त किया किन्तु उनके मन में दुःख हुआ कि जब मेरे शिष्यों को केवलज्ञान हो जाता है तो मुझे क्यों नहीं होता[1]?

---

1 त्रिषष्टि० पर्व 10 सर्ग 9

[illegible] गौतम [illegible] वापिस [illegible] गौतम [illegible] तापसों को भी गौतम के प्रति भक्ति के अतिरेक से उत्पन्न [illegible] भगवान के मात्र मुख दर्शन से केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। [illegible] ही घटना घटित हुई। [illegible] गौतम को विचार हुआ कि [illegible] नहीं होता? इस प्रसंग पर भगवान ने गौतम को [illegible] कि [illegible] समान बनाया।

कथाकार की तथा प्रायः सभी आचार्यों की मान्यता है कि गौतम के हृदय में भगवान के प्रति जो दृढ़ राग था वह उनके केवलज्ञान की प्राप्ति में बाधक था। जिस क्षण वह दूर हुआ उसी क्षण उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। यह क्षण भगवान के निर्वाण के बाद का था। उस प्रसंग का वर्णन करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि उसी रात को अपना मोक्ष जान कर प्रभु ने विचार किया कि मेरे प्रति गाढ़ राग के कारण ही गौतम को केवलज्ञान नहीं होता अतः इस राग के उच्छेद का उपाय करना चाहिए। यह सोचकर उन्होंने गौतम को एक निकटस्थ गाँव में देवशर्मा को प्रतिबोधित करने के निमित्त भेज दिया। उनके वापिस आने से पूर्व ही भगवान का निर्वाण हो गया। भगवान के निर्वाण का सुनकर गौतम को पहले तो दुःख हुआ कि अन्तिम समय में भगवान ने मुझे अपने से दूर क्यों किया किन्तु अन्त में उन्होंने विचार किया कि मैं ही अब तक भ्रान्ति में ग्रस्त था। निर्मम तथा वीतराग प्रभु में मैंने राग और ममता रखी मेरा राग और मेरा ममत्व ही बाधक है। इस विचार श्रेणी पर चढ़ते चढ़ते उन्हें केवलज्ञान हो गया[1]।

वस्तुतः उक्त सभी कथाओं की उत्पत्ति भगवती सूत्र के उक्त एक ही प्रसंग के आधार पर हुई ज्ञात होती है। कारण यह है कि उसमें विशेषरूपेण यह बात कही गई है कि गौतम का भगवान के प्रति दृढ़ अनुराग था उन दोनों का पूर्व जन्म में भी सम्बन्ध था और वे दोनों भविष्य में भी एक मार्ग होने वाले थे[2]।

## 10 विषय प्रवेश

शैली—

प्राचीन उपनिषदों में अथवा भगवद्गीता में जिस प्रकार की संवादात्मक शैली दिखाई देती है अथवा जैन आगमों एवं बौद्ध त्रिपिटक में जिन विविध संवादों की रचना की गई है उसी प्रकार के संवादों की रचना कर आचार्य जिनभद्र ने गणधरवाद के प्रकरण की रचना नहीं की परन्तु उस समय के प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थों में जिस शैली में दर्शन के विविध विषयों की चर्चा की जाती थी, उसी शैली का आश्रय प्रस्तुत गणधरवाद के लिखने में लिया गया

---

1 विशेष० पत्र 10 सूत्र 13

2 भगवती सूत्र 14 7

था। इस जगह का
हो है किन्तु साथ
सम्भावना हो
कर लिया जाता
करते हैं।
की बात
बताया
साथ
की

[illegible] किया गया है कि सब प्रकारान्तर परम्परा
[illegible] के विषय में सबसे बड़ा बाह्य प्रमाण तो यह
[illegible] सूत्र में इस विषय में सकल तत्त्व भी नहीं है अतः
[illegible] है उसका निर्णय आवश्यक है। बहुत सम्भव है कि
[illegible] समय चर्चा प्रश्न दार्शनिक विषयों को उठाकर
[illegible] कर लिया हो। सामान्यतः दार्शनिक चर्चा [illegible] में
[illegible] आचार्य भद्रबाहु ने इन [illegible] का
[illegible] करने का कौशल दिखाया है यह बात मानने में औचित्य

[illegible] दिगम्बर ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं गणधरों की आवाज
[illegible] है। इससे भी यह बात कही जा सकती है कि आचार्य
[illegible] भी इन मान्यताओं ने अपनी जड़ें जमा दी थीं[1]।
[illegible] बात निश्चित है कि गणधरों के मत की भिन्नता वाचना के परम्परा
[illegible] आधार पर ही बताई गई है और भगवान महावीर [illegible]
[illegible] यथार्थ अर्थ करके उनका समाधान करते हैं यह बात
[illegible] का दर्शन कर सकते हैं जो जैन धर्म की सर्व-समन्वय
[illegible] के विषय में यह बात देखा जाता है कि जब [illegible]
[illegible] करना होता है तो वे [illegible] के मत के खण्डन की
[illegible] अपनी परम्परा के ही प्रमाण रखते हैं। ऐसी स्थिति
[illegible] रहते हैं कि दोनों में अपने मत का [illegible]
[illegible] में अधिकतर ऐसी बात दिखाई देती है किन्तु यहाँ इसमें
[illegible] है। इसमें दोनों पक्ष के आधार पर ही [illegible]
[illegible] है। प्रतिपक्षी को पराजित कर विजय प्राप्त करने की भावना के
[illegible] प्राप्त करने की भावना यहाँ मुख्य है [illegible]
[illegible] बनाते हैं और उसके समर्थन में भी [illegible]
[illegible] के कारण [illegible] महावीर की [illegible]
[illegible] का [illegible] किया गया है। इससे [illegible]
[illegible] एक और बात की सिद्धि हो [illegible] है कि [illegible]
[illegible] की [illegible]
[illegible]

[illegible]

[illegible]

आचार्य जिनभद्र और टीकाकार हेमचन्द्र के मत में जो शाब्दिक अर्थ में उन शब्दों की शैली का प्रभाव इन दोनों [illegible] पर पड़ा है। शंका उपस्थित करने वाले दोनों पक्षों की सबलता बताना आवश्यक है अन्यथा शंका का उत्थान ही सम्भव नहीं। प्राचीन दार्शनिक सूत्र भाष्य ग्रन्थों में भी विरोधी पक्षों की सम्यक् समीक्षा का उल्लेख कर शंका उपस्थित करने की परम्परा थी। वहीं से ही प्रेरणा प्राप्त कर प्रस्तुत प्रकरण में भी गणधरों की शंकाओं को उसी प्रकार उपस्थित किया गया है। तत्पश्चात् उन सूत्रों से समाधान किया जाता था वैसे ही यहाँ आचार्य जिनभद्र महावीर द्वारा शंका का समाधान करवाते हैं।

मूल भाष्य और टीका की शैली इसी प्रकार की है किन्तु प्रस्तुत गुजराती भाषान्तर में इस शैली का रूपान्तर संवादात्मक शैली में कर दिया गया है यह बात पहले ही कही जा चुकी है।

**शंका का आधार**

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि भगवान महावीर से प्रथम परिचय के समय प्रत्येक गणधर के मन में जीवादि विषयक संशय होने की बात का सर्वप्रथम कथन हमें आवश्यक निर्युक्ति में ही उपलब्ध होता है। आगम में तत्सम्बन्धी कोई निर्देश नहीं है। आचार्य भद्रबाहु ने गणधरों के मन की शंकाओं का निर्माण किया है अथवा इस विषय में उन्हें भी परम्परा से कुछ प्राप्ति हुई है इस बात का निश्चित निर्णय करने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है। आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति के प्रारम्भ में यह बात स्वीकार करते हैं कि उन्हें सामायिक की निर्युक्ति आचार्य परम्परा से जिस प्रकार[3] प्राप्त हुई है उसी प्रकार वे कहेंगे

---

1 गाथा 1869

2 न्याय-सूत्र व भाष्य 2 2 40 2 2 58, 3 1 19, 3 1 33 2 2 13, 3 1 1 ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य 1 1 28 आदि।

3 आ० नि० गाथा 8।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आगम जो कुछ लिखा गया है वह सब आरंभ से परम्परा से प्राप्त हुआ है। प्रस्तुत गणधरों की मान्यताओं के विषय में सबसे बड़ा बाधक प्रमाण तो यह है कि चौदह पूर्वधर भद्रबाहु-कृत आवश्यक सूत्र में इस विषय में संकेत तक भी नहीं है अतः इस सम्बन्ध में जो सम्भावना प्राप्त होती है उसका लिखना आवश्यक है। बहुत सम्भव है कि आगम के उपसंहार अध्याय के परिणाम स्वरूप उस समय चर्चा प्राप्त दार्शनिक विषयों को उन्होंने गणधरों की शंका के बहाने व्यवस्थित कर लिया हो। सामान्यतः दार्शनिक चर्चा ब्राह्मणों में हुआ करती थी। ब्राह्मणों के ग्रन्थ शास्त्र बन गये अतः आचार्य भद्रबाहु ने इन शंकाओं का सम्बन्ध भी वेद के वाक्यों में स्थापित करने का कौशल दिखाया है यह बात मानने में औचित्य की क्षति नहीं पड़ती।

आचार्य भद्रबाहु के परवर्ती दिगम्बर ग्रन्थों में भी कहीं कहीं गणधरों की जीवादि सम्बन्धी शंकाओं का उल्लेख मिलता है। इससे भी यह बात कही जा सकती है कि आचार्य भद्रबाहु के समय तथा उनके उपरान्त भी इन मान्यताओं ने गहरी जड़ें जमा दी थीं[1]।

कुछ भी हो किन्तु एक बात निश्चित है कि गणधरों के मत की शंका वेद के परस्पर विरोधी अर्थ वाले वाक्यों के आधार पर ही बनाई गई है और भगवान महावीर उन्हें तर्क द्वारा और तत्त्वज्ञान् वेदवाक्यों का ही यथार्थ अर्थ करके उनका समाधान करते हैं यह बात महत्त्वपूर्ण है। इस से हम उस भावना का दर्शन कर सकते हैं जो जैन धर्म की सर्व-समन्वय शील भावना है। सामान्यतः दार्शनिकों के विषय में यह बात देखी जाती है कि जब उन्हें अपनी मान्यता की बात का प्रतिपादन करना होता है तो वे प्रतिपक्षी के मत के खण्डन की ओर ही दृष्टि रखते हैं और अपने सम्मुख अपनी परम्परा के ही प्रमाण रखते हैं। ऐसी स्थिति में चर्चा के अन्त में दोनों वहीं के वहीं रहते हैं क्योंकि दोनों में अपने मत का आग्रह होता है। भारतीय सभी दर्शनों के विषय में अधिकतर यही बात दिखाई देती है किन्तु यहाँ इससे विपरीत मार्ग का आश्रय लिया गया है। इसमें दोनों पक्ष वेद के आधार पर ही लिए गये हैं और दया भी वीतराग कथा है। प्रतिपक्षी को पराजित कर विजय प्राप्त करने की भावना के स्थान पर प्रतिपक्षी को सम्बुद्धि प्रदान करने की भावना यहाँ मुख्य है अतः भगवान महावीर वेद-वाक्यों का ही यथार्थ अर्थ बताते हैं और उसके समर्थन में भी अन्य वेद वाक्य ही उपस्थित करते हैं। प्रतिपक्षी अपनी वेद भक्ति के कारण भी शीघ्र ही भगवान महावीर की बात मानने इस योजना से इस व्यवहार-कुशलता का दिग्दर्शन कराया गया है। इसमें भगवान् महावीर की पूर्ण सफलता भी मिली है। इससे एक और बात भी सिद्ध होती है वह यह है कि किसी भी शास्त्र का सर्वथा तिरस्कार करने की अपेक्षा उस शास्त्र का युक्ति युक्त अर्थ निकाल कर उपयोग करने की भावना का प्रचार करना चाहिए। आचार्य की यह अभिरुचि जन-दृष्टि का ही अनुसरण करने वाली है। नन्दी सूत्र में कहा है कि महाभारत जैसे शास्त्र एकान्त मिथ्या अथवा एकान्त-सम्यक् नहीं किन्तु जो मनुष्य उसे पढ़ता है उसकी दृष्टि के अनुसार उसका परिणमन होता है अर्थात् जो वाचक सम्यग्-दृष्टि है वह स्वयं उस शास्त्र को पढ़कर उसका उपयोग निर्वाण मार्ग में करता है अतः उसके लिये वह शास्त्र सम्यक् है। किन्तु यदि मिथ्या-दृष्टि

1 महापुराण (पुष्पदन्त) 97 6 त्रिलोक प्रज्ञप्ति 1 76–79

वाला श्रावक इस शास्त्र को पढ़ता है तो वह अपनी शक्ति के कारण उसका उपयोग अपने वर्ग के लिए करता है और उसके लिए वह शास्त्र मिथ्या है[1]।

नियतिवादी ने पंचों का आधार बनाकर वाक्य बनाए हैं किन्तु आचार्य जिनसेन ने दोषवादियों ने जिन वाक्यों के आधार पर शास्त्रों की उत्पत्ति बताई है वे प्रायः उपनिषदों के ही हैं। भगवान महावीर के समय में उपनिषदों का निर्माण हो गया था अतः इन शास्त्रों में शंकाओं के विषयों की चर्चा उपनिषदों में है या नहीं इस विषय पर प्रकाश डाला जाएगा। उपनिषद् वेदों के ही परिशिष्ट हैं अतः उन्हें वेद कहना अनुचित नहीं।

**शंका स्थान**

गणधरों के मत में जिन विषयों के सम्बन्ध में संदेह था वे क्रमशः ये हैं —

1 जीव का अस्तित्व 2 कर्म का अस्तित्व
3 तज्जीव तच्छरीर अर्थात् जीव और शरीर एक ही हैं
4 भूतों का अस्तित्व
5 इस भव और पर भव का साम्य 6 बंध मोक्ष का अस्तित्व
7 स्वर्ग का अस्तित्व 8 नारकों का अस्तित्व
9 पुण्य पाप का अस्तित्व 10 परलोक का अस्तित्व
11 निर्वाण का अस्तित्व

इन 11 शंका स्थानों को यदि हम गौण मुख्य भाव से विभाजित करें तो 1 भूतों का अस्तित्व 2 जीव का अस्तित्व 3 कर्म का अस्तित्व 4 बंध का अस्तित्व 5 निर्वाण का अस्तित्व और परलोक का अस्तित्व ये छः शंका स्थान मुख्य हैं और शेष इनके ही अवान्तर शंका-स्थान हैं।

उन छः शंका स्थानों का भी संक्षेप करना हो तो जीव भूत और कर्म इन तीन में हो सकता है और शंकाओं का समाधान जीव तथा कर्म में हो सकता है। कारण यह है कि कर्म और भूत का है। तात्पर्य यह है कि जीव और कर्म के सम्बन्ध के आधार पर ही बंध विषयक प्रश्न और उनके विचार से ही बंध की मोक्ष की प्राप्ति होती है। बंध की तरतमता के आधार पर ही नरक नारक की कल्पना है परलोक की कल्पना में पुण्य पाप की कल्पना है। इस भव और परभव में साम्य है या नहीं? इस शंका का आधार भी जीव और कर्म का सम्बन्ध ही है। [illegible] में अवतार और मोक्ष की कल्पना भी जीव और कर्म की कल्पना पर आधारित है। [illegible] यह प्रश्न है कि जीव और कर्म का अस्तित्व है या नहीं? इस मुख्य प्रश्न के साथ [illegible] का विचार सम्बद्ध है अतः इस विषय प्रकरण में आगे कर्म और परलोक इन [illegible] के [illegible] अवान्तर शंकाओं का प्रतिपादन करने का विचारणा [illegible] है।

1 [illegible] पृ० 3

## (अ) आत्म विचारणा

### 1 अस्तित्व

प्रथम गणधर इन्द्रभूति ने जीव के अस्तित्व के विषय में शंका उपस्थित की है और तृतीय गणधर वायुभूति ने जीव शरीर से भिन्न है अथवा नहीं इस सम्बन्ध में सन्देह प्रस्तुत किया है। इसलिए स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन दोनों शंकाओं में क्या अन्तर है? इस प्रश्न का उत्तर हम दोनों गणधरों के साथ होने वाले वाद में मिल जाता है। जब हम किसी भी विषय पर विचार करना प्रारम्भ करते हैं तब सर्वप्रथम उसके अस्तित्व का प्रश्न विचारणीय होता है तत्पश्चात ही उसके स्वरूप का प्रश्न सामने आता है। इसी नियम के अनुसार यहाँ भी जीव का अस्तित्व है या नहीं इस विषय पर मुख्य रूप से विचार किया गया है। इन्द्रभूति का कथन था कि किसी भी प्रमाण से जीव को सिद्ध नहीं किया जा सकता किन्तु भगवान महावीर ने बताया कि प्रमाण द्वारा जीव की सिद्धि शक्य है। इस प्रकार जीव का अस्तित्व सिद्ध हुआ परन्तु जीव का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर भी यह प्रश्न विद्यमान रहता है कि उसका स्वरूप कैसा माना जाए? शरीर को ही जीव क्यों न मान लिया जाए? तृतीय गणधर वायुभूति ने इस विवाद का प्रारम्भ किया। तात्पर्य यह है कि प्रथम और तृतीय गणधरों की चर्चा का विषय प्रधानतः जीव का अस्तित्व एवं उसका स्वरूप रहा है। इस विषय पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम जीव के अस्तित्व के सम्बन्ध में भारतीय दर्शनों की विचारणा पर दृष्टिपात कर लें।

ब्राह्मणों एवं श्रमणों की बढ़ती हुई आध्यात्मिक प्रवृत्ति के कारण आत्मवाद के विरोधी लोगों का साहित्य सुरक्षित नहीं रह सका। ब्राह्मणों ने अनात्मवादियों के सम्बन्ध में जो भी उल्लेख किए हैं वे केवल प्रासंगिक हैं और उनके आधार पर ही वैदिक-काल से लेकर उपनिषद् काल तक की उनकी मान्यताओं के विषय में कल्पनाएं की जा सकती हैं। उसके बाद हम जैन आगम और बौद्ध त्रिपिटक के आधार पर यह मालूम कर सकते हैं कि भगवान महावीर और बुद्ध के समय तक अनात्मवादियों की क्या मान्यताएं थीं। दार्शनिक टीका-ग्रन्थों के प्रमाण से यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक सूत्रों के रचना-काल में अनात्मवादियों ने अपनी मान्यताओं का प्रतिपादन बृहस्पति सूत्र में किया किन्तु दुर्भाग्यवश वह मूल ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। ऐसी परिस्थिति में अनात्मवादियों से सम्बन्ध रखने वाली सामग्री का आधार मुख्यतः विरोधियों का साहित्य ही है अतः उसका उपयोग करते समय विशेष सावधानी की आवश्यकता है क्योंकि विरोधियों द्वारा किए गए वर्णन में न्यून या अधिक मात्रा में एकाङ्गीपन की सम्भावना रहती ही है।

अनात्मवादी चार्वाक यह नहीं कहते कि आत्मा का सर्वथा अभाव है। किन्तु उनकी मान्यता का सार यह है कि जगत के मूलभूत एक या अनेक जितने भी तत्त्व हैं उनमें आत्मा कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। दूसरे शब्दों में उनके मतानुसार आत्मा मौलिक तत्त्व नहीं है। इस तथ्य को दृष्टि सम्मुख रखते हुए न्यायवार्तिककार उद्योतकर ने कहा है कि आत्मा के अस्तित्व

के विषय में [illegible] आत्मा के [illegible] स्वरूप में है। [illegible] कोई शरीर को ही आत्मा मानता है, कोई बुद्धि को, कोई इन्द्रिय या मन को और कोई मन को [illegible] मानता है। [illegible] ऐसे भी व्यक्ति हैं जो इन सबसे पृथक् स्वतन्त्र आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

जब तक मनुष्य में विचार शक्ति का समुचित विकास नहीं होता तब तक वह दृष्टि रखता है और जब तक उसकी दृष्टि बाह्य विषयों तक सीमित रहती है तब तक इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य तत्त्वों को ही मौलिक तत्त्व मानने के लिए उत्सुक रहता है। यही कारण है कि हम उपनिषदों में एक अनेक विचारक दृष्टिगोचर होते हैं जिनके मत में जल[1] अथवा वायु[2] जैसे इन्द्रिय ग्राह्य भूत विश्व के मूलभूत तत्त्व हैं। उन्होंने आत्मा अथवा किसी चेतन को भूत तत्त्वों में स्थान प्रदान नहीं किया किन्तु इन भौतिक भूत तत्त्वों में ही आत्मा अथवा चेतन जैसी वस्तु की सृष्टि को स्वीकृत किया है। इस बात की विशेष सम्भावना है कि जब बाह्य दृष्टि का त्याग कर मनुष्य ने विचार क्षेत्र में पदार्पण किया तब इन्द्रिय ग्राह्य तत्त्वों को मौलिक तत्त्व न मान कर उसने अन्न[3] मन अथवा आकाश[4] जैसे तत्त्वों को मौलिक तत्त्व के रूप में मान्य किया हो जो बुद्धि ग्राह्य होने पर भी अग्राह्य थे और यह भी सम्भव है कि उसने इस प्रकार के अतीन्द्रिय तत्त्वों से ही आत्मा की उत्पत्ति की हो।

जब विचारक की दृष्टि बाह्य तत्त्वों से हट कर आत्माभिमुख हुई—अर्थात् जब वह विश्व के मूल को बाहर न देख कर अपने अन्तर में ही ढूंढने लगा—तब उसने प्राण तत्त्व को मौलिक मानना शुरू किया[5]। इस प्राण तत्त्व के विचार से ही वह ब्रह्म अथवा आत्मा तक पहुँच गया।

आत्मा के लिए प्रयुक्त होने वाले विविध नामों से भी आत्म विचारणा की उत्क्रान्ति के उपर्युक्त इतिहास का समर्थन होता है। आचाराङ्ग सूत्र में जीव के लिए भूत सत्त्व प्राण जैसे शब्दों का प्रयोग आत्म विचारणा की उत्क्रान्ति का सूचक है।

हमारे पास ऐसे साधन नहीं हैं जिनसे यह ज्ञात हो सके कि इस उत्क्रान्ति में कितना समय लगा होगा? कारण यह है कि उपनिषदों में जिन विविध मतों का उल्लेख है वे कब और कैसे आविर्भूत हुए ऐसा कथन शक्य नहीं है। हाँ हम यह मान सकते हैं कि इन मतों की परम्परा मौखिक रूप से चली आ रही थी और उपनिषदों में उसका संग्रह कर दिया गया।

---

1 वायवीय पृष्ठ 366
2 बृहदारण्यक 5 5 1
3 छान्दोग्य 4 [illegible]
4 छान्दोग्य 3 19 1 तैत्तिरीय 2 7
5 छान्दोग्य 6 2
6 छान्दोग्य 1 9 1 7 12
7 छान्दोग्य 1 11 5 4 3 3 3 15 4

उपनिषदों के आधार पर हमने यह देखा कि प्राचीन काल के अनात्मवादी जगत के मूल में केवल किसी एक तत्त्व को ही मानते थे। हम उन्हें अद्वैतवाद की श्रेणी में रख सकते हैं और उनकी मान्यता को अनात्मवाद का साधक नाम भी दे सकते हैं क्योंकि उनके मतानुसार आत्मा को छोड़कर अन्य कोई एक ही पदार्थ विश्व के मूल में विद्यमान है। यह कहा जा चुका है कि अनात्मवाद की इस परम्परा से ही क्रमशः आत्माद्वैत की मान्यता का विकास हुआ।

प्राचीन जैन आगम पालि त्रिपिटक और सांख्यदर्शन आदि ये बात के साक्षी हैं कि दार्शनिक विचार की इस अद्वैत धारा के समानान्तर द्वैत धारा भी प्रवाहित थी। जैन बौद्ध और सांख्य-दर्शन के मत में विश्व के मूल में केवल एक चेतन अथवा अचेतन तत्त्व नहीं अपितु चेतन एवं अचेतन ऐसे दो तत्त्व हैं यह बात इन दर्शनों ने स्वीकृत की है। जैनों ने उन्हें जीव और अजीव का नाम दिया सांख्यों ने पुरुष और प्रकृति कहा तथा बौद्धों ने उसे नाम और रूप कहा।

उक्त दोनों विचार धारा में चेतन और उसका विरोधी अचेतन इस प्रकार दो तत्त्व माने गए इसीलिए उसे द्वैत-परम्परा का नाम दिया गया है किन्तु वस्तुतः सांख्यों और जैनों के मत में व्यक्ति भेद से चेतन अनेक हैं वे सब प्रकृति के समान मूलरूप में एक तत्त्व नहीं हैं। जैनों की मान्यतानुसार केवल चेतन ही नहीं प्रत्युत अचेतन तत्त्व भी अनेक हैं। जड़ और चेतन इन दो तत्त्वों को स्वीकार करने के कारण न्याय दर्शन तथा वैशेषिक दर्शन भी द्वैत विचार धारा के अन्तर्गत गिने जा सकते हैं किन्तु उनके मत में भी चेतन एवं अचेतन ये दोनों सांख्य सम्मत प्रकृति के समान एक मौलिक तत्त्व नहीं परन्तु जैनों द्वारा माने गये चेतन अचेतन के समान अनेक तत्त्व हैं। ऐसी वस्तुस्थिति में इस समस्त परम्परा को बहुवादी अथवा नानावादी कहना चाहिए। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि बहुवादी विचार धारा में पूर्वोक्त सभी दर्शन आत्मवादी हैं किन्तु जैन आगम और पालि त्रिपिटक इस बात की भी साक्षी प्रदान करते हैं कि इस बहुवादी विचार धारा में अनात्मवादी भी हुए हैं। उनमें ऐसे भूतवादियों का वर्णन उपलब्ध होता है जो विश्व के मूल में चार या पाँच भूतों को मानते थे[1]। उनके मत में चार या पाँच भूतों से ही आत्मा की उत्पत्ति होती है आत्मा जैसा कोई स्वतन्त्र मौलिक पदार्थ नहीं है। दार्शनिक-सूत्रों के टीका ग्रन्थों के समय में जहाँ चार्वाक नास्तिक बार्हस्पत्य अथवा लोकायत मत का खण्डन किया गया है वहाँ पर भी चार भूत अथवा पाँच भूत वाद का ही खण्डन है। अतः हम यह कह सकते हैं कि दार्शनिक सूत्रों की व्यवस्था के समय में उपनिषदों के प्राचीन स्तर के अद्वैत अनात्मवादी नहीं थे मगर उनका स्थान नाना भूतवादियों ने ले लिया था। ये नाना भूतवादी विश्वास रखते थे कि चार अथवा पाँच भूतों के एक विशिष्ट समुदाय-सम्मिश्रण होने पर आत्मा अर्थात् चेतना का प्रादुर्भाव होता है। आत्मा के समान अनादि अनन्त किसी शाश्वत वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है क्योंकि इस भूत समुदाय का नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है।

---

1 सूत्रकृतांग 1 1 1 7–8 2 1 10 ब्रह्मजाल सुत्त

जिस प्रकार कोई पुरुष [illegible] से [illegible] को [illegible] किया [illegible] है उसी प्रकार आत्मा को शरीर से निकालकर [illegible] पृथक [illegible] जाना सकता। अथवा जिस प्रकार म्यान से तलवार निकालकर [illegible] जा सकता है या म्यान से [illegible] निकालकर दिखाया जा सकता है उसी प्रकार जीव को शरीर से पृथक [illegible] किया जा सकता। बताया जा सकता। जब तक शरीर स्थिर रहता है तभी तक [illegible] आत्मा भी स्थिरता है, शरीर का नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है[1]।

बौद्धों के दीघनिकायान्तर्गत पायासी सूत्र में और जैनों के रायपसेणइय सूत्र में उन प्रयोगों का समान रूप से विस्तृत वर्णन है जिन्हें नास्तिक राजा पायासी–पएसी ने 'जीव शरीर से पृथक नहीं है' इस बात को सिद्ध करने के लिए किए थे। उनसे पता चलता है कि उसने मरने वालों से कहा हुआ था कि तुम मर कर जिस लोक में जाओ वहाँ से मुझे समाचार बताने के लिए अवश्य आना किन्तु उसके एक भी व्यक्ति उस मृत्युपरान्त की स्थिति के विषय में समाचार देने नहीं आया अतः उसे यह विश्वास हो गया कि मृत्यु के समय ही आत्मा का नाश हो जाता है शरीर से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है। शरीर ही आत्मा है इस बात को प्रमाणित करने के उद्देश्य से राजा ने जीवित मनुष्य को लोहे की पेटी में अथवा हांडी में बन्द करके यह देखने का प्रयत्न किया कि मृत्यु के समय उसका जीव बाहर निकलता है या नहीं। परीक्षण के अन्त में उसने निश्चय किया कि मृत्यु के समय शरीर से कोई जीव बाहर नहीं निकलता। जीवित और मृत व्यक्ति को तोलकर उसने यह परीक्षा भी की कि यदि मृत्यु के समय जीव चला जाता हो तो वजन में कमी हो जानी चाहिए किन्तु ऐसा नहीं हुआ प्रत्युत इसके विपरीत उसे यह पता चला कि मृत व्यक्ति का वजन बढ़ जाता है। मनुष्य के शरीर के टुकड़े टुकड़े कर अथवा हड्डियों, मांस आदि में जीव की खोज की किन्तु वह उनमें भी नहीं मिला। इसके अतिरिक्त राजा यह युक्ति दिया करता था कि यदि शरीर और जीव अलग अलग हैं तो क्या कारण है कि एक बालक अनेक बाण नहीं चला सकता और एक युवक यह काम कर सकता है अतः शक्ति आत्मा की नहीं अपितु शरीर की है और शरीर के नाश के साथ ही उसका नाश हो जाता है।

पायासी राजा की भिन्न भिन्न परीक्षाओं एवं युक्तियों से ज्ञात होता है कि वह आत्मा को भूतों के समान ही इन्द्रियों का विषय मानकर आत्मा सम्बन्धी शोध में लीन था और आत्मा को एक भौतिक तत्त्व मानकर ही उसने तद्विषयक खोज जारी रखी इसलिए उसे निराशा का मुख देखना पड़ा। यदि वह आत्मा को एक अमूर्त तत्त्व मानकर उसे ढूंढने का प्रयत्न करता तो उसकी शोध की प्रक्रिया और ही होती। रायपसेणइय के वर्णन के अनुसार पएसी का राजा भी उसी की भाँति नास्तिक था। इससे ज्ञात होता है कि आत्मा को भौतिक समझकर उसके विषय में विचार करने वाले व्यक्ति अति प्राचीनकाल में भी थे। इस बात का समर्थन पूर्वोक्त तैत्तिरीय उपनिषद् में भी होता है जहाँ आत्मा को अन्नमय कहा गया है।

---

1 सूत्रकृतांग 2 1 9 2 1 10

2 तैत्तिरीय 2 1 2

इसके अतिरिक्त उपनिषद् में भी प्राचीन ऐतरेय आरण्यक में आत्मा के विकास के प्रसंग में जो सोपान दिखाये गये हैं उनमें भी यह बात प्रमाणित होती है कि आत्म विचारणा में आत्मा को भौतिक मानना उसका प्रथम सोपान है। उस आरण्यक[1] में वनस्पति पशु एवं मनुष्य के बीच में पारस्परिक सम्बन्ध का विश्लेषण किया गया है और यह बताया गया है कि औषधि वनस्पति और ये जो समस्त पशु एवं मनुष्य हैं उनमें आत्मा का विकास उत्तरोत्तर होता है। कारण यह है कि औषधि और वनस्पति में तो यह केवल रस रूप में ही दिखाई देता है किन्तु पशुओं में चित्त भी दृष्टिगोचर होता है और मनुष्य में वह विकास करते करते तीनों कालों का विचारक बन जाता है।

(2) प्राणात्मवाद—इन्द्रियात्मवाद

उपनिषद् में उपलब्ध वरोचन और इन्द्र की कथा का एक अंश देहात्मवाद की चर्चा में लिखा जा चुका है। यह भी कहा जा चुका है कि इन्द्र को प्रजापति के इस स्पष्टीकरण से सन्तोष भी नहीं हुआ था कि देह ही आत्मा है अतः हम यह मान सकते हैं कि उस युग में केवल इन्द्र ही नहीं अपितु उन जैसे कई विचारकों के मन में इस प्रश्न के विषय में उलझनें हुई होंगी और उनकी इस उलझन ने ही आत्मतत्त्व के विषय में अधिक विचार करने के लिए उन्हें प्रेरित किया होगा। चिन्तनशील व्यक्तियों ने जब शरीर की आध्यात्मिक क्रियाओं का निरीक्षण परीक्षण प्रारम्भ किया होगा तब सर्वप्रथम उनका ध्यान प्राण की ओर आकृष्ट हुआ हो यह स्वाभाविक है। उन्होंने अनुभव किया होगा कि निद्रा की अवस्था में जब समस्त इन्द्रियाँ अपनी अपनी प्रवृत्ति स्थगित कर देती हैं तब भी श्वासोच्छ्वास जारी रहता है। केवल मृत्यु के पश्चात् ही इस श्वासोच्छ्वास के दर्शन नहीं होते। इस बात से वे इस परिणाम पर पहुँचे कि जीवन में प्राण का ही सर्वाधिक महत्त्व है अतः उन्होंने इस प्राण तत्त्व को ही जीवन की समस्त क्रियाओं का कारण माना[2]। जिस समय विचारकों ने शरीर में स्फुरित होने वाले तत्त्व की प्राणरूप से पहिचान की उस समय उसका महत्त्व बहुत बढ़ गया और उस विषय में अधिक से अधिक विचार होने लगा। परिणाम-स्वरूप प्राण के सम्बन्ध में छान्दोग्य[3] उपनिषद् में कहा गया कि इस विश्व में जो कुछ है वह प्राण है। बृहदारण्यक[4] में तो उसे देवों के भी देव का पद प्रदान किया गया है।

प्राण अर्थात् वायु को आत्मा मानने वालों का खण्डन नागसेन ने मिलिन्दप्रश्न[5] में किया है।

शरीर में होने वाली क्रियाओं के जो भी साधन हैं उनमें इन्द्रियों का अपना अपना महत्त्वपूर्ण है अतः यह स्वाभाविक है कि विचारकों का ध्यान इस ओर प्रवृत्त हो और वे

1 ऐतरेय आरण्यक 2 3 2
2 तैत्तिरीय 2 2 3 कौषीतकी 2 2
3 छान्दोग्य 3 15 4
4 बृहदारण्यक 1 5 22–23
5 मिलिन्दप्रश्न 2 10

सन्यास ने वेदान्तसार में कहा है कि तैत्तिरीय उपनिषद् के 'अन्योऽन्तरात्मा मनोमय' (2 3) वाक्य के आधार पर चार्वाक मन को ही आत्मा मानता है। सांख्य द्वारा मान्य लिंग के उपासकों में मन को आत्मा मानने वालों का समावेश है[1]।

मन क्या है इस विषय में बृहदारण्यक में चार दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। उसमें बताया गया है कि मेरा मन दूसरी ओर था मैं देख नहीं सका, मेरा मन दूसरी ओर था मैं सुन नहीं सका—अर्थात् वस्तुतः देखा जाता मनुष्य मन के द्वारा देखता है और उसके द्वारा ही सुनता है[2]। काम संकल्प विचिकित्सा (संशय) श्रद्धा अश्रद्धा धृति अधृति लज्जा बुद्धि भय—यह सब मन ही है। इसलिए यदि कोई व्यक्ति किसी मनुष्य की पीठ का स्पर्श करता है तो वह मनुष्य मन से इस बात का ज्ञान कर लेता है। पुनश्च वहाँ मन को परम ब्रह्मसम्राट[3] भी कहा गया है। छान्दोग्य में भी उसे ब्रह्म[4] कहा है।

मन के कारण जो भी विश्व प्रपंच है उसका निरूपण तेजोबिन्दु उपनिषद् में किया गया है। उससे भी मन की महिमा का परिचय मिलता है। उसमें बताया गया है कि मन ही समस्त जगत् है मन ही महान् शत्रु है मन संसार है मन ही त्रिलोक है मन ही महान् दुःख है मन ही काल है मन ही संकल्प है मन ही जीव है मन ही चित्त है मन ही अहंकार है मन ही अन्तःकरण है मन ही पृथ्वी है मन ही जल है मन ही अग्नि है मन ही महान् वायु है मन ही आकाश है मन ही शब्द है स्पर्श रूप रस गन्ध और पाँच कोष मन से उत्पन्न हुए हैं जागरण स्वप्न सुषुप्ति इत्यादि मनोमय हैं त्रिपाल वसु रुद्र आदित्य भी मनोमय हैं[5]।

(4) प्रज्ञात्मा प्रज्ञानात्मा विज्ञानात्मा

कौषीतकी उपनिषद् में प्राण को प्रज्ञा और प्रज्ञा को प्राण संज्ञा दी गई है। उससे विदित होता है कि प्राणात्मा के बाद जब प्रज्ञात्मा का अन्वेषण हुआ तब प्राचीन और नवीन का समन्वय आवश्यक था[6]। इन्द्रियों और मन ये दोनों प्रज्ञा के बिना सर्वथा अकिंचित्कर हैं यह बात कह कर कौषीतकी[7] में बताया गया है कि प्रज्ञा का महत्व इन्द्रिया और मन की अपेक्षा में भी अधिक है। इससे प्रतीत होता है कि प्रज्ञात्मा मनोमय आत्मा की भी अन्तरात्मा है। इसी बात का संकेत तैत्तिरीय उपनिषद् में (2 4) विज्ञानात्मा को मनोमय आत्मा का अन्तरात्मा बताकर किया गया है। अतः प्रज्ञा और विज्ञान का पर्यायवाची स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है। ऐतरेय उपनिषद् में प्रज्ञान-ब्रह्म के जो पर्याय दिये गये हैं, उनमें मन भी है[8]। इससे ज्ञात

---

1 सांख्यकारिका 44

2 बृहदारण्यक 1 5 3

3 बृहदारण्यक 4 1 6

4 छान्दोग्य 7 3 1

5 तेजोबिन्दु उपनिषद् 5 98 104

6 प्राणो हि प्रज्ञात्मा कौषीतकी 3 2 3 3 यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः कौषी० 3 3 3 4

7 कौषी० 3 6 7 गजरानी अनुवाद देखो—पृ० 892

8 ऐतरेय 3 2

होता है कि पूर्वकथित मनोमय आत्मा के साथ प्रज्ञानात्मा का समन्वय है। उसी उपनिषद् में प्रज्ञा और प्रज्ञान को एक ही माना[1] है और प्रज्ञान के पर्याय के रूप में विज्ञान भी लिखा है।

सारांश यह है कि विज्ञान प्रज्ञा प्रज्ञान ये समस्त शब्द एकार्थक माने गए और उसी अर्थ के अनुसार आत्मा को विज्ञानात्मा प्रज्ञात्मा प्रज्ञानात्मा स्वीकार किया गया। मनोमय आत्मा सूक्ष्म है किन्तु मन किसी के मतानुसार भौतिक और किसी के मतानुसार अभौतिक है। किन्तु जब विज्ञान को आत्मा की संज्ञा प्रदान की गई तब उसके बाद ही इस विचारणा को बल मिला कि आत्मा एक अभौतिक तत्त्व है। आत्म विचारणा के क्षेत्र में विज्ञान प्रज्ञा अथवा प्रज्ञान को आत्मा कह कर विचारकों ने आत्म विचार की दिशा में ही परिवर्तन कर दिया। अब उन्होंने इस मान्यता की ओर अग्रसर होना प्रारम्भ किया कि आत्मा मौलिक रूपेण चेतन तत्त्व है। प्रज्ञान की प्रतिष्ठा इतनी अधिक बढ़ी कि आन्तरिक और बाह्य सभी पदार्थों को प्रज्ञान का नाम दिया गया[2]।

अब प्रज्ञा तत्त्व का विश्लेषण अनिवार्य था अतः उसके विषय में विचार प्रारम्भ हुआ। समस्त इन्द्रियों और मन को प्रज्ञा में ही प्रतिष्ठित माना गया। जिस समय मनुष्य सुप्त अथवा मृतावस्था में होता है उस समय इन्द्रियाँ प्राण रूप प्रज्ञा में अन्तर्हित हो जाती हैं अतः किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता। जब मनुष्य नींद से जागता है या पुनः जन्म ग्रहण करता है तब जिस प्रकार चिनगारी में से अग्नि प्रकट होती है उसी प्रकार प्रज्ञा में से इन्द्रियाँ पुनः बाहर आती[4] हैं और मनुष्य को ज्ञान होने लगता है। इन्द्रियाँ प्रज्ञा के एक अंश के समान[5] हैं इसलिए वे प्रज्ञा के बिना अपना काम करने में असमर्थ[6] हैं अतः इन्द्रियों और मन से भी भिन्न प्रज्ञात्मा का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस बात की भी प्रेरणा की गई है कि इन्द्रियों के विषयों का नहीं परन्तु इन्द्रियों के विषयों के ज्ञाता प्रज्ञात्मा का ज्ञान प्राप्त किया जाए। मन का ज्ञान आवश्यक नहीं है किन्तु मनन करने वाले का ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार कौषीतकी उपनिषद् में इस बात पर जोर दिया गया है कि इन्द्रियादि साधनों से भी उच्च प्रज्ञात्मा[7]-साधक को जानना चाहिए।

कौषीतकी उपनिषत् के उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस उपनिषत् में प्रज्ञा को इन्द्रियों का अधिष्ठान माना गया है। किन्तु अभी प्रज्ञा के स्वतः प्रकाशित रूप की ओर विचारकों का ध्यान नहीं गया था। अतः सुप्तावस्था में इन्द्रियों के

---

1 ऐतरेय 3 3
2 ऐतरेय 3 2
3 ऐतरेय 3 1 2–3
4 कौषीतकी 3 2
5 कौषीतकी 3 5
6 कौषीतकी 3 7
7 कौषीतकी 3 8

[illegible] के अभाव में उनमें स्व या पर का किसी भी प्रकार का ज्ञान स्वीकृत नहीं किया गया[1]। इसी प्रकार मृत्यूपरान्त जब तक नई इन्द्रियों का निर्माण नहीं होता तब तक प्रज्ञा भी अकिंचित्कर ही रहती है। इन्द्रियाँ प्रज्ञा के अधीन हैं इस बात को मानकर भी यह स्वीकार किया गया है कि प्रज्ञा भी इन्द्रियों के बिना कुछ नहीं कर सकती। चूँकि अभी प्रज्ञा और प्राण को एक ही समझा जाता था अतः प्राण से भी परे स्वतः प्रकाशक प्रज्ञा का स्वरूप किसी के ध्यान में न आया यह स्वाभाविक है।

कठोपनिषद् में जहाँ उत्तरोत्तर उच्चतर तत्त्वों की गणना की गई है वहाँ मन से बुद्धि बुद्धि से महत् महत् से अव्यक्त प्रकृति और प्रकृति से पुरुष को उत्तरोत्तर उच्चतर माना गया है। यही बात गीता में भी कही गई है। यह प्रक्रिया सांख्य सम्मत है। इस से यह पता से ज्ञात होता है कि प्राचीन मत यह था कि विज्ञान किसी चेतन पदार्थ का धर्म नहीं अपितु अचेतन प्रकृति का धर्म है। इस मत की उपस्थिति में यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती कि विज्ञानात्मा की साध पूरी हो जाने पर आत्मा सचेतन चेतन-स्वरूप किंवा अजर रूप सिद्ध हो गया किन्तु जब विचारक प्रज्ञात्मा की सीमा तक उड़ान कर चुके तब उनका भावी मार्ग स्पष्ट था। अतएव अब ऐसी परिस्थिति नहीं थी कि आत्मा से भौतिक गन्ध को सर्वथा निर्मूल करने में विलम्ब हो।

(5) आनन्दात्मा

यदि मनुष्य के अनुभव का विश्लेषण किया जाए तो उसमें उस अनुभव के दो रूप स्पष्ट दृगोचर होते हैं। पहला तो पदार्थ की विज्ञप्ति सम्बन्धी है—अर्थात् हमें पदार्थ का जो ज्ञान होता है वह अनुभव का एक रूप है और दूसरा रूप वेदना सम्बन्धी है। एक को हम संवेदन कह सकते हैं और दूसरे को वेदन। पदार्थ का जानना एक रूप है और उसका भोग करना दूसरा। ज्ञान का सम्बन्ध जानने से है और वेदना का भोग से। ज्ञान का स्थान पहला है और भोग का दूसरा। यह वेदना भी अनुकूल और प्रतिकूल के भेद से दो प्रकार की होती है। प्रतिकूल वेदना किसी के लिए भी रुचिकर नहीं होती परन्तु अनुकूल वेदना सब को इष्ट है। इसी को दूसरा नाम सुख है और सुख की पराकाष्ठा को आनन्द की संज्ञा दी गई है। बाह्य पदार्थों के भोग में सर्वथा निरपेक्ष अनुकूल वेदना आत्मा का स्वरूप है और विचारक पुरुषों ने उसे ही ब्रह्म कहा है। इस बात की अधिक सम्भावना है कि अनुभव के संवेदन रूप को प्रधान मान कर ब्रह्म या अथवा विज्ञानात्मा की कल्पना ने जन्म लिया तो उसके वेदन रूप को प्रधान मान कर आनन्दात्मा की कल्पना को बल मिला। यह स्वाभाविक है कि जब आत्मा को एक एक कोश के रूप में खण्ड-खण्ड कर दिया जाए, तो विचारकों के सम्मुख उसके विज्ञानात्मा और आनन्दात्मा रूप क्रमशः स्थापित हो जाते हैं।

---

1 [illegible] के अन्त में [illegible] का अभाव न [illegible] हुआ था और उसने प्रज्ञापति से [illegible] का [illegible] के [illegible] पर [illegible] का [illegible] किया था वह उपनिषद् छान्दोग्य में है—8 11। [illegible] विवर के [illegible] 1 15 20 भी [illegible] योग है।

2 [illegible] 1 [illegible] 10-11

विज्ञान का न य भी आनन्द ही है अत इसम कोई आश्चय की बात नही कि विचारको ने आनन्दात्मा का विज्ञानात्मा का अन्तरात्मा स्वीकार किया[1]। पुनश्च मनष्य म दो भावनाए हैं—दाशनिक और धार्मिक। दार्शनिक विज्ञानात्मा को मुख्य मानत है किन्तु दाशनिका के अन्तर म ही स्थित धार्मिक आत्मा आनन्दात्मा की कल्पना कर सन्तोष का अनभव कर तो यह कोई नई या आश्चय की बात नही।

(6) पुरुष चेतन आत्मा–चिदात्मा–ब्रह्म

विचारको ने आत्मा क विषय म अन्नमय आत्मा स लकर आनन्दात्मा पयन्त प्रगति की किन्तु उनकी यह प्रगति अभी तक आत्म-तत्व क भिन्न भिन्न आवरणा को आत्मा समझ कर ही हो रही थी। इन सब आत्माओ की भी जो मूल रूप आत्मा थी उसका अन्वषण अभी बाकी था। जब उस आत्मा की शोध होने लगी तब यह कहा जाने लगा कि अन्नमय आत्मा जिस शरीर भी कहा जाता है रथ क समान है उस चलाने वाला रथी ही वास्तविक आत्मा है[3]। आत्मा स रहित शरीर कुछ भी करने म असमथ है। शरीर की सचालक शक्ति ही आत्मा है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट कर दी गई कि शरीर और आत्मा ये दोनो तत्त्व पृथक हैं। आत्मा म स्वतन्त्र होकर प्राण कुछ भी क्रिया नही करता। आत्मा प्राण का भी प्राण[4] है। प्रश्नोपनिषद् में लिखा है कि प्राण का जन्म आत्मा से ही होता है। मनष्य की छाया का आधार स्वय मनुष्य है उसी प्रकार प्राण आत्मा पर अवलम्बित[5] है। इस प्रकार प्राण और आत्मा का भेद सामन आया।

केनोपनिषद्[6] मे यह सूचित किया गया है कि यह आत्मा इन्द्रिय और मन स भी भिन्न है। वहाँ बताया गया है कि इन्द्रियाँ और मन ब्रह्म आत्मा के बिना कुछ भी करने म असमथ हैं। आत्मा का अस्तित्व होने पर ही चक्षु आदि इन्द्रियाँ और मन अपना अपना काय करते हैं। जिस प्रकार विज्ञानात्मा की अन्तरात्मा आनन्दात्मा है उसी प्रकार आनन्दात्मा की अन्तरात्मा सतरूप ब्रह्म है। इस बात का प्रतिपादन करके विज्ञान और आनन्द स भी परे ऐसे ब्रह्म की कल्पना[7] की गई।

ब्रह्म और आत्मा पृथक पृथक नही हैं किन्तु एक ही तत्त्व के दो नाम हैं[8]। इसी आत्मा को समस्त तत्त्वों से परे ऐसा पुरुष भी माना गया है और सब भूतो म गूढात्मा भी कहा

---

1 तत्तिरीय 2 5

2 Nature of Consciousness in Hindu Philosophy p 29

3 डाकलेय उपनिषद का सार देखें–History of Indian Philosophy vol 2 p 131 मत्रयी उपनिषद् 2 3 4 कठोपनिषद् 1 3 3

4 केनोपनिषद् 1–2

5 प्रश्नोपनिषद् 3–3

6 केनोपनिषद् 1 4–6

7 तत्तिरीय 2–6

8 सब हि एतद् ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म–माण्डूक्य 2 बृहदा० 2–5–19

गया है[1]। कठोपनिषद् में बुद्धि विज्ञान को प्राकृत जड़ बताया गया है। अतः यह बात स्वाभाविक है कि विज्ञानात्मा की कल्पना में विचारक सन्तुष्ट न हो। अतः उसमें भी आत्म चिन्तामणि पुरुष चेतन आत्मा की शीघ्र आवश्यकता थी और वह ब्रह्म अथवा चेतनात्मा की कल्पना में पूर्ण हुई। इस प्रकार चिन्तकों ने अभौतिक तत्त्व के रूप में आत्मा का निश्चय किया। इस क्रम से भूत से लेकर चेतन तक की आत्म विचारणा की उत्क्रान्ति का इतिहास यहाँ पूर्ण हो जाता है।

विज्ञानात्मा का वर्णन करते हुए पहले यह लिखा जा चुका है कि उसे स्वयं प्रकाशित नहीं माना गया। सुप्तावस्था में वह अचेतन हो जाता है। वह स्वप्रकाशक नहीं है, किन्तु इस पुरुष चेतन आत्मा अथवा चिन्तात्मा के विषय में यह बात नहीं है। वह स्वयं प्रकाश-स्वरूप है स्वयं प्रकाशित होता है। वह विज्ञान का भी अन्तर्यामी है[2]। इस सर्वान्तरात्मा के विषय में कहा गया है कि वह साक्षात है अपरोक्ष है प्राण का ग्रहण करने वाला वही है आँख का देखने वाला वही है कान का सुनने वाला वही है मन का विचार करने वाला वही है ज्ञान का जानने वाला वही है[3]। यही स्रष्टा है यही श्रोता है यही मनन करने वाला है यही विज्ञाता[4] है। यह नित्य चिन्मात्र रूप है सब प्रकाश रूप है चिन्मात्र ज्योति स्वरूप है[5]।

इस पुरुष अथवा चिन्तात्मा को अजर अमर अमन अमर अव्यय अज नित्य ध्रुव, शाश्वत अनन्त माना गया है[7]। इस विषय में कठोपनिषद् (1-3-15) में लिखा है कि "वह अशब्द अस्पर्श अरूप अव्यय अरस नित्य अगन्धवत् अनादि अनन्त महत तत्त्व से पर ध्रुव ऐसी आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है।

(7) भगवान बुद्ध का अनात्म वाद

हम यह देख चुके हैं कि विचारक सबसे पहले बाह्य दृष्टि से ग्राह्य भूत को ही भौतिक तत्त्व मानते थे किन्तु कालक्रम में उन्होंने आत्मतत्त्व को स्वीकार किया। वह तत्त्व इन्द्रिय-ग्राह्य न होकर अतीन्द्रिय था। जब उन्हें इस प्रकार के अतीन्द्रिय तत्त्व का बोध हुआ तब यह स्वाभाविक था कि वे उसके स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करने लगें। जिस समय प्राण मन और प्रज्ञा से भी परे आत्मा की कल्पना का जन्म हुआ तब चिन्तकों के समक्ष नये-नये प्रश्न उपस्थित होने लगे। प्राण मन और प्रज्ञा उस पदार्थ थे जिनका ज्ञान सरल था किन्तु आत्मा तो इन सब से परे माना गया। अतः उसका ज्ञान किस प्रकार प्राप्त किया जाए? वह कैसा है? उसका स्वरूप क्या है? ये प्रश्न उठे। वास्तविक आत्म विद्या का श्रीगणेश इसी समय हुआ और लोगों को इस विद्या का इतना व्यसन लगा कि उन्होंने आत्मा की शोध में ही अपने जीवन को इति समझा। उन्हें आत्म शुद्धि की अपेक्षा इस संसार के भोग अथवा स्वर्ग के सुख

---

1 कठोपनिषद् 1 3 10-12

2 बृहदा० 4 3 6 तथा 9 विज्ञानात्मा व प्रज्ञानघन (बृहदा० 4-5-13) आत्मा से अलग है। वहाँ प्रज्ञान है अतः कि दूसरा पुरुष चेतन है।

3 कठ 1 3-7-27

4 बृहदा० 3 8 1-7

5 बृहदा० 37 23 3 9 11

6 केन उपनि० 1 6 21

7 क 3 15 बृहदा० 4 4 20 3 8 8 4-4 25 श्वेत० 1-9 इत्यादि।

कुछ प्रतीत हुए और उन्हें ने एक ने एक तपश्चर्या की कठिन यातनाओं को सहर्ष सहन किया[1]। नचिकेता जैसे बालक भी मृत्यु के उपरान्त आत्मा की दशा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इतने उत्सुक हो गए कि उन्हें लक्ष्य अथवा स्वर्ग के सुख साधन हेय दिखाई दिए। मैत्रेयी जैसी महिलाएं अपने पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकार लेने की अपेक्षा आत्मविद्या की शोध में लग गईं और दृढ़ता से कहने लगी कि जिसे पाकर मैं अमर नहीं हो सकती उस सम्पत्ति को लेकर मैं क्या करूँ[2]। यदि आप अमर होने का उपाय जानते हैं तो मुझे बताइए। कुछ लोग तो पुकार-पुकार कर कहने लगे कि जिसमें द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी तथा सब प्राणों सहित मन प्राण ओत है उस एक मात्र आत्मा को ही जान प्राप्त करो शेष सब झंझट छोड़ दो। अमरता प्राप्त करने के लिए यह आत्मा सेतु के समान है[3]। याज्ञवल्क्य तो सब से आगे बढ़ कर यह घोषणा करते हैं कि पति पत्नी पुत्र धन पशु ये सब चीजें आत्मा के निमित्त ही प्रिय मालूम होती हैं अतः इस आत्मा को ही देखना चाहिए उसके विषय में ही सुनना चाहिए विचार करना चाहिए ध्यान करना चाहिए ऐसा करने से सब कुछ ज्ञात हो जाएगा[4]।

इस प्रवृत्ति का एक शुभ फल यह हुआ कि विचारकों के मन में वेदों के कर्मकाण्ड के प्रति विरोध की भावना जाग्रत हो गई किन्तु आत्म विद्या की भी अतिरेक हुआ और अतीन्द्रिय आत्मा के विषय में प्रत्येक व्यक्ति मनमानी कल्पना करने लगा। ऐसी परिस्थिति में औपनिषद आत्मविद्या के विषय में प्रतिक्रिया का सूत्रपात होना स्वाभाविक था। भगवान् बुद्ध के उपदेशों में इस बात की प्रतिक्रिया दृष्टिगोचर होती है। सभी उपनिषदों का अन्तिम निष्कर्ष तो यही है कि विश्व के मूल में मात्र एक ही शाश्वत आत्मा-ब्रह्म-तत्त्व है और इसे छोड़ कर अन्य कुछ भी नहीं है। उपनिषद् के ऋषियों ने अन्त में यहाँ तक कह दिया कि अद्वैत तत्त्व के होते हुए भी जो व्यक्ति संसार में अन्य की कल्पना करते हैं वे अपने सर्वनाश को निमन्त्रण देते हैं[5]। इस प्रकार उस समय आत्मवाद की भीषण बाढ़ आई थी, अतः उस बाढ़ को रोकने के लिए बाँध बाँधने का काम भगवान् बुद्ध ने किया। इस कार्य में उन्हें स्थायी सफलता कितनी मिली यह एक पृथक् प्रश्न है। हम केवल यह बताना है कि भगवान् बुद्ध ने उस बाढ़ को अनात्मवाद की ओर मोड़ने का भरसक प्रयत्न किया।

जब हम यह कहते हैं कि भगवान् बुद्ध ने अनात्मवाद का उपदेश दिया तब उसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि उन्होंने आत्मा जैसे पदार्थ का सर्वथा निषेध किया है। उस निषेध का अभिप्राय इतना ही है कि उपनिषदों में जिस प्रकार के शाश्वत अद्वैत आत्मा का

---

1 कठोपनिषद् 1 1 23 29

2 बृहदा० 2 4 3

3 मुण्डक 2 2 5

4 बृहदा 4 5 6

5 मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। बृहदा 4 4 19 कठ 4 11

स्थान नहीं है। हो सकता है कि कोई व्यक्ति इस बात के लिये उत्सुक हो कि पूर्वोक्त मनोमय आत्मा के साथ बौद्ध सम्मत पुद्गल अर्थात् स्कन्धारी जीव जिसे चित्त भी कहा गया है की तुलना की जाए। किन्तु वस्तुतः इन दोनों में भेद है। बौद्ध मत में मन को अन्तःकरण माना गया है और इन्द्रियों की भाँति चित्तोत्पाद में यह भी एक कारण है। अतः मनोमय आत्मा से उसकी तुलना शक्य नहीं है परन्तु विज्ञानात्मा से उसकी आंशिक तुलना सम्भव है। विज्ञानात्मा सतत जागरित नहीं होता न ही सतत सक्रिय होता है। मगर सुप्तावस्था में अथवा मृत्यु के समय में वह लीन हो जाता है और बाद में पुनः सक्रिय बन जाता है। पुद्गल के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। सुप्तावस्था अथवा मृत्यु के समय उसका भी निरोध होता है। इस तुलना को आंशिक इसलिए कहा गया है कि विज्ञानात्मा ही पुनः जागरित होता है यह बात मानी गई थी। किन्तु बुद्ध ने तो जागरित होने वाले पुद्गल अथवा मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न होने वाले पुद्गल के विषय में यह वही है या भिन्न है इन दोनों विधानों में से किसी का भी निश्चित स्वीकार नहीं किया। यदि वे यह कहें कि उसी पुद्गल ने पुनः जन्म ग्रहण किया तो उपनिषत् सम्मत शाश्वतवाद का समर्थन हो जाता है जो कि उन्हें अभीष्ट नहीं है और यदि वे यह बात कहें कि भिन्न है तो भौतिकवादियों के उच्छेदवाद का समर्थन प्राप्त होता है वह भी बुद्ध के लिए इष्ट नहीं। अतः बुद्ध केवल इतना ही प्रतिपादन करते हैं कि प्रथम चित्त था इसीलिए दूसरा उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होने वाला वही नहीं है और उससे भिन्न भी नहीं है किन्तु वह उसकी धारा में ही है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि बुद्ध का उपदेश था कि जन्म जरा मरण आदि किसी स्थायी ध्रुव जीव के न होते हुए किन्तु ये सब अमुक कारणों से उत्पन्न होते हैं। बुद्ध मत में जन्म जरा मरण इन सबका अस्तित्व तो है किन्तु बौद्ध यह स्वीकार नहीं करते कि इन सबका कोई स्थायी आधार[1] भी है। तात्पर्य यह है कि बुद्ध को जहाँ चार्वाक का देहात्मवाद अमान्य है वहाँ उपनिषत्-सम्मत सर्वान्तर्यामी नित्य ध्रुव शाश्वत स्वरूप आत्मा भी अमान्य है। उनके मत में आत्मा शरीर से अत्यन्त भिन्न भी नहीं है और शरीर से अभिन्न भी नहीं है। उन्हें चार्वाक-सम्मत भौतिकवाद एकान्त प्रतीत होता है और उपनिषदों का कूटस्थ आत्मवाद भी एकान्त दिखाई देता है। उनका मार्ग तो मध्यम मार्ग है जिसे वे प्रतीत्यसमुत्पादवाद—अमुक वस्तु की अपेक्षा से अमुक वस्तु उत्पन्न हुई कहते हैं। यह वाद न तो शाश्वतवाद है और न ही उच्छेदवाद उसे अशाश्वतानुच्छेदवाद का नाम दिया जा सकता है।

वर्द्धमान के अनुसार संसार में सुख दुःख आदि अवस्थाएँ हैं कर्म है जन्म है मरण है बन्ध है मुक्ति भी है—ये सब कुछ है किन्तु इन सबका कोई स्थिर आधार नहीं है नित्य नहीं है। ये समस्त अवस्थाएँ अपने पूर्ववर्ती कारणों से उत्पन्न होती रहती हैं और एक नवीन कार्य को उत्पन्न करके नष्ट होती रहती हैं। इस प्रकार संसार का चक्र चलता रहता है। पूर्व का सर्वथा उच्छेद अथवा उसका ध्रौव्य दोनों ही उन्हें मान्य नहीं हैं। उत्तरावस्था पूर्वावस्था से नितान्त असम्बद्ध है अपूर्व है यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती क्योंकि दोनों कार्य कारण

---

1 संयुत्तनिकाय 12 36 अंगुत्तरनिकाय 3 दीर्घ निकाय ब्रह्मजालसुत्त मज्झिमनिकाय 12 17 24 विसुद्धिमग्ग 17 161 174

की भूमिका में बद्ध है। पूर्वार्द्ध में सब संस्कार उत्पन्नावस्था में ही जाते हैं अतः इस कारण जो पूर्व है वह उत्तर काल में अविद्यमान माना है। उत्तर पूर्व से न तो सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न किन्तु कथञ्चित् है। भिन्न अभिन्न न [illegible] और अभिन्न कहने में शाश्वतवाद मानना पड़ता है। भगवान् बुद्ध को ये दोनों ही वाद इष्ट नहीं थे अतः उनके विषय के सम्बन्ध में उन्होंने अव्याकृतवाद की शरण ली[1]।

बुद्धघोष ने इसी विषय को पोराणिकों का कथन कह कर प्रतिपादित किया है —

कम्मस्स कारको नत्थि विपाकस्स च वेदको।
सुद्धधम्मा पवत्तन्ति एवमेतं सम्मदस्सनं॥
एवं कम्मे विपाके च अत्तभावे सहेतुके।
बीजरुक्खादिके च पुब्बा कोटि न नायति॥
अनागते पि संसारे अप्पवत्तं न दिस्सति।
एतमत्थं अनञ्ञाय तित्थिया अत्थवत्थुके॥
सस्सतञ्च गहेत्वान सस्सतुच्छेददस्सिनो।
द्वासट्ठिदिट्ठिं गण्हन्ति अञ्ञमञ्ञविरोधिता॥
दिट्ठिवसेन-बद्धा ते तण्हासोतेन वुय्हरे।
तण्हासोतेन-वुय्हन्ता न ते दुक्खा पमुच्चरे॥
एवमेतं अभिञ्ञाय भिक्खु बुद्धस्स सावको।
गम्भीरं निपुणं सुञ्ञं पच्चयं पटिविज्झति॥
कम्मं नत्थि विपाकम्हि पाको कम्मे न विज्जति।
अञ्ञमञ्ञं उभो सुञ्ञा न च कम्मं विना फलं॥
यथा न सुरिये अग्गि न मणिम्हि न गोमये।
न तेसं वत्ति सो अत्थि सम्भारेहि च जायति॥
तथा न अन्ते कम्मस्स विपाको उपलब्भति।
बहिद्धापि न कम्मस्स न कम्मं तत्थ विज्जति॥
फलेन सुञ्ञं तं कम्मं फलं कम्मे न विज्जति।
कम्मं च सो उपादाय ततो निब्बत्तती फलं॥
न हेत्थ देवो ब्रह्मा वा संसारस्सत्थिकारको।
सुद्धधम्मा पवत्तन्ति हेतुसम्भारपच्चया॥

इसका तात्पर्य यह है कि —

कर्म को करने वाला कोई नहीं है विपाक (कर्म के फल) का अनुभव करने वाला कोई नहीं है किन्तु शुद्ध धर्मों की ही प्रवृत्ति होती है यही सम्यग्ज्ञान है।

---

1 न्यायावतारवार्तिकवृत्ति की प्रस्तावना देखें—पृष्ठ 6 मिलिन्दप्रश्न 2 25 33, पृष्ठ 41 52

इस प्रकार कर्म और विपाक अपने अपने हेतुओं पर आश्रित होकर प्रवृत्त होते हैं। उनमें पहला स्थान किसका है यह बीज और वृक्ष के प्रश्न की भाँति नहीं बताया जा सकता। अर्थात बीज और वृक्ष के समान कर्म एवं विपाक अनादि काल से एक दूसरे पर आश्रित चले आ रहे हैं।

पुनश्च यह भी नहीं कहा जा सकता कि कर्म और विपाक की यह परम्परा कब निरुद्ध होगी। इस बात को न जानने से तार्किक पराधीन होते हैं।

तत्त्व जीव के विषय में कुछ लोग शाश्वतवाद का और कुछ उच्छेदवाद का अवलम्बन लेते हैं और परस्पर विरोधी दृष्टिकोण अपनाते हैं।

भिन्न भिन्न दृष्टियों के बन्धन में बद्ध होकर वे तृष्णारूपी स्रोत में फँस जाते हैं और उसमें फँस जाने के कारण वे दुःख से मुक्त नहीं हो सकते।

इस तत्त्व को समझ कर बुद्ध श्रावक गम्भीर निपुण और शून्यरूप प्रत्यय का ज्ञान प्राप्त करता है।

विपाक में कर्म नहीं है और कर्म में विपाक नहीं है ये दोनों एक दूसरे से रहित हैं फिर भी कर्म के बिना फल या विपाक होता ही नहीं।

जिस प्रकार सूर्य में अग्नि नहीं है मणि में नहीं है उपलों (गोबर) में भी नहीं है और वह इनसे भिन्न पदार्थों में भी नहीं है किन्तु जब इन सबका समुदाय होता है तब वह उत्पन्न होती है उसी प्रकार कर्म का विपाक कर्म में उपलब्ध नहीं होता और कर्म के बाहर भी नहीं मिलता तथा विपाक में भी कर्म नहीं है। इस प्रकार कर्म फलशून्य है कर्म में फल का अभाव है फिर भी कर्म के आधार पर ही फल मिलता है।

कोई देव या ब्रह्मा इस संसार का कर्त्ता नहीं है। हेतु समुदाय का आश्रय ले कर शुद्ध धर्मों की ही प्रवृत्ति होती है। विशुद्धिमार्ग 19 0

भदन्त नागसेन ने रथ की उपमा देकर बताया है कि पुद्गल का अस्तित्व केश दन्त आदि शरीर के अवयवों तथा रूप वेदना संज्ञा संस्कार विज्ञान इन सब की अपेक्षा से है किन्तु कोई पारमार्थिक तत्त्व नहीं। मिलिन्दप्रश्न 2 4 सू० 298

स्वयं बुद्धघोष ने भी कहा है –

यथेव चक्खुविञ्ञाणं मनोधातु अनन्तरं।
न चेव आगतं नापि न निब्बत अनन्तरं॥
तथेव परिसंधिम्हि वत्तते चित्तसंततिं।
पुरिमं भिज्जति चित्तं पच्छिमं जायते ततो॥

जिस प्रकार मनोधातु के पश्चात चक्षुविज्ञान होता है–वह कहीं से आया तो नहीं फिर भी यह बात नहीं कि वह उत्पन्न नहीं हुआ उसी प्रकार जन्मान्तर में चित्त-सन्तति के विषय में समझना चाहिए कि पूर्व चित्त का नाश हुआ है और उस से नये चित्त की उत्पत्ति हुई है। विशुद्धिमार्ग 19 23

भगवान् बुद्ध ने इस पुद्गल को क्षणिक और नाना–अनेक कहा है। यह चेतन सो है किन्तु मात्र चेतन ही है ऐसी बात नहीं। वह नाम और रूप इन दोनों का समुदाय रूप है

के साथ सम्बन्धित होने के कारण भूत है। इसके विपरीत अन्य सब दर्शनों ने चेतन को अमूर्त माना है।

उपसंहार

समस्त भारतीय दर्शनों ने यह निष्कर्ष स्वीकार किया है कि आत्मा का स्वरूप चेतन है। नास्तिक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध चार्वाक-दर्शन ने भी आत्मा को चेतन ही कहा है। उसमें और दूसरे दर्शनों में मतभेद यह है कि चार्वाक के अनुसार आत्मा चेतन होते हुए भी शाश्वत तत्त्व नहीं वह भूतों से उत्पन्न होता है। बौद्ध भी चेतन तत्त्व को अन्य दर्शनों की भाँति नित्य नहीं मानते अपितु चार्वाकों के समान जन्य मानते हैं। फिर भी बौद्धों और चार्वाकों में एक महत्त्वपूर्ण भेद है। बौद्धों की मान्यता के अनुसार चेतन तो जन्य है परन्तु चेतन सन्तति अनादि है। चार्वाक प्रत्येक जन्य चेतन को सर्वथा भिन्न या अपूर्व ही मानते हैं। बौद्ध प्रत्येक जन्य चेतन-क्षण के पूर्व-जनक क्षण से सर्वथा भिन्न अथवा अभिन्न होने का निषेध करते हैं। बौद्ध दर्शन में चार्वाक का उच्छेदवाद किंवा उपनिषदों और अन्य दर्शनों का आत्म शाश्वतवाद मान्य नहीं है अतः वे आत्म सन्तति को अनादि मानते हैं आत्मा को अनादि नहीं मानते। सांख्य योग न्याय वैशेषिक पूर्व मीमांसा उत्तर मीमांसा और जैन ये समस्त दर्शन आत्मा को अनादि स्वीकार करते हैं परन्तु जैन और पूर्व मीमांसा दर्शन का भाट्ट सम्प्रदाय आत्मा को परिणामी नित्य मानते हैं। शेष सभी दर्शन उसे कूटस्थ नित्य मानते हैं।

आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने वाले उसमें किसी भी प्रकार के परिणाम का निषेध करने वाले संसार और मोक्ष को तो मानते ही हैं और आत्मा को परिणामी नित्य मानने वाले भी संसार व मोक्ष का अस्तित्व स्वीकार करते हैं अतः आत्मा को कूटस्थ या परिणामी मानने पर भी संसार और मोक्ष के विषय में किसी भी प्रकार का मतभेद नहीं है। वे दोनों हैं ही। यह एक अलग प्रश्न है कि उन दोनों की उपपत्ति कैसे की जाए।

आत्मा के सामान्य स्वरूप चैतन्य का विचार करने के उपरान्त उसके विशेष स्वरूप का विचार करना अब अपेक्षित है।

## 3 जीव अनेक हैं

इस ग्रन्थ में (गा 1581-85) यह पक्ष स्वीकार किया गया है कि जीव अनेक हैं और आत्माद्वैत अर्थात आत्मा एक ही है इस पक्ष का निराकरण किया गया है। हम यह देख चुके हैं कि वेदों से लेकर उपनिषदों तक की विचारधारा में मुख्यतः बहुत्व पक्ष का ही अवलम्बन किया गया है अतः उपनिषदों के आधार पर जब ब्रह्म-सूत्र में वेदान्त दर्शन की व्यवस्था की गई तब भी उसमें अद्वैत के सिद्धान्त को ही पुष्ट किया गया। किन्तु संसार में जो अनेक जीव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं उनका निषेध करना सरल नहीं था अतः हम देखते हैं कि किसी तत्त्वज्ञ एक आत्मा मानकर भी उस एक अद्वैत आत्मा अथवा ब्रह्म के साथ संसार में प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले अनेक जीवों का क्या सम्बन्ध है इस बात की व्याख्या करना आवश्यक था। ब्रह्म सूत्र के टीकाकारों ने यह स्पष्टीकरण किया भी है किन्तु इसमें एक मत स्थिर नहीं हो सका अतः व्याख्या भेद के कारण वेदान्त-दर्शन की अनेक परम्पराएँ बन गई हैं।

[illegible]

## (अ) वेदान्तियों के मत भेद[1]

### (1) शंकराचार्य का विवर्तवाद

शंकराचार्य का कथन है कि मूल रूप में ब्रह्म एक होने पर भी अनादि अविद्या के कारण वह अनेक जीवों के रूप में दृग्गोचर होता है। जैसे अज्ञान के कारण रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है वैसे ही अज्ञान के कारण ब्रह्म में अनेक जीवों की प्रतीति होती है। रस्सी सर्प रूप में उत्पन्न नहीं होती न ही वह सर्प को उत्पन्न करती है फिर भी उसमें सर्प का भान होता है। इसी प्रकार ब्रह्म अनेक जीवों के रूप में उत्पन्न नहीं होता अनेक जीवों को उत्पन्न भी नहीं करता तथापि अनेक जीवों के रूप में दृग्गोचर होता है। इसका कारण अविद्या या माया है।

---

1 इस मतभेद का प्रस्थान था गो० हे भट्ट इस ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य के गुजराती भाषान्तर की प्रस्तावना का मुख्य आधार लेकर किया गया है। उनका आभार मानता हूँ।

अतः अनेक जीव माया रूप हैं मिथ्या हैं। इसीलिए उन्हें ब्रह्म का विवर्त कहा जाता है। यदि जीव का यह अज्ञान दूर हो जाए तो ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति हो अर्थात जीव भाव दूर होकर ब्रह्मभाव का अनुभव हो। शंकर के इस मत को केवलाद्वैतवाद इसलिए कहा जाता है कि वे केवल एक अद्वैत ब्रह्म आत्मा को ही सत्य मानते हैं शेष समस्त पदार्थों को माया रूप अथवा मिथ्या मानते हैं। जगत को मिथ्या स्वीकार करने के कारण उसे मत को मायावाद भी कहा गया है जिसका दूसरा नाम विवर्तवाद भी है।

(2) भास्कराचार्य का सत्योपाधिवाद

भास्कराचार्य यह मानते हैं कि अनादिकालीन सत्य उपाधि के कारण निरुपाधिक ब्रह्म जीव रूप में प्रकट होता है। जिस क्रिया के वश नित्य शुद्ध मुक्त कूटस्थ ब्रह्म मूल पदार्थों में प्रवेश कर अनेक जीवों के रूप में प्रकट होता है और उन जीवों का आधार बनता है उस क्रिया को उपाधि कहते हैं। इस उपाधि के सम्बन्ध के कारण ब्रह्म जीव रूप में प्रकट होता है अतः यह जीव ब्रह्म का औपाधिक स्वरूप है यह बात स्वीकार करनी पड़ती है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म में वस्तुतः अभेद होते हुए भी जो भेद है वह उपाधि मात्र है किंतु जीव ब्रह्म का विकार नहीं है। जब वह निरुपाधिक होता है उसे ब्रह्म कहते हैं और सोपाधिक होने पर उसे जीव कहते हैं। ब्रह्म के सोपाधिक रूप अनेक होते हैं अतः अनेक जीवों की उपपत्ति में कोई बाधा नहीं आती। उपाधि को सत्य रूप मानने के कारण और इसी उपाधि से जगत तथा अनेक जीवों की उपपत्ति सिद्ध करने के कारण भास्कराचार्य के मत को सत्योपाधिवाद कहते हैं। इसके विपरीत शंकराचार्य उपाधि को मिथ्या मानते हैं उनका मत मायावाद कहलाता है। भास्कराचार्य के मतानुसार ब्रह्म अपनी परिणाम शक्ति अथवा भाग्यशक्ति के कारण जगत रूप में परिणत होता है अतः जगत सत्य है मिथ्या नहीं। इस प्रकार भास्कराचार्य ने जगत के सम्बन्ध में शंकराचार्य के विवर्तवाद के स्थान पर प्राचीन परिणामवाद का समर्थन किया और इसके पश्चात रामानुजाचार्य आदि अन्य आचार्यों ने भी उसी का अनुसरण किया।

(3) रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद

रामानुज के मतानुसार परमात्मा ब्रह्म कारण भी है और कार्य भी। सूक्ष्म चित तथा अचित से विशिष्ट ब्रह्म कारण है और स्थूल चित तथा अचित से विशिष्ट ब्रह्म कार्य है। इन दोनों विशिष्टों का ऐक्य स्वीकृत करने के कारण रामानुज का मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है। कारण रूप ब्रह्म परमात्मा के सूक्ष्म चिद्रूप के विविध स्थूल परिणाम ही अनेक जीव हैं और परमात्मा का सूक्ष्म अचिद्रूप स्थूल जगत के रूप में परिणमन करता है। रामानुज के अनुसार जीव अनेक हैं नित्य हैं और अणु परिमाण हैं। जीव और जगत दोनों ही परमात्मा के कार्य परिणाम हैं अतः वे मिथ्या नहीं प्रत्युत सत्य हैं। मुक्ति में जीव परमात्मा के समान होकर उसके ही निकट रहता है। रामानुज की मान्यता है कि जीव और परमात्मा दोनों पृथक हैं एक कारण है और दूसरा कार्य किंतु कार्य कारण का ही परिणाम है अतः इन दोनों में अभेद है।

(4) निम्बार्क सम्मत द्वैताद्वैत भेदाभेदवाद

आचार्य निम्बार्क के मत में परमात्मा के दो स्वरूप हैं चित् और अचित्। ये दोनों ही परमात्मा से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। जिस प्रकार सूर्य और उसके प्रकाश में अभेद है उसी प्रकार परमात्मा में भी चित् और अचित् रूप दोनों का अभेद है। जगत् भी सत्य है क्योंकि यह परमात्मा की शक्ति का परिणाम है। जीव परमात्मा का अंश है और अंश तथा अंशी में अभेद होता है। ये जीव अनेक हैं नित्य हैं अणु परिमाण हैं। अविद्या और कर्म के कारण जीव के लिए संसार का अस्तित्व है। रामानुज की भाँति के समान मुक्ति में भी जीव और परमात्मा में भेद है फिर भी जीव अपने को परमात्मा से अभिन्न समझता है।

(5) मध्वाचार्य का भेदवाद

वेदान्त दर्शन में समाविष्ट शास्त्र पर भी मध्वाचार्य का ज्ञान बहुत ही गहरा हुआ है। रामानुज आदि आचार्यों ने जगत् को ब्रह्म का परिणाम माना है अर्थात् ब्रह्म को उपादान कारण स्वीकार किया है और इस प्रकार अद्वैतवाद की रक्षा की है किन्तु मध्वाचार्य ने परमात्मा को निमित्त कारण मानकर प्रकृति को उपादान कारण प्रतिपादित किया है। रामानुज आदि आचार्यों ने जीव को भी परमात्मा का ही कार्य परिणाम अंश आदि माना है और इस प्रकार दोनों में अभेद बताया है परन्तु मध्वाचार्य ने अनेक जीव मानकर उन में परस्पर भेद माना है और साथ ही ईश्वर से भी उन सबका भेद स्वीकार किया है। इस तरह मध्वाचार्य ने समस्त उपनिषदों की अन्य प्रवृत्ति को बदल डाला है। उनके मत में जीव सत्य है नित्य है और अणु परिमाण है। जिस प्रकार ब्रह्म सत्य है उसी प्रकार जीव भी सत्य है परन्तु वह परमात्मा के अधीन है।

(6) विज्ञानभिक्षु का अविभागाद्वैत

विज्ञानभिक्षु का मत है कि प्रकृति और पुरुष (जीव) ये दोनों ब्रह्म से भिन्न होकर विभक्त हैं। वह कहते हैं कि ये उसमें अन्तर्हित-गुप्त-अविभक्त हैं अतः उनका मत अविभागाद्वैत है। पुरुष या जीव अनेक हैं नित्य हैं व्यापक हैं। जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध पिता-पुत्र के सम्बन्ध के समान है। वह अंशांशि भाव युक्त है। जैसे पिता से पुत्र पुत्र पिता से है वैसे ही जीव भी ब्रह्म से ब्रह्म से ही वह प्रकट होता है तथा प्रलय के समय उसी में ही लीन हो जाता है। ईश्वर की इच्छा से जीव और प्रकृति में सम्बन्ध स्थापित होता है और जगत् की उत्पत्ति होती है।

(7) चैतन्य का अचिन्त्य भेदाभेदवाद

श्री चैतन्य के मत में श्रीकृष्ण ही परम ब्रह्म हैं। उनकी अनन्त शक्तियों में जीव की भी सम्मिलित है और उस शक्ति से अनेक जीवों का आविर्भाव होता है। ये जीव अणु परिमाण हैं ब्रह्म के अंश रूप हैं और ब्रह्म के अधीन हैं। जीव और जगत् परम ब्रह्म से भिन्न हैं अभिन्न हैं यह अचिन्त्य विषय है इसलिए चैतन्य के मत का नाम अचिन्त्य भेदाभेदवाद है। भक्त के जीवन का परम लक्ष्य यह माना गया है कि जीव परमब्रह्म रूप कृष्ण से भिन्न होने पर भी उनकी भक्ति में इतना लीन होकर यह भावना लग जाए कि वह अपने अस्तित्व को विस्मृत कर कृष्ण-स्वरूप हो गया है।

का देह परिमाण माना और बौद्धों ने भी पुद्गल को देह परिमाण स्वीकार किया। इसी कथन की जा सकता है। जैनों ने तो आत्मा का देह परिमाण स्वीकार किया ही है। आत्मा को देह परिमाण मानने की मान्यता उपनिषदों में भी उपलब्ध होती है। कौषीतकी उपनिषद् में कहा है कि जैसे तलवार अपनी म्यान में और अग्नि अपने कुण्ड में व्याप्त है उसी तरह आत्मा शरीर में नख से लेकर शिखा तक व्याप्त है[1]। तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय आनन्दमय इन सब आत्माओं का शरीर प्रमाण बताया गया है।

उपनिषदों में इस बात का भी प्रमाण है कि आत्मा को शरीर से भी सूक्ष्म परिमाण मानने वाले ऋषि विद्यमान थे। बृहदारण्यक में लिखा है कि आत्मा चावल या जौ के दाने के परिमाण की है[3]। कुछ लोगों के मतानुसार वह अंगुष्ठ परिमाण[4] है और कुछ की मान्यता के अनुसार वह बालिश्त परिमाण है। मैत्री उपनिषद् (6 38) में तो उसे अणु से भी अणु माना गया है। बाद में जब आत्मा को अवर्ण्य माना गया तब ऋषियों ने उसे अणु से भी अणु और महान् से भी महान् मानकर सन्तोष किया[6]।

जब सभी दर्शनों ने आत्मा की व्यापकता को स्वीकार किया तब जैनों ने उसे देह परिमाण मानते हुए भी केवलज्ञान की अपेक्षा से व्यापक कहना शुरू किया[7]। अथवा समुद्घात की अवस्था में आत्मा के प्रदेशों का जो विस्तार होता है उसकी अपेक्षा से उसे लोकव्यापी कहा जाने लगा (न्यायखण्डखाद्य)।

आत्मा को देह परिमाण मानने वालों की युक्तियों का सार प्रस्तुत ग्रन्थ (गा० 1585 8०) में दिया गया है अतः इस विषय में अधिक लिखना अनावश्यक है किन्तु एक बात का यहाँ उल्लेख करना अनिवार्य है। जो दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं उनके मत में भी संसारी आत्मा के ज्ञान सुख दुःख इत्यादि गुण शरीर मर्यादित आत्मा में ही अनुभूत होते हैं शरीर के बाहर के आत्म प्रदेशों में नहीं। इस प्रकार संसारी आत्मा के अनुरूप आत्मा को व्यापक माना जाए अथवा शरीर प्रमाण किन्तु संसारावस्था तो शरीर मर्यादित आत्मा में ही है।

आत्मा को व्यापक स्वीकार करने वालों के मत में जीव की भिन्न भिन्न नारकादि गति सम्भव है किन्तु उनके अनुसार गति का अर्थ जीव का गमन नहीं है। वे मानते हैं कि वहाँ लिंग शरीर का गमन होता है और उसके बाद वहाँ व्यापक आत्मा से नवीन शरीर का सम्बन्ध होता है। इसी को जीव की गति कहते हैं। इससे विपरीत देह परिमाणवादी जैनों की मान्यता के अनुसार जीव अपने कार्मण शरीर के साथ उन उन स्थानों में गमन करता है और नए शरीर

---

1 कौषीतकी 4 20
2 तैत्तिरीय 1 2
3 बृहदा० 5 6 1
4 कठ० 2 2 12
5 छान्दो० 5 18 1
6 कठ० 1 2 20 छान्दो० 3 14 3 श्वेता० 3 20
7 बृहत्संग्रहणी गा० 10

का रचना करता है। जो व्यक्ति जीव को अणु-परिमाण मानता है उनके सिद्धान्तानुसार भी जीव विशेष शरीर को प्राप्त कर गमन करता है और नए शरीर का निर्माण करता है। बौद्धों के मत में गति का अर्थ यह है कि मृत्यु के समय एक पुद्गल का विरोध होता है और उसी के कारण अन्यत्र नवीन पुद्गल उत्पन्न होता है। इसी को पुनर्जन्म की गति कहते हैं।

उपनिषदों में भी कदाचित् मृत्यु के समय जीव की गति अथवा गमन का वर्णन आता है। स्पष्ट प्रतीत होता है कि जीव की गति की मान्यता प्राचीनकाल से चली आ रही है[1]।

## 5 जीव की नित्यानित्यता

### (अ) जैन और मीमांसक

उपनिषद् के विज्ञानघन इत्यादि वाक्य की व्याख्या (मी० 1593–96) और बौद्ध सम्मत क्षणिक विज्ञान का निराकरण (मी० 1631) करते हुए तथा अन्यत्र (मी० 1843 1961) आत्मा को नित्यानित्य कहा गया है। चेतन द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा नित्य है अर्थात् आत्मा कभी भी अनात्मा से उत्पन्न नहीं होता और न ही आत्मा किसी भी अवस्था में अनात्मा बनती है। इस दृष्टि से उसे नित्य कहते हैं। परन्तु आत्मा में ज्ञान विज्ञान की पर्याय अथवा अवस्थाएँ परिवर्तित होती रहती हैं अतः वह अनित्य भी है। यह स्पष्टीकरण जैन-दृष्टि के अनुसार है और मीमांसक कुमारिल को भी यह दृष्टि मान्य है[2]।

### (आ) सांख्य का कूटस्थवाद

इस विषय में दार्शनिकों की परम्पराओं पर कुछ विचार करना आवश्यक है। सांख्य योग आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है अर्थात् उसमें किसी भी प्रकार का परिणाम या विकार इष्ट नहीं है। संसार और मोक्ष भी आत्मा के नहीं प्रत्युत प्रकृति के माने गए हैं (सां०का० 62)। सुख दुःख ज्ञान भी प्रकृति के धर्म हैं आत्मा के नहीं (सां० का० 11)। इस तरह वह आत्मा को सर्वथा अपरिणामी स्वीकार करता है। कर्तृत्व न होने पर भी भोग आत्मा में ही माना गया है[3]। इस भोग के आधार पर भी आत्मा में परिणाम की सम्भावना है अतः कुछ सांख्य भोग को भी वस्तुतः आत्मा का धर्म मानना उचित नहीं समझते[4]। इस प्रकार उन्होंने आत्मा के कूटस्थ होने की मान्यता की रक्षा का प्रयत्न किया है। सांख्य के इस वाद को कतिपय उपनिषद्-वाक्यों का आधार भी प्राप्त[5] है। अतः हम कह सकते हैं कि आत्म कूटस्थवाद प्राचीन है।

### (इ) नैयायिक वैशेषिकों का नित्यवाद

नैयायिक और वैशेषिक द्रव्य व गुणों को भिन्न मानते हैं। अतः उनके मत के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि आत्म द्रव्य में ज्ञानादि गुणों को मानकर भी गुणों की अनित्यता के

---

1 छान्दोग्य 8 6 5

2 तत्त्वसं० का० 23 27 श्लोकवा० आत्मवाद 23 30

3 सांख्यका० 17

4 सांख्यत० 17

5 कठ० 1 2 18 19

(आ) दार्शनिकों का मत

उपनिषदों के इस परमात्मा के वर्णन को निरीश्वर सांख्य ने पुरुष में स्वीकार किया है और परमात्मा की तरह जीवात्मा-पुरुष को अकर्ता और अभोक्ता माना है। सांख्य मत में पुरुष व्यतिरिक्त किसी परमात्मा का अस्तित्व ही नहीं था अतः परमात्मा के धर्मों का पुरुष में आरोप कर और पुरुष को अकर्ता व अभोक्ता कह कर उसे मात्र द्रष्टारूप में स्वीकार किया गया।

इसके विपरीत नैयायिक वैशेषिक ने आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों धर्म स्वीकार किए हैं। यही नहीं परमात्मा में भी जगत् कर्तृत्व माना गया है। उपनिषदों ने प्रजापति[1] में जगत कर्तृत्व स्वीकार किया था नैयायिक वैशेषिकों ने उसे परमात्मा का धर्म मान लिया।

नैयायिक वैशेषिक मत में आत्मा एकरूप नित्य है अतः उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व जैसे क्रमिक धर्म कैसे सिद्ध हो सकते हैं? यदि वह कर्ता हो तो कर्ता ही रहेगा और भोक्ता हो तो भोक्ता ही रह सकता है। किंतु एकरूप वस्तु में यह कैसे सम्भव है कि वह पहले कर्ता हो और फिर भोक्ता? इस प्रश्न के उत्तर में नैयायिक और वैशेषिक कर्तृत्व और भोक्तृत्व की यह व्याख्या करते हैं – आत्मा द्रव्य के नित्य होने पर भी उसमें ज्ञान चिकीर्षा और प्रयत्न का जो समवाय है उसी का नाम कर्तृत्व है अर्थात आत्मा में ज्ञानादि का समवाय सम्बन्ध होना ही कर्तृत्व है। दूसरे शब्दों में आत्मा में ज्ञानादि की उत्पत्ति ही आत्मा का कर्तृत्व है। आत्मा स्थिर है परन्तु उसमें ज्ञान का सम्बन्ध होता है और वह नष्ट भी होता है। अर्थात ज्ञान स्वयं ही उत्पन्न व नष्ट होता है। आत्मा पूर्ववत स्थिर ही रहती है। इसी प्रकार उन्होंने भोक्तृत्व का स्पष्टीकरण किया है – सुख और दुःख के संवेदन का समवाय होना भोक्तृत्व[2] है। आत्मा में सुख और दुःख का जो अनुभव होता है उसे भोक्तृत्व कहते हैं यह अनुभव भी ज्ञानरूप होता है अतः वह आत्मा में उत्पन्न और नष्ट होता है। फिर भी आत्मा विकृत नहीं होती। उत्पत्ति और विनाश अनुभव के हैं आत्मा के नहीं। क्योंकि इस अनुभव का समवाय सम्बन्ध आत्मा से होता है अतः आत्मा भोक्ता कहलाती है। उस सम्बन्ध के नष्ट हो जाने पर वह भोक्ता नहीं रहती। इनके मत में द्रव्य और गुण में भेद है अतः गुण में उत्पत्ति और विनाश होने पर भी द्रव्य नित्य रह सकता है। इसके विपरीत जैन आदि जो दर्शन जीव को परिणामी मानते हैं उन सब के मत में आत्मा की भिन्न भिन्न अवस्थाएं होने के कारण उसमें सर्वदा एकरूपता नहीं हो सकती। कर्ता आत्मा कर्तारूप में परिणत होकर फिर भोक्तारूप में परिणत हो जाती है। यद्यपि कर्तारूप परिणाम और भोक्तारूप परिणाम भिन्न भिन्न हैं तथापि दोनों में आत्मा का अन्वय है अतः एक ही आत्मा कर्ता और भोक्ता कहलाती है। इसी बात को नैयायिक इस ढंग से कहते हैं कि एक ही आत्मा में वस्तु ज्ञान का पूर्व समवाय होता है अतः उसे कर्ता कहते हैं और उसी आत्मा में बन्ध में सुखादि के संवेदन का समवाय होता है अतः उसे भोक्ता कहते हैं।

---

1 प्रश्नोपनिषद 2 6

2 ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नानां समवायः कर्तृत्वम् न्यायवार्तिक 3 1 6 न्यायमंजरी पृ 469

3 सुखदुःखयोः संवेदनस्य समवायः भोक्तृत्वम्– न्यायवा० 3 1 6

(६) बौद्ध मत

अनात्मवादी-अशाश्वतात्मवादी बौद्ध भी पुद्गल को कर्ता और भोक्ता मानते हैं। उनके मत में नाम रूप का समुदाय पुद्गल या जीव है। एक नाम रूप से दूसरा नाम रूप उत्पन्न होता है। जिस नाम रूप ने कर्म किया, वह तो नष्ट हो जाता है किंतु उससे दूसरे नाम रूप की उत्पत्ति होती है और वह पूर्वोक्त कर्म का भोक्ता होता है। इस प्रकार सन्तति की अपेक्षा से पुद्गल में कर्तृत्व और भोक्तृत्व पाए जाते हैं।

काश्यप ने संयुक्तनिकाय में भगवान बुद्ध से इस विषय में चर्चा की है। उसने भगवान से पूछा दुःख स्वकृत है? परकृत है? स्वपरकृत है? या अस्वपरकृत है? इन सब प्रश्नों का उत्तर भगवान् ने नकारात्मक दिया। तब काश्यप ने भगवान से प्रार्थना की कि वे इसका स्पष्टीकरण करें। भगवान ने उत्तर देते हुए कहा कि दुःख स्वकृत है इस कथन का अर्थ यह होगा कि जिसने किया वही उसे भोगेगा किंतु इससे आत्मा को शाश्वत मानना पड़ेगा। यदि दुःख को स्वकृत न मानकर परकृत माना जाए अर्थात् कर्म का कर्ता कोई और है तथा भोक्ता अन्य है यह कहा जाए तो इससे आत्मा का उच्छेद मानना पड़ेगा। किंतु तथागत के लिए शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों ही अनिष्ट हैं। उसे प्रतीत्यसमुत्पादवाद मान्य है अर्थात पूर्वकालीन नाम रूप था अतः उत्तरकालीन नाम रूप की उत्पत्ति हुई। दूसरा पहले से उत्पन्न हुआ है अतः पहले द्वारा किए गए कर्म को भोगता है[1]।

यही बात राजा मिलिन्द को अनेक दृष्टान्तों द्वारा भदन्त नागसेन ने समझायी। उनमें एक दृष्टान्त यह था—एक व्यक्ति दीपक जलाकर घासफूस की झोंपड़ी में भोजन करने बैठा। अकस्मात उस दीपक से झोंपड़ी में आग लग गई। वह आग क्रमशः बढ़ते बढ़ते सारे गांव में फैल गई और उससे सारा गांव जल गया। भोजन करने वाले व्यक्ति के दीपक से केवल झोंपड़ी ही जली थी किंतु उससे उत्तरोत्तर अग्नि का जो प्रवाह प्रारम्भ हुआ उसने सारे गांव को भस्म कर दिया। यद्यपि दीपक की अग्नि से परम्परा बद्ध उत्पन्न होने वाली अन्य अग्नियाँ भिन्न थीं तथापि यह माना जाएगा कि दीपक ने गांव जला डाला। अतः दीपक जलाने वाला व्यक्ति अपराधी माना जाएगा। यही बात पुद्गल के विषय में है। जिस पूर्व पुद्गल ने काम किया वह पुद्गल चाहे नष्ट हो जाय किंतु उसी पुद्गल के कारण नये पुद्गल का जन्म होता है और वह फल भोगता है। इस प्रकार कर्तृत्व और भोक्तृत्व सन्तति में सिद्ध हो जाते हैं और कोई कर्म अभुक्त नहीं रहता। जिसने कार्य किया उसी को सन्तति की दृष्टि से उसका फल मिल जाता[2] है। बौद्धों की यह कारिका सुप्रसिद्ध है —

'यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्पासे रक्तता यथा॥[3]

जिस सन्तान में कर्म की वासना का पुट दिया जाता है उसी में ही कपास की लाली के समान फल प्राप्त होता है।

---

1 संयुक्तनिकाय 12 17, 12 24 विसुद्धिमग्ग 17 168-174
2 मिलिन्दप्रश्न 2 31 पृ० 48 न्यायमंजरी पृ 443
3 स्याद्वादमंजरी में उद्धृत कारिका 18 न्यायमंजरी पृ 443

धम्मपद का निम्न कथन भी सन्तति की अपेक्षा से कर्तृत्व और भोक्तृत्व की मान्यता के अनुसार ही है अन्यथा नहीं। जो पाप है उसे आत्मा ने ही किया है, वह आत्मा से उत्पन्न हुआ है[1]। [पाप करने वाले को ही उसका फल भोगना पड़ता है[2]। इस संसार में वे ऐसा स्थान नहीं जहाँ चले जाने से मनुष्य पाप के फल से बच जाए[3] इत्यादि।
बुद्ध ने अपने विषय में कहा है —

इतो एकनवते कप्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ॥

आज से पूर्व 91वें कल्प में मैंने अपने बल से एक मनुष्य का वध किया था उसके विपाक के कारण आज मेरा पाँव घायल हुआ है। बुद्ध का यह कथन भी शाश्वत आत्मा की अपेक्षा से नहीं अपितु सन्तान की अपेक्षा से ही समझना चाहिए।

बौद्धों के मत के अनुसार कर्तृत्व का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। कुशल अथवा अकुशल चित्त की उत्पत्ति ही कुशल या अकुशल कर्म का भी कर्तृत्व है। उनके मत में कर्ता और क्रिया भिन्न नहीं है ये दोनों एक ही हैं। क्रिया ही कर्ता है और कर्ता ही क्रिया है। चित्त और उसकी उत्पत्ति में कुछ भी भेद नहीं है। यही बात भोक्तृत्व के विषय में भी है। भोग और भोक्ता भिन्न नहीं हैं। दुःख वेदना के रूप में चित्त की उत्पत्ति ही चित्त का भोक्तृत्व है। इसी बुद्धवाक्य ने कहा है कि कर्म का कोई कर्ता नहीं और विपाक का कोई अनुभव करने वाला (वेदक) नहीं केवल शुद्ध धर्मों की प्रवृत्ति है[4]।

(ई) जैन मत

जैन आगमों में भी जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का वर्णन है। उत्तराध्ययन के कम्मा णाणाविहा कट्टु (3.2)-अनेक प्रकार के कर्म करके, कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि (4.3 12.10)-किए हुए कर्म का भोग बिना छुटकारा नहीं कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं (13.23)-कर्म कर्ता का अनुसरण करता है इत्यादि वाक्य प्रसिद्ध रूपेण जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का वर्णन करते हैं। किन्तु जिस प्रकार उपनिषदों में जीवात्मा को कर्ता और भोक्ता मानकर भी परमात्मा को दोनों से रहित माना गया है उसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने जीव के कर्मकर्तृत्व और कर्मभोक्तृत्व को व्यावहारिक दृष्टि से माना है और यह भी स्पष्ट करते किया है कि निश्चय दृष्टि से जीव कर्म का कर्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं[5]। इस

---

1 अत्तना व कतं पापं अत्तना संकिलिस्सति-धम्मपद 161
2 धम्मपद 66
3 धम्मपद 127
4 विसुद्धिमग्ग 19.20 इस विषय में विस्तृत विचार भगवान् बुद्ध का अनात्मवाद इस के नाम से प्रस्तुत किया गया है। दर्शनसार टि० पृ 152 देखें।
5 समयसार 93 95 में द्रष्टव्य।

विषय को उपनिषद् की भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं—संसारी जीव कर्म का कर्ता है किन्तु शुद्ध जीव कर्म का कर्ता नहीं है।

उपनिषदों के मतानुसार भी संसारी आत्मा और परमात्मा एक ही हैं और जैनमत में भी संसारी जीव तथा शुद्ध जीव एक ही हैं। दोनों में यदि भेद है तो वह यही है कि उपनिषदों के अनुसार परमात्मा एक ही है और जैनमत में शुद्ध जीव अनेक हैं किन्तु जैनों द्वारा सम्मत संग्रहनय की अपेक्षा से यह भेद रेखा भी दूर हो जाती है। संग्रहनय का मत है कि शुद्ध जीव चैतन्य स्वरूप की दृष्टि से एक ही है। जब हम इस बात का स्मरण करते हैं कि भगवान् महावीर ने गौतम गणधर से कहा था कि भविष्य में हम एक सदृश होने वाले हैं तब निर्वाण अवस्था में अनेक जीवों का अस्तित्व मान कर भी अद्वैत और द्वैत दोनों बहुत निकट हैं ऐसा प्रतीत होता है[1]।

नैयायिक आदि आत्मा को एकान्त नित्य मान कर बौद्ध अनित्य मान कर तथा जैन मीमांसक और अधिकतर वेदान्ती उसे परिणामी नित्य मान कर उसमें कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व की सिद्धि करते हैं किन्तु इन सब के मतानुसार मोक्षावस्था में इन दोनों में से किसी का भी अस्तित्व नहीं है। जब हम इस बात को अपने ध्यान में रखते हैं तब ज्ञात होता कि सभी दर्शन एक ही उद्देश्य को सम्मुख रख कर प्रवृत्त हुए हैं और वह है—जीव को कर्मपाश से कैसे मुक्त किया जाए?

जिस प्रकार नित्यवादियों के समक्ष यह प्रश्न था कि कर्म कर्तृत्व और भोक्तृत्व की उपपत्ति कैसे की जाए? उसी प्रकार यह भी समस्या थी कि नित्य आत्मा में जन्म मरण किस तरह होते हैं? उन्होंने इस समस्या का यह समाधान किया है कि आत्मा के जन्म का तात्पर्य उसकी उत्पत्ति नहीं है। शरीरादि से सम्बन्ध का नाम जन्म है और उन से वियोग का नाम मृत्यु। इस प्रकार आत्मा के नित्य होने पर भी उसमें जन्म मरण होते[2] हैं।

## 7 जीव का बंध और मोक्ष

छठे गणधर के साथ हुई चर्चा में बंध और मोक्ष तथा ग्यारहवें गणधर के साथ हुई चर्चा में निर्वाण पर ऊहापोह हुआ है। यद्यपि मोक्ष का ही दूसरा नाम निर्वाण है तथापि उसकी चर्चा दो बार हुई है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि छठे गणधर के साथ हुए प्रश्नोत्तर में बंध-सापेक्ष मोक्ष की चर्चा है और मोक्ष सम्भव है या नहीं? मुख्यतः इस पर विचार किया गया है परन्तु निर्वाण सम्बन्धी चर्चा में निर्वाण के अस्तित्व के अतिरिक्त उसके स्वरूप पर मुख्यतः विचार किया गया है।

### (अ) मोक्ष का कारण

जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने वाले सभी आस्तिक दर्शनों ने बंध और मोक्ष का स्वीकार किया ही है। इतना ही नहीं अपितु अनात्मवादी बौद्धों ने भी दुःख-मोक्ष की

---

1 भगवती 14 7

2 स्थानाङ्ग 1 1 19 4 1 10 स्थानाङ्ग 2 1 4 3 1 19

विशुद्ध सत्व कहा गया है उसी को नागसेन ने विशुद्ध मनोविज्ञान कहा है। उपनिषदों में ब्रह्म दशा का निरूपण नेति नेति कह कर किया गया[1] है और इसी बात को पूर्वोक्त प्रकार से नागसेन ने कहा है। जो वस्तु अनुभव ग्राह्य हो उस का वर्णन सम्भव नहीं है और यदि किया भी जाए तो वह अधूरा रह जाता है अत श्रेष्ठ मार्ग यही है कि यदि निर्वाण के स्वरूप का ज्ञान करना ही हो तो स्वयं उसका साक्षात्कार किया जाए। भगवान महावीर ने भी विशुद्ध आत्मा के विषय में कहा है कि वहाँ वाणी की पहुंच नहीं तर्क की गति नहीं बुद्धि अथवा मति भी वहाँ पहुंचने में असमर्थ है यह दीर्घ नहीं ह्रस्व नहीं गोल नहीं त्रिकोण नहीं कृष्ण नहीं नील नहीं स्त्री नहीं और पुरुष भी नहीं है। यह उपमा रहित है और अनिर्वचनीय है[2]। इस प्रकार भगवान महावीर ने भी उपनिषदों और बुद्ध के समान नेति नेति का ही आश्रय लेकर विशुद्ध अथवा मुक्त आत्मा का वर्णन किया है। इस मुक्तात्मा के स्वरूप का यथार्थ अनुभव उसी समय होता है जब वह देह मुक्त होकर मुक्ति प्राप्त करे।

ऐसी वस्तु स्थिति होने पर भी दार्शनिकों ने अवर्णनीय का भी वर्णन करने का प्रयत्न किया है। आचार्य हरिभद्र ने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि यद्यपि उन वर्णनों में परिभाषाओं का भेद है तथापि तत्त्व में कोई अन्तर नहीं है। उन्होंने कहा है कि संसारातीत तत्त्व जिसे निर्वाण भी कहते हैं अनेक नामों से प्रसिद्ध है किन्तु तत्त्वतः एक[3] ही है। इसी एक तत्त्व के ही सदाशिव परमब्रह्म सिद्धात्मा तथता आदि नाम चाहे भिन्न भिन्न हों परन्तु वह तत्त्व एक ही है[4]। इसी बात को आचार्य कुन्दकुन्द ने भी कहा है। उन्होंने कर्म विमुक्त परमात्मा के ये पर्याय कहे हैं—ज्ञानी शिव परमेष्ठी सर्वज्ञ विष्णु चतुर्मुख बुद्ध परमात्मा। इससे भी ज्ञात होता है कि परम तत्त्व एक ही है नामों में भेद हो सकता है[5]।

इस प्रकार ध्येय की दृष्टि से भले ही निर्वाण में भेद नहीं है किन्तु दार्शनिकों ने जब उसका वर्णन किया तब उसमें अन्तर पड़ गया और उस अन्तर का कारण दार्शनिकों की पृथक पृथक तत्त्व-व्यवस्था है। इस तत्त्व व्यवस्था में जैसा भेद है वैसा ही निर्वाण के वर्णन में दृष्टि गोचर होना स्वाभाविक है। उदाहरणतः न्याय-वैशेषिक आत्मा और उसके ज्ञान सुखादि गुणों को भिन्न भिन्न मानते हैं और आत्मा में ज्ञानादि की उत्पत्ति को शरीर पर आश्रित मानते हैं। अतः यदि मुक्ति में शरीर का अभाव हो जाता है तो न्याय वैशेषिकों को यह स्वीकार करना पड़ता कि मुक्तात्मा में ज्ञान सुखादि गुणों का भी अभाव होता है। यही कारण है कि उन्होंने यह बात मानी कि मुक्ति में आत्मा के ज्ञान सुखादि गुणों की सत्ता नहीं रहती केवल विशुद्ध चैतन्य तत्त्व शेष रहता है[6]। इसी का नाम मुक्ति है। जीवात्मा की मुक्ति में ज्ञान सुखादि से

---

1 बृहदा० 4 5 15

2 आचाराग सू० 170

3 संसारातीततत्त्वं तु परं निर्वाणसंज्ञितम्। तद्धर्मकमेव नियमात् [illegible] तत्त्वतः ॥ योगदृष्टिसमुच्चय 129

4 सदाशिवं परब्रह्म सिद्धात्मा तथतेति च। [illegible] स्तदुच्यतेऽन्वर्थात् कर्मक्षयादिभिः ॥ योगदृष्टि० 130 षोडशक 16 1-4

5 भावप्राभृत 149

6 न्यायभाष्य 1 1 21 न्यायमंजरी पृ० 508

रहित मानकर भी उन्होंने ईश्वरात्मा को नित्य ज्ञान सुखादि से युक्त माना है[1]। इस प्रकार आत्मा के स्थान पर परमात्मा में सर्वज्ञता और आत्यन्तिक सुख-आनन्द मानकर आप वैशेषिक भी उन दार्शनिकों की पंक्ति में सम्मिलित हो गए हैं जो मुक्तात्मा का ज्ञान एवं सुखादि से सम्पन्न मानते हैं।

बौद्धों ने दीपनिर्वाण की उपमा से निर्वाण का वर्णन किया है। इससे एक यह भ्रान्ति प्रचलित हुई कि निर्वाण में चित्त का नाश हो जाता है। निरोध शब्द का व्यवहार ऐसा था जो दार्शनिकों को भ्रम में डाल दे[2]। इस से भी इस मान्यता को समर्थन प्राप्त हुआ कि मुक्ति में कुछ भी शेष न रहता। किन्तु बौद्ध दर्शन पर समग्र भाव से विचार किया जाए तो ज्ञात होता है कि वहाँ भी निर्वाण का स्वरूप वैसा ही बताया गया है जैसा कि उपनिषदों अथवा अन्य शास्त्रों में[3]। विश्व के सभी पदार्थ संस्कृत अथवा उत्पत्तिशील हैं अतः क्षणिक हैं किन्तु निर्वाण अपवाद स्वरूप है। निर्वाण असंस्कृत है। उसकी उत्पत्ति में कोई भी हेतु नहीं है अतः उसका विनाश भी नहीं होता। असंस्कृत होने के कारण वह अजात अभूत और अकृत है। संस्कृत अनित्य अशुभ और दुःखरूप होता है किन्तु असंस्कृत अनित्य शुभ और सुखरूप है[4]। जिस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्मानन्द को आनन्द की पराकाष्ठा[5] माना गया है उसी प्रकार निर्वाण का आनन्द भी आनन्द की पराकाष्ठा[6] है। इस तरह बौद्धों के मतानुसार भी निर्वाण में ज्ञान और आनन्द का अस्तित्व है। यह ज्ञान और आनन्द असंस्कृत अथवा अज है यह कहे जाने से नैयायिकों के ईश्वर के ज्ञान और आनन्द से वस्तुतः इनका कोई भेद नहीं है। यहाँ नहीं [illegible] संस्कृत ब्रह्म की नित्यता और आत्मरूपता तथा बौद्धों के निर्वाण में भी भेद नहीं है।

[illegible] मत में भी नैयायिकों द्वारा मान्य आत्मा के समान मुक्तावस्था में [illegible] नहीं रहता है। नैयायिक मत में ज्ञान सुखादि आत्मा के गुण हैं किन्तु उन को [illegible] नहीं है। अतः शरीर के अभाव में उन्होंने जैसे उन गुणों का अभाव स्वीकार किया वैसे ही [illegible] को यह स्वीकार करना पड़ा कि ज्ञान सुखादि प्राकृतिक धर्म होने के [illegible] का विनाश होने पर मुक्तात्मा में विद्यमान नहीं रहते और पुरुष आत्म [illegible] स्वरूप में स्थित रहता है। [illegible] मानते हैं कि पुरुष को जब कैवल्य की प्राप्ति होती है [illegible] का होता है। [illegible] के पाठकों को ज्ञात हो जाएगा कि

1 [illegible] 10-11

2 [illegible] 1975

3 [illegible] विशुद्धिमग्ग 8 247 16 64

4 [illegible] विशुद्धिमग्ग 16 67 [illegible]।

5 [illegible] 16 4

[illegible] 16 [illegible], 16 9)

[illegible]

6 [illegible]

मुक्तात्मा के विशुद्ध चैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठित रहने की मान्यता के विषय में जहाँ सांख्य योग आदि दर्शनिक एकमत हैं वहाँ जैन भी इस मत से सहमत हैं।

इस सामान्य मान्यता के विषय में सबका एकमत है कि मुक्तात्मा विशुद्ध चैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठित रहती है किन्तु विचारों में जो किंचित मतभेद है उसका उल्लेख भी आवश्यक है। उपनिषदों में ब्रह्म को चैतन्यरूप के साथ-साथ आनन्द रूप भी माना है। नैयायिकों ने ईश्वर में तो आनन्द का अस्तित्व स्वीकार किया है किन्तु मुक्तात्मा में नहीं। बौद्धों ने निर्वाण में आनन्द की सत्ता स्वीकृत की है। जैनों ने आनन्द के अतिरिक्त नैयायिकों के ईश्वर के समान शक्ति अथवा वीर्य भी स्वीकार किया है। जैनों ने चैतन्य को ही ज्ञान दर्शन शक्ति कहा है किन्तु नैयायिक-वैशेषिक मत में मुक्तात्मा में ज्ञान दर्शन नहीं होते। सांख्य मत में चितशक्ति पुरुष में है फिर भी उसमें ज्ञान नहीं होता किन्तु साक्षित्व होता है। इन सभी मतभेदों का समन्वय असम्भव नहीं है।

जब हम इस विषय पर विचार करते हैं कि मुक्तात्मा में आनन्द का ज्ञान से पृथक क्या स्वरूप है? तब यही निष्कर्ष निकलता है कि आनन्द भी ज्ञान का ही एक पर्याय है। जैनाचार्यों ने इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार किया[1] है। बौद्ध दार्शनिकों ने भी ज्ञान और सुख को सर्वथा भिन्न नहीं माना है। वेदान्त मत में भी एक अखण्ड ब्रह्म-तत्त्व में ज्ञान आनन्द चैतन्य इन सबका वास्तव में भेद करना अद्वैत के विरोध के समान ही है। नैयायिक चैतन्य और ज्ञान में भेद का वर्णन करते हैं परन्तु जब हम यह देखते हैं कि उन्होंने नित्य मुक्त ईश्वर में नित्य ज्ञान स्वीकार किया है तब हम यह मानना पड़ता है कि वे इस भेद को सर्वथा अभिन्न नहीं रख सके। पुनश्च मुक्तात्मा चेतन होकर भी ज्ञानहीन हो तो इस चैतन्य का स्वरूप भी एक समस्या का रूप धारण कर लेता है। यहाँ यदि हम याज्ञवल्क्य द्वारा मैत्रेयी के प्रति कहे गए इस कथन पर कि न तस्य प्रेत्य संज्ञा अस्ति —मृत्यु के बाद उसकी कोई संज्ञा नहीं होती—सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो इसका समाधान हो जाता है। यह ऐसी अवस्था है जिसका नामकरण नहीं किया जा सकता। यदि इसे ज्ञान कहा जाए तो ज्ञान के विषय में साधारण जनों का जो विचार है वही उनके मन में स्थान प्राप्त करेगा अर्थात इन्द्रियों अथवा मन के द्वारा होने वाला ज्ञान। परन्तु मुक्तात्मा में इन साधनों का अभाव होता है अतः उसके ज्ञान को ज्ञान कैसे माना जाए? आत्मा स्वयं प्रतिष्ठित है वह बाहर क्या देखे? बहिर्वृत्ति क्यों बने? और यदि आत्मा बहिर्वृत्ति नहीं होता तो उसे ज्ञानी कहने की अपेक्षा चैतन्यघन कहना अधिक उपयुक्त है। नैयायिकों ने ज्ञान की व्याख्या इस प्रकार की है —आत्मा का मन के साथ सन्निकर्ष होता है और फिर इन्द्रिय के साथ तथा उसके द्वारा बाह्य पदार्थ के साथ सन्निकर्ष होता है तब ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ज्ञान की इस व्याख्या के अनुसार यह बात स्वाभाविक है कि नैयायिक मुक्तावस्था में ज्ञान की सत्ता न मानें। अर्थात उनकी ज्ञान की परिभाषा ही भिन्न है। परिभाषा के भेद के कारण तत्त्वों में कुछ भी भेद नहीं पड़ता। अन्यथा नैयायिकों के मत में जड़ पदार्थ और चैतन्य-पदार्थ में क्या भेद रह जाएगा? अतः यह बात माननी पड़ेगी कि जड़ से भेद

1 सर्वार्थसिद्धि 10-4

कराने वाला आत्मा में कोई तत्त्व अवश्य है जिसके आधार पर नयायिकों ने उसे चेतन माना है। उस तत्त्व का नाम चैतन्य है। आत्मा को चेतन मानने के विषय में उनका किसी भी दार्शनिक से मतभेद ही नहीं है केवल उनकी ज्ञान की परिभाषा अमान्य है अतः उन्होंने ज्ञान शब्द से चैतन्य का बोध कराना उचित नहीं समझा। वैशेषिक जब अधिक सूक्ष्म विचार करने लगे तब वे चैतन्य को चैतन्य शब्द से प्रतिपादित करने के लिए उद्यत हुए और नेति नेति कहकर उसका वर्णन करने लगे। यह बात सिद्ध ही है कि अन्य दार्शनिकों ने भी ऐसा ही किया। भाषा की शक्ति इतनी सीमित है कि वह परम तत्त्व के स्वरूप का यथार्थ वर्णन कर ही नहीं सकती क्योंकि विचारकों ने उन भिन्न भिन्न शब्दों की परिभाषा अनेक प्रकार से की है अतः उन उन शब्दों का प्रयोग करने से वस्तु का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। इसके विपरीत कई बार अधिक उलझनें पैदा हो जाती हैं।

मुक्तात्मा में शक्ति को पृथक् रूप से स्वीकार करने पर यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि शक्ति क्या है? इस पर विचार करते हुए आचार्यों ने कह दिया कि शक्ति के अभाव में अनन्त ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती अतः ज्ञान में ही उसका समावेश कर लेना चाहिए[1]।

(उ) मुक्ति स्थान

जो दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं उनके मत में मुक्ति स्थान की कल्पना अनावश्यक थी। आत्मा जहाँ है वहीं है केवल उसका मल दूर हो जाता है। उसे अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। फिर प्रश्न यह है कि जब वह सर्वव्यापक है तब उसका गमन कहाँ हो? किन्तु जैनदर्शन बौद्धदर्शन और जीवात्मा को अणुरूप मानने वाले भक्तिमार्गी वेदान्तदर्शन के सम्मुख मुक्ति स्थान विषयक समस्या का उपस्थित होना स्वाभाविक था। जैनों ने यह बात मानी है कि ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग में मुक्तात्मा का गमन होता है और सिद्धशिला नामक भाग में हमेशा के लिए उसकी अवस्थिति रहती है। भक्तिमार्गी वैष्णव मानते हैं कि विष्णु भगवान के विष्णुलोक में जो ऊर्ध्वलोक है वहाँ मुक्त जीवात्मा का गमन होता है और उस परब्रह्मरूप भगवान विष्णु का हमेशा के लिए सान्निध्य प्राप्त होता है। बौद्धों ने इस प्रश्न का निराकरण दूसरे प्रकार से किया है। उनके मत में जीव या पुद्गल कोई शाश्वत द्रव्य नहीं है अतः वे पुनर्जन्म के समय एक जीव का अन्यत्र गमन नहीं मानते किन्तु वे एक स्थान में एक चित्त का निरोध और उसकी अपेक्षा से अन्यत्र नए चित्त की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी सिद्धान्त के अनुरूप मुक्त चित्त के विषय में भी सिद्धान्त निश्चित किया जाय।

राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से पूछा कि पूर्वादि दिशाओं में ऐसा कौनसा स्थान है जिसके निकट निर्वाण की स्थिति है? आचार्य ने उत्तर दिया कि निर्वाण स्थान कहीं किसी दिशा में अवस्थित नहीं है जहाँ जा कर मुक्तात्मा निवास करे। तो फिर निर्वाण कहाँ प्राप्त होता है? जिस प्रकार समुद्र में रत्न फूल में गंध वृक्ष में छाया आदि का स्थान नियत है उसी

1 सर्वार्थसिद्धि 10.4

प्रकार निर्वाण का भी कोई निश्चित स्थान होना चाहिए। यदि उसका कोई ऐसा स्थान नहीं है तो फिर यह क्यों नहीं कहते कि निर्वाण भी नहीं है? इस आक्षेप का उत्तर देते हुए नागसेन ने कहा कि निर्वाण का कोई नियत स्थान न होने पर भी उसकी सत्ता है। निर्वाण कहीं बाहर नहीं है, अपने विशुद्ध मन में इसका साक्षात्कार करना पड़ता है। यदि कोई यह प्रश्न करे कि जलने से पहले अग्नि कहाँ है? तो उसे अग्नि का स्थान नहीं बताया जा सकता किन्तु जब दो लकड़ियाँ मिलती हैं तब अग्नि प्रकट होती है। उसी प्रकार विशुद्ध मन से निर्वाण का साक्षात्कार हो सकता है किन्तु उसका स्थान बताना शक्य नहीं है। यदि यह मान भी लिया जाए कि निर्वाण का नियत स्थान नहीं है तो भी ऐसा कोई निश्चित स्थान अवश्य होना चाहिए जहाँ अवस्थित रहकर पुद्गल निर्वाण का साक्षात्कार कर सके। इस प्रश्न के उत्तर में नागसेन ने कहा कि पुद्गल शील में प्रतिष्ठित होकर किसी भी आकाश प्रदेश में रहते हुए निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है[1]।

(ऊ) जीवन्मुक्ति—विदेहमुक्ति

आत्मा से मोह दूर हो जाए और वह वीतराग बन जाए तब शरीर तत्काल अलग हो जाता है अथवा नहीं? इस प्रश्न के उत्तर के फलस्वरूप मुक्ति की कल्पना दो प्रकार से की गई—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। राग द्वेष का अभाव हो जाने पर भी जब तक आयुकर्म का विपाक फल पूर्ण न हुआ हो तब तक जीव शरीर में रहता है अथवा उसके साथ शरीर सम्बद्ध रहता है। किन्तु संसार या पुनर्जन्म के कारणभूत अविद्या और राग द्वेष के नष्ट हो जाने पर आत्मा में नये शरीर को ग्रहण करने की शक्ति नहीं रहती अतः ऐसी आत्मा का प्राणधारण रूप जीवन जारी रहने पर भी वह मोह राग द्वेष से मुक्त होने के कारण जीवन्मुक्त कहलाती है। जब उसका शरीर भी पृथक् हो जाता है तब उसे विदेहमुक्त अथवा केवल मुक्त कहते हैं।

विद्वानों की मान्यता है कि उपनिषदों में जीवन्मुक्ति के उपरान्त क्रममुक्ति का सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया गया है। इस बात का दृष्टान्त कठोपनिषद् से दिया जाता है। उसमें लिखा है कि उत्तरोत्तर उन्नतलोक में आत्म प्रत्यक्ष क्रमशः विमल और विमलतर होता जाता है। इससे ज्ञात होता है कि इस उपनिषद् में क्रममुक्ति का उल्लेख है—अर्थात् आत्म साक्षात्कार क्रमिक होता है। दूसरे दर्शनों में मान्य आत्म विकास के क्रम की इससे तुलना की जा सकती है। जैनों ने उसे गुणस्थान क्रमारोह कहा है और बौद्धों ने उसे योगचर्या की भूमि का नाम दिया है। वैदिक दर्शन में इसी वस्तु को भूमिका कहा गया है।

उपनिषदों में जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त भी उपलब्ध होता है। इसी कठोपनिषद् में आगे जाकर लिखा है कि जब मनुष्य के हृदय में रही हुई सभी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं तब वह अमर बन जाता है और यहीं ब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है। जब यहाँ हृदय की सभी गाँठें टूट जाती हैं तब मनुष्य अमर हो जाता है[3]।

---

1 मिलिन्दप्रश्न 4 8 92–94

2 कठ 2 3 5

3 कठ० 2 3 14–15 मण्डक 3 2 6 बृहदा० 4 4 6–7

उपनिषदों के भाष्यकारों का जीवन्मुक्ति के विषय में एक मत नहीं है। आचार्य शंकर, विज्ञानभिक्षु और वल्लभ इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं किन्तु भक्ति-मार्ग के अनुयायी अन्य वेदान्ती रामानुज, निम्बार्क और मध्व इसे नहीं मानते[1]।

बौद्धों के मत में सोपादिशेष निर्वाण और अनुपादिशेष निर्वाण क्रमशः जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति के नाम हैं। उपादि का अर्थ है पाँच स्कंध। जब तक ये शेष हों तब तक सोपादिशेष निर्वाण और जब इन स्कंधों का निरोध हो जाय तब 'अनुपादिशेष निर्वाण' होता है।

योग वशिष्ठ[2] और सांख्य योग[3] मत में भी जीवन्मुक्ति सम्भव मानी गई है।

जो विचारकगण जीवन्मुक्ति का स्वीकार नहीं करते उनके मत में आत्म-साक्षात्कार होते ही समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं और आत्मा विदेह होकर मुक्त बन जाती है। इसके विपरीत जो जीवन्मुक्ति मानते हैं उनकी मान्यतानुसार आत्म साक्षात्कार हो जाने पर भी कर्म अपने समय पर ही फल देकर क्षीण होते हैं तत्काल नहीं। इस प्रकार आत्मा पहले जीवन्मुक्त बनती है और फिर कालान्तर में शेष संस्कार क्षीण होने पर विदेह मुक्त।

## (आ) कर्मविचार

समस्त गणधरवाद में कर्म का विचार कई स्थानों पर किया गया है। दूसरे गणधर अग्निभूति ने तो उसके अस्तित्व के विषय में ही प्रश्न उपस्थित किया है और भगवान महावीर ने कर्म का अस्तित्व सिद्ध किया है। साथ ही कर्म अमूर्त है, मूर्त के परिणामी है, विचित्र है, अनादि काल से सम्बद्ध है इत्यादि विविध विषयों की चर्चा की गई है। पाँचवें गणधर सुधर्मा के साथ इस लोक और परलोक के सादृश्य वैसादृश्य की चर्चा हुई। उस अवसर पर भी यह बताया गया है कि यही लोक हो अथवा परलोक किन्तु उसके मूल में कर्म की सत्ता है और संसार कर्म मूलक ही है। इस गणधर की चर्चा का विषय बंध और मोक्ष है अतः उसमें भी जीव का कर्म के साथ बंध और उसकी कर्म से मुक्ति की ही चर्चा है। उस समय भी कर्म की सामान्य चर्चा के उपरान्त यह विचार किया गया है कि जीव पुण्य है अथवा कर्म और इसी का हल अन्त में माना गया है। नौवें गणधर की चर्चा का मुख्य विषय पुण्य पाप है अतः उसमें शुभ कर्म और अशुभ कर्म के अस्तित्व की चर्चा ही प्रधान है। इस प्रसंग पर दूसरे [illegible] चर्चा के कई विषयों की पुनरावृत्ति करने के पश्चात कर्म सम्बन्धी अनेक नए [illegible] की चर्चा की है जैसे कि कर्म के संक्रम का नियम, कर्म ग्रहण की प्रक्रिया, कर्म का [illegible] में परिवर्तन, कर्म के भेद इत्यादि। दसवें गणधर ने परलोक विषयक चर्चा की है [illegible] इस है कि परलोक कर्माधीन है। अन्तिम गणधर के साथ [illegible]

---

1 [illegible]

2 [illegible] 16 3

3 [illegible]

4 [illegible] 4 30

निर्वाण सम्बन्धी चर्चा में भी यह प्रतिपादित किया गया है कि अनादि कर्म संयोग का नाश ही निर्वाण है। इस प्रकार भिन्न भिन्न गणधरों के साथ होने वाले वादों में कर्म चर्चा विविध रूप में सम्पात सामने आई है। चौथे गणधर की चर्चा में शून्यवाद के प्रकरण में भी आनुषंगिक रूप से कर्म चर्चा का सम्बन्ध है क्योंकि उसमें शून्यवादी सम्मत भूतों का निराकरण करते हैं। जैन मत में कर्म भौतिक हैं अतः इस चर्चा के साथ भी कर्म चर्चा आनुषंगिक रूप से सम्बन्धित है। सातवें व आठवें गणधरों की चर्चा में क्रमशः देवों और नारकियों की चर्चा है। उसका अभिप्राय भी यही है कि शुभ कर्म के फलस्वरूप देवत्व और अशुभ कर्म के फलस्वरूप नारकत्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार प्रायः समस्त गणधरवाद में कर्म चर्चा को पर्याप्त महत्त्व मिला है। अतः अब कर्म के विषय में विचार करना उचित है।

**(1) कर्म विचार का मूल**

*यह तो नहीं कहा जा सकता कि वैदिक काल के ऋषियों को मनुष्यों में तथा अन्य* अनेक प्रकार के पशु पक्षी एवं कीट पतंगों में विद्यमान विविधता का अनुभव नहीं हुआ होगा। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने इस विविधता का कारण अन्तरात्मा में खोजने की अपेक्षा उन बाह्य-तत्त्वों में मानकर ही सन्तोष कर लिया था।

किसी ने यह कल्पना की कि सृष्टि की उत्पत्ति का कारण एक अथवा अनेक भौतिक तत्त्व हैं किंवा प्रजापति जैसा तत्त्व सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है किन्तु इस सृष्टि में विविधता का आधार क्या है? इसके स्पष्टीकरण का प्रयत्न नहीं किया गया। जीव-सृष्टि के अन्य वर्गों की बात छोड़ भी दें तो भी केवल मानव सृष्टि में शरीरादि की सुख दुःख की बौद्धिक शक्ति अशक्ति की जो विविधता है उसके कारण की विशेष प्रयत्न पूर्वक शोध की गई हो ऐसा ज्ञात नहीं होता। वैदिक काल का समस्त तत्त्व ज्ञान क्रमशः देव और यज्ञ को केन्द्र बिन्दु बनाकर विकसित हुआ। सर्वप्रथम अनेक देवों की और तत्पश्चात् प्रजापति के समान एक देव की कल्पना की गई। सुखी होने के लिए अथवा अपने शत्रुओं का नाश करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह उन देव अथवा उन देवों की स्तुति करे सजीव अथवा निर्जीव अपनी इष्ट वस्तु को यज्ञ कर उसे समर्पित करे। इससे देव सन्तुष्ट होकर मनोकामना पूर्ण करते हैं। यह मान्यता वेदों से लेकर ब्राह्मण काल तक विकसित होती रही। देवों को प्रसन्न करने के साधन भूत यज्ञ कर्म का क्रमिक विकास हुआ और धीरे धीरे इसका रूप इतना जटिल हो गया कि यदि साधारण व्यक्ति यज्ञ करना चाहे तो यज्ञ कर्म में निष्णात पुरोहितों की सहायता के बिना इसकी सम्भावना ही नहीं थी। इस प्रकार वैदिक ब्राह्मणों का समस्त तत्त्वज्ञान देव तथा उन्हें प्रसन्न करने के साधन यज्ञ कर्म की सीमा में विकसित हुआ।

ब्राह्मण-काल के पश्चात् रचित उपनिषदों भी वेदों और ब्राह्मणों का अन्तिम भाग होने के कारण वैदिक-साहित्य के ही अंग हैं और उन्हें वेदान्त कहते हैं। किन्तु इनसे पता चलता है कि वेद-परम्परा प्रधान देव तथा यज्ञ-परम्परा का अन्त निकट ही था। इनमें ऐसे नवीन विचार उपलब्ध होते हैं जो वेद व ब्राह्मण-ग्रन्थों में नहीं थे। उनमें संसार और कर्म सम्बन्धी विशेष नूतन विचार भी प्राप्त होते हैं। ये विचार वैदिक परम्परा के ही उपनिषदों में कहीं

में आए इनका उद्भव विकास के नियमानुसार वैदिक विचारों से ही हुआ अथवा अन्य परम्परा के विचारकों से वैदिक विचारकों ने इन्हें ग्रहण किया—इन बातों का निर्णय आधुनिक विद्वान अभी तक नहीं कर सके। फिर भी यह बात निश्चित है कि वैदिक साहित्य में सर्वप्रथम उपनिषदों में ही इन विचारों का दर्शन होता है। आधुनिक विद्वानों में इस विषय में कोई विवाद नहीं है कि उपनिषदों के पूर्वकालीन वैदिक-साहित्य में संसार और कर्म की कल्पना का स्पष्ट रूप दिखाई नहीं देता। कम कारण है ऐसा कहना भी उपनिषदों का सर्वसम्मत कथन है यह भी नहीं कहा जा सकता[1]। अतः इसे वैदिक विचारधारा का मौलिक विचार स्वीकार न किया जा सकता। श्वेताश्वतर उपनिषद् में जहाँ अनेक कारणों का उल्लेख किया है वहाँ काल स्वभाव नियति यदृच्छा भूत अथवा पुरुष अथवा इन सबके संयोग का प्रतिपादन है। कालादि को कारण मानने वाले वैदिक हों या अवैदिक किन्तु इन कारणों में भी कर्म का समावेश नहीं है।

अब इस बात की शोध करना शेष है कि जब उपनिषद् काल में भी वैदिक-परम्परा में कर्म या अन्य संज्ञा से कोई तत्त्व नहीं था तब वैदिक-परम्परा में इस विचार का आगमन कौन सी परम्परा से हुआ? कुछ विद्वानों का मत है कि आर्यों ने ये विचार भारत के आदिवासियों (Primitive People) से ग्रहण किये[2]। प्रोफेसर हिरियन्ना ने इस मान्यता का निराकरण यह लिखकर किया है कि आदिवासियों का यह सिद्धान्त कि आत्मा मर कर वनस्पति आदि में गमन करती है केवल एक अंध विश्वास अथवा मिथ्या भ्रान्ति (superstition) था। तत्त्वतः उनके इस विचार को तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। पुनर्जन्म के सिद्धान्त का न तो मनुष्य की तार्किक और न तर्क चेतना को सन्तुष्ट करना है।

आदिवासियों की यह मान्यता कि मनुष्य का जीव मर कर वनस्पति आदि के रूप में जन्म लेता है केवल अंध विश्वास कहकर स्पष्ट नहीं की जा सकता। उपनिषदों से पहले जिस मूल आदिवासियों की पूर्वोक्त मान्यता में सरलतया सम्बद्ध है। इस तथ्य की प्रतीति उस समय है जब हम जन्म सम्मत जीववाद और कर्मवाद के गहन मूल को ढूंढने का प्रयास करते हैं। वैदिक परम्परा का यह मान्य नाम कुछ भी हो किन्तु यह बात असन्दिग्ध है कि यह उपनिषदों में स्वतन्त्र और प्रधान है। अतः यह मानना निराधार है कि उपनिषदों में प्रस्तुत होने वाले कर्मवाद विषयक नवीन विचार प्रस्फुटित हुए हैं वे जन-सम्मत कर्मवाद के प्रभाव से रहित हैं। यदि वैदिक-परम्परा देश के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ती थी तो यह कर्मवाद के इस सिद्धान्त को ग्रहण कर यह मानने लगा कि कर्म-तत्त्व की शक्ति देवों में नहीं प्रत्युत स्वयं में

1 Hiriyanna Outlines of Indian Philosophy p 80 Belvelkar History of Indian Philosophy pt II p 82

2 [illegible] विस्तृत के लिए देखें। Hiriyanna Outlines of Indian [illegible]

कर्म में है। वैदिकों ने देवों के स्थान पर यज्ञ कर्म को प्रतिष्ठित कर दिया। देव और कुछ नहीं वेद के मंत्र ही देव हैं। इस यज्ञ कर्म के समर्थन में ही अपने को कृत-कृत्य मानने वाली दार्शनिक-काल की मीमांसक विचारधारा ने तो यज्ञादि कर्म से उत्पन्न होने वाले अपूर्व नाम के पदार्थ की कल्पना कर वैदिक ज्ञान में देवों के स्थान पर अदृष्ट-कर्म का ही साम्राज्य स्थापित कर दिया।

यदि हम इस समस्त इतिहास को दृष्टि-सम्मुख रखें तो वैदिकों पर जैन परम्परा के कर्मवाद का व्यापक प्रभाव स्पष्टतः प्रतीत होता है। वैदिक परम्परा में आर्य वेद और उपनिषदों तक की सृष्टि प्रक्रिया के अनुसार जड़ और चेतन सृष्टि अनादि न होकर सादि है। यह भी माना गया था कि वह सृष्टि किसी एक या किन्हीं अनेक जड़ अथवा चेतन-तत्त्वों से उत्पन्न हुई है। इससे विपरीत कर्म सिद्धान्त के अनुसार यह मानना पड़ता है कि जड़ अथवा जीव सृष्टि अनादि काल से चली आ रही है। यह मान्यता जैन परम्परा के मूल में ही विद्यमान है। उसके अनुसार किसी ऐसे समय की कल्पना नहीं की जा सकती जब जड़ और चेतन का कर्म पर आश्रित अस्तित्व न रहा हो। यही नहीं उपनिषदों के अनन्तरकालीन समस्त वैदिक मतों में भी संसारी जीव का अस्तित्व इसी प्रकार अनादि स्वीकार किया गया है। यह कर्म तत्त्व की मान्यता की ही देन है। कर्म तत्त्व की कुञ्जी इस सूत्र से प्राप्त होती है कि जन्म का कारण कर्म है और इसी सिद्धान्त के आधार पर संसार के अनादि होने की कल्पना की गई है। अनादि संसार के जिस सिद्धान्त को बाद में सभी वैदिक-दर्शनों ने स्वीकार किया वह इन दर्शनों की उत्पत्ति के पूर्व ही जैन एवं बौद्ध परम्परा में विद्यमान था। किन्तु वेद अथवा उपनिषदों में इस सर्वसम्मत सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत नहीं किया गया। इसी से पता चलता है कि इस सिद्धान्त का मूल वेद बाह्य परम्परा में है। यह बाहर परम्परा भारत में आर्यों के आगमन से पहले के निवासियों की ही है और उनकी इन मान्यताओं का ही सम्पूर्ण विकास वर्तमान जैन परम्परा में उपलब्ध होता है।

जैन परम्परा प्राचीन काल से ही कर्मवादी है। इसमें देववाद को कभी भी स्थान प्राप्त नहीं हुआ। अतः कर्मवाद की जैसी व्यवस्था जैन-ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होती है वैसी विस्तृत व्यवस्था अन्यत्र दुर्लभ है। अनेक जीवों के उन्नत और अवनत जीवन भी प्रकार सम्भव हैं और एक ही जीव की आध्यात्मिक दृष्टि से संसार की निकृष्टतम अवस्था से लेकर उसके विकास के जितने भी सोपान हैं उन सबमें कर्म का क्या प्रभाव है तथा इस दृष्टि से कर्म की कैसी विविधता है इन सब बातों का प्राचीन काल में ही विस्तृत शास्त्रीय निरूपण जैसा जैन शास्त्रों में है वैसा अन्यत्र दृष्टिगोचर होना शक्य नहीं है। इससे स्पष्ट है कि कर्म विचार का विकास जैन परम्परा में हुआ है और इसी परम्परा में उसे अवस्थित रूप प्राप्त हुआ है। जैनों के इन विचारों के स्फुलिंग अन्यत्र पहुँचे और इसी के कारण दूसरों की विचारधारा में भी नूतन रूप प्रकट हुआ।

वैदिक विचारक यज्ञ की क्रिया के चारों ओर ही सारी ऊहापोह का आयोजन करते हैं। जैन उनकी मौलिक विचारणा का स्तम्भ यज्ञ क्रिया है वैसे ही जैन विचारकों की समस्त विचारणा कर्म पर आधारित है अतः उनकी मौलिक विचारणा का नाम कर्मवाद है।

जब देवतावाद ब्राह्मणों का कर्मकाण्डों से सम्बन्ध हुआ तब देवतावाद के स्थान पर तत्काल ही कर्मवाद को प्राप्त न हो किया गया। जिस प्रकार पहले आत्म विद्या को ही एक एकान्त में विचार करने योग्य माना गया था उसी प्रकार कर्म विद्या को भी रहस्य पूर्ण और एकान्त में मननीय स्वीकार किया गया होगा। जिस प्रकार आत्म विद्या के कारण यज्ञों से लोगों की श्रद्धा हटने लगी थी उसी प्रकार कर्म विद्या के कारण देवों में भी श्रद्धा क्षीण होने लगी। इसी प्रकार के विचार कालान्तर में ब्राह्मण ग्रन्थ जैसे शास्त्रीय आत्मभाग को एकान्त में ले जाते हैं और उस कर्म का रहस्य समझाते हैं। उस समय कर्म की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं कि पुण्य करने से मनुष्य श्रेष्ठ बनता है और पाप करने से निकृष्ट[1]।

वैदिक परम्परा में यज्ञ कर्म तथा देव लोगों की मान्यता थी। जब देव की अपेक्षा कर्म का महत्व अधिक माना जाने लगा तब यज्ञ का समर्थन करने वालों ने यज्ञ और कर्मवाद का समन्वय कर यज्ञ को ही देव बना दिया और वे यह मानने लगे कि यज्ञ ही कर्म है तथा इसी से सब फल मिलते हैं। दार्शनिक व्यवस्था-काल में इन लोगों की परम्परा का नाम मीमांसा दर्शन पड़ा। किन्तु वैदिक परम्परा में यज्ञ के विकास के साथ साथ देवों की विचारणा का भी विकास हुआ था। ब्राह्मण काल में प्राचीन अनेक देवों के स्थान पर एक प्रजापति को देवाधिदेव माना जाने लगा। जिन लोगों की श्रद्धा इस देवाधिदेव पर अटल रही उन की परम्परा में भी कर्मवाद को स्थान प्राप्त हुआ और उन्होंने भी प्रजापति तथा कर्मवाद का समन्वय अपने ढंग से किया है। वे मानते हैं कि जीव को अपने कर्मानुसार फल तो मिलता है किन्तु उस फल को देने वाला देवाधिदेव ईश्वर है। ईश्वर जीवों के कर्मानुसार उन्हें फल देता है अपनी इच्छा से नहीं। इस समन्वय को स्वीकार करने वाले वैदिक दर्शनों में प्रायः वैशेषिक दर्शन और उत्तरकालीन सेश्वर सांख्य दर्शन का समावेश है।

वैदिक परम्परा के लिए अदृष्ट अथवा कर्म विचार नवीन है और बाहर से उसका आयात हुआ है। इस बात का एक प्रमाण यह भी है कि वैदिक लोग पहले आत्मा की शारीरिक मानसिक और वाचिक क्रियाओं को ही कर्म मानते थे। तत्पश्चात वे यज्ञादि बाह्य अनुष्ठानों को भी कर्म कहने लगे। किन्तु ये अस्थायी अनुष्ठान स्वयमेव फल कैसे दे सकते हैं? उनका तो उसी समय नाश हो जाता है अतः किसी माध्यम की कल्पना करनी चाहिए। इस आधार पर मीमांसा दर्शन में अपूर्व नाम के पदार्थ की कल्पना की गई। यह कल्पना वेद में अथवा ब्राह्मणों में नहीं है। यह दार्शनिक-काल में ही दिखाई देती है। इससे भी सिद्ध होता है कि अपूर्व के समान अदृष्ट पदार्थ की कल्पना मीमांसकों की मौलिक देन नहीं परन्तु बहुतर प्रभाव का परिणाम है।

इसी प्रकार वैशेषिक सूत्रकार ने अदृष्ट (धर्माधर्म) के विषय में सूत्र में उल्लेख अवश्य किया है किन्तु उस अदृष्ट की व्यवस्था उसके टीकाकारों ने ही की है। वैशेषिक सूत्रकार ने यह नहीं बताया कि अदृष्ट—धर्माधर्म क्या वस्तु है? इसीलिए प्रशस्तपाद को उसकी व्यवस्था करनी पड़ी और उन्होंने उसका समावेश गुण पदार्थ में किया। सूत्रकार ने अदृष्ट को

1 बृहदा० 3-2-13

[illegible] प्रतिपादित नहीं किया फिर भी इस आत्मा का रूप क्या माना जाए ? इस बात का स्पष्टीकरण [illegible] में किया है[1]। इससे प्रमाणित होता है कि कर्मसिद्धान्त की पराकाष्ठा में अदृष्ट एक महान तत्त्व है।

इस प्रकार वैदिक ने यज्ञ अथवा देवाधिदेव के साथ अदृष्ट-कर्मवाद का समन्वय किया है। किन्तु वैदिक विद्वान् यज्ञ के अतिरिक्त अन्य कर्मों के विषय में विचार नहीं कर सके और ईश्वरवादी भी ईश्वर की सिद्धि के लिए जितनी शक्ति का व्यय करते रहे उतनी व कर्मवाद के रहस्य का स्पष्टीकरण करने में नहीं लगा सके। अतः कर्मवाद मूल रूप में जिस परम्परा का था उसी ने उस बात पर यथार्थतया विचार कर उसकी शास्त्रीय व्यवस्था की। यही कारण है कि कर्म की जैसी शास्त्रीय व्यवस्था जैनशास्त्रों में है वैसी अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती। अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि कर्मवाद का मूल जैन परम्परा में और उसके पूर्वकालीन मान्यताओं में है।

अब कर्म के स्वरूप का विशेष वर्णन करने से पहले यह उचित होगा कि कर्म के स्थान में जिन विविध कारणों की कल्पना की गई है उन पर विशेष विचार कर लिया जाए। उसके बाद उसी के आलोक में कर्म का विवेचन किया जाए।

**(2) कालवाद**

विश्व-सृष्टि का कोई न कोई कारण होना चाहिए इस बात का विचार देश-परम्परा में विविध रूप में हुआ है। किन्तु प्राचीन ऋग्वेद से यह प्रकट नहीं होता कि उस समय विश्व की विचित्रता—जीव सृष्टि की विचित्रता के निमित्त कारण पर भी विचार किया गया हो। इस विषय का सर्वप्रथम उल्लेख श्वेताश्वतर (1.2) में उपलब्ध होता है। उसमें काल स्वभाव नियति यदृच्छा भूत और पुरुष इन में से किसी एक को मानने अथवा सबके समुदाय को मानने वाले वादों का प्रतिपादन है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय विचारक कारण की खोज में तत्पर हो गए थे और विश्व की विचित्रता की व्याख्या विविधरूप से करते थे। इन वादों में कालवाद का मूल प्राचीन मालूम होता है। अथर्ववेद में एक कालसूक्त है जिसमें कहा है कि —

काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया काल के आधार पर सूर्य तपता है काल के आधार पर ही समस्त भूत रहते हैं काल के कारण ही सूर्य देखती है काल ही ईश्वर है वह प्रजापति का भी पिता है इत्यादि[2]। इसमें काल को सृष्टि का मूल कारण मानने का सिद्धान्त है। किंतु महाभारत में मनुष्यों की तो बात ही क्या समस्त जीव-सृष्टि के सुख दुःख जीवन मरण इन सब का आधार काल माना गया है। इस प्रकार महाभारत में भी एक ऐसे पक्ष का उल्लेख मिलता है जो काल को विश्व की विचित्रता का मूल कारण मानता था। उसमें यहाँ तक कहा गया है कि कर्म अथवा यज्ञ यागादि अथवा किसी पदार्थ द्वारा मनुष्यों को सुख दुःख नहीं मिलता किंतु मनुष्य काल द्वारा ही सब कुछ प्राप्त करता है। समस्त कार्यों में समानरूप से

1 प्रशस्तपाद पृ 47 637 643

2 अथर्ववेद 19 53 54

काल ही कारण है इत्यादि[1]। प्राचीन काल में काल का इतना महत्त्व होने के कारण ही दार्शनिक काल में नैयायिक आदि चिन्तकों को इसके लिये प्रेरित किया कि अन्य ईश्वरादि कारणों के साथ काल को भी साधारण कारण माना जाए।

(3) स्वभाववाद

उपनिषद् में स्वभाववाद का उल्लेख है[3]। जो कुछ होता है वह स्वभाव से ही होता है। स्वभाव के अतिरिक्त कर्म या ईश्वर रूप कोई कारण नहीं है यह बात स्वभाववादी कहते थे। बुद्धचरित में स्वभाववाद का निम्न उल्लेख है। कौन कांटे को तीक्ष्ण करता है? अथवा पशु पक्षियों की विचित्रता क्या है? इन सब बातों का प्रवर्तक स्वभाव के कारण ही है। इसमें किसी की इच्छा अथवा प्रयत्न का अवकाश ही नहीं है[4]। गीता और महाभारत में भी स्वभाववाद का उल्लेख है[5]। माठर और न्यायकुसुमाञ्जलिकार ने स्वभाववाद का खंडन किया है और अन्य अनेक दार्शनिकों ने भी स्वभाववाद का निषेध किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी अनेक बार इस वाद का निराकरण किया गया है।

(4) यदृच्छावाद

श्वेताश्वतर में यदृच्छा को कारण मानने वालों का भी उल्लेख है। इससे विदित होता है कि यह वाद भी प्राचीन काल से प्रचलित था। इस वाद का मन्तव्य यह है कि किसी भी नियत कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। यदृच्छा शब्द का अर्थ अकस्मात[6]। अर्थात् किसी भी कारण के बिना। महाभारत में भी यदृच्छावाद का उल्लेख[7] है। न्यायसूत्रकार ने इसी वाद का उल्लेख यह लिख कर किया है कि अनिमित्त—निमित्त के

---

1 महाभारत शान्तिपर्व अध्याय 25 28 32 33 आदि।
2 अकाला अनेक कालाः अकालात्मानयो मताः। न्यायसिद्धान्तमुक्तावलिका० 45 कालवाद के निराकरण के लिए शास्त्रवार्ता समुच्चय श्लो 252 5 माठरवृत्तिका० 61
3 श्वेता० 1 2
4 बुद्धचरित 5?
5 भगवद्गीता 5 14 महाभारत शान्तिपर्व 25 16
6 माठरवृत्तिका 61 न्यायकुसुमाञ्जलि 1 5
7 स्वभाववाद के बाधक निम्न श्लोक सर्वत्र प्रसिद्ध हैं —
नि [illegible] नि [illegible] ॥
[illegible] स्वभ [illegible] नियामक ॥
[illegible] ॥
[illegible] ॥
8 [illegible] 3 2 31
9 [illegible] 33 23

बिना ही काँटे की तीक्ष्णता के समान भावों की उत्पत्ति होती[1] है। उन्होंने इस वाद का निराकरण भी किया है। अतः अनिमित्तवाद, अकस्मात्वाद और यदृच्छावाद एक ही अर्थ के द्योतक हैं, ऐसा मानना चाहिए। कुछ लोग स्वभाववाद और यदृच्छावाद को एक ही मानते हैं किन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है। इन दोनों में यह भेद है कि स्वभाववादी स्वभाव को कारण रूप मानते हैं किन्तु यदृच्छावादी कारण की सत्ता का ही अस्वीकार करते हैं।

(5) नियतिवाद

इस वाद का सर्वप्रथम उल्लेख भी श्वेताश्वतर में है किन्तु वहाँ अथवा अन्य उपनिषदों में इस वाद का विशद विवरण नहीं मिलता। जैनागम और बौद्ध त्रिपिटक में नियतिवाद सम्बन्धी बहुत सी बातें उपलब्ध होती हैं। जब भगवान बुद्ध ने उपदेश देना प्रारम्भ किया तब नियतिवादी जगह जगह अपने मत का प्रचार कर रहे थे। भगवान महावीर को भी नियतिवादियों से वाद-विवाद करना पड़ा था। उनकी मान्यता थी कि आत्मा और परलोक का अस्तित्व है परन्तु संसार में दृष्टिगोचर होने वाली जीवों की विचित्रता का कोई भी अन्य कारण नहीं है। सब कुछ एक निश्चित प्रकार से नियत है और नियत रहेगा। सभी जीव नियति चक्र में फँसे हुए हैं। जीव में यह शक्ति नहीं कि इस चक्र में किसी भी प्रकार का परिवर्तन कर सके। यह नियति चक्र स्वयं ही घूमता रहता है और जीवों को एक नियत क्रम के अनुसार इधर उधर ले जाता है। जब यह चक्र पूर्ण हो जाता है तो जीव स्वतः ही मुक्त हो जाता है। ऐसे वाद का प्रादुर्भाव उसी समय होता है जब मानव बुद्धि पराजित हो जाती है।

त्रिपिटक में पूरण काश्यप और मक्खली गोशालक[3] के मतों का वर्णन आया है। एक के वाद का नाम अक्रियावाद तथा दूसरे के वाद का नाम नियतिवाद रखा गया है किन्तु इन दोनों में सिद्धान्तगत विशेष भेद नहीं है। यही कारण है कि कुछ समय बाद पूरण काश्यप के अनुयायी आजीवकों अर्थात् गोशालक के अनुयायियों में मिल गये थे[4]। आजीवकों और जैनों में आचार तथा तत्त्व ज्ञान सम्बन्धी बहुत सी बातों में समानता थी किन्तु मुख्य भेद नियतिवाद तथा परुषार्थवाद[5] में था। जैनागमों में ऐसे कई उल्लेख उपलब्ध होते हैं जिनसे प्रकट है कि भगवान महावीर ने अनेक विख्यात नियतिवादियों के मत में परिवर्तन कराया था[6]। संभव है कि धीरे धीरे आजीवक जैन में सम्मिलित होकर लुप्त हो गए हों। पकुध का मत भी अक्रियावादी है अतः वह नियतिवाद में समाविष्ट हो जाता है।

सामञ्ञफलसुत्त में गोशालक के नियतिवाद का निम्नलिखित वर्णन है —

---

1 न्याय-सूत्र 4 1 22

2 प० फणिभूषण कृत न्याय भाष्य का अनुवाद 4 1 24 देखें।

3 दीघनिकाय-सामञ्ञफलसुत्त

4 बुद्धचरित (कोशाम्बी) पृ 179

5 नियतिवाद का विस्तृत वर्णन उत्थान महावीरांक में देखें पृ० 74

6 उपासकदशांग अ० 7

प्राणियों की अपवित्रता का कुछ भी कारण नहीं है। कारण के बिना ही वे अपवित्र होते हैं। उनके अपवित्र होने में न कोई कारण है न हेतु। प्राणियों की शुद्धता का भी कोई कारण अथवा हेतु नहीं है। हेतु और कारण के बिना ही वे शुद्ध होते हैं। अपने सामर्थ्य बल पर कुछ नहीं होता। पराक्रम के सामर्थ्य के कारण किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं है। बल है न वीर्य न ही पराक्रम की शक्ति अथवा पराक्रम सभी सत्त्व सभी प्राणी सभी जीव अबल दुर्बल हैं वीर्यविहीन हैं। उन में भाग्य (नियति) जाति, अभिजात्य और स्वभाव के कारण परिवर्तन होता है। छह जातियों में से किसी भी एक जाति में रहकर सब दुःखों का उच्छेद किया जाता है। चौरासी लाख महाकल्प के चक्र में घूमने के बाद बुद्धिमान् और मूर्ख दोनों के ही दुःखों का नाश हो जाता है। यदि कोई कहे कि मैं शील व्रत तप अथवा ब्रह्मचर्य से अपरिपक्व कर्मों को परिपक्व करूंगा अथवा परिपक्व हुए कर्मों का भोग कर उन्हें नामशेष कर दूंगा तो ऐसी बात कभी भी होने वाली नहीं है। इस संसार में सुख दुःख इस प्रकार अवस्थित हैं। उन्हें परिमित पानी से नापा जा सकता है। उनमें वृद्धि या हानि नहीं हो सकती। जिस प्रकार सूत की गोली (गेंद) उतनी ही दूर जाती है जितना लम्बा उसमें धागा होता है उसी प्रकार बुद्धिमान और मूर्ख दोनों के दुःख (संसार) का नाश उसके चक्कर में पड़ने पर ही होता है[1]।

इसी प्रकार का ही किंतु जरा आकर्षक रूप का वर्णन जैनों के उपासकदशाङ्ग[2] और भगवती सूत्र[3] में है। इनके अतिरिक्त सूत्रकृतांग[4] में भी अनेक स्थलों पर इस बात के सम्बन्ध में तात्त्विक बातें मिलती हैं।

बौद्ध पिटक में पकुध कात्यायन के मत का वर्णन इस प्रकार किया गया है— सात पदार्थ ऐसे हैं जो किसी ने बनाए नहीं बनवाए नहीं। उनका न तो निर्माण किया गया और न कराया गया। वे वन्ध्य हैं कूटस्थ हैं और स्तम्भ के समान अचल हैं। वे हिलते नहीं बदलते नहीं और एक दूसरे के लिए व्यवधायक नहीं। वे एक दूसरे के दुःख को सुख को और दोनों को उत्पन्न नहीं कर सकते। वे सात तत्त्व ये हैं—पृथ्वीकाय अप्काय तेजकाय वायुकाय सुख दुःख और जीव। इनका नाश करने वाला करवाने वाला इनको सुनने वाला कहने वाला जानने वाला अथवा इनका वर्णन करने वाला कोई भी नहीं है। यदि कोई व्यक्ति तीक्ष्ण शस्त्र द्वारा किसी के मस्तक का छेदन करता है तो वह उसके जीवन का हरण नहीं करता। इसमें केवल यही समझना चाहिए कि इन सात पदार्थों के अन्तर स्थित स्थल में शस्त्रों का प्रवेश हुआ। पकुध के इस मत को नियतिवाद ही कहना चाहिए।

त्रिपिटक में अक्रियावादी पूरण काश्यप के मत का वर्णन इन शब्दों में किया गया है किसी ने कुछ भी किया हो अथवा कराया हो काटा हो या कटवाया हो त्रास दिया हो

---

1 बुद्धचरित पृ० 171

2 अध्ययन 6 व 7

3 शतक 15

4 2 1 12 2 6

5 सामञ्ञफलसुत्त दीघनिकाय 2 बुद्धचरित पृ 173

[illegible]

(6) अज्ञानवादी

[illegible]

(7) कालादि का समन्वय

जिस प्रकार वैदिक ऋषियों ने वैदिक परम्परा-सम्मत यज्ञकर्म और ऐहिक के साथ पूर्वों के प्रकार से कर्म का समन्वय किया उसी प्रकार जैनाचार्यों ने जैन-परम्परा के दार्शनिक-काल में कर्म के साथ कालादि कारणों का समन्वय करने का प्रयत्न किया। किसी भी

---

1 बुद्धचरित पृ 170 दीघनिकाय सामञ्ञफलसुत्त

2 सूत्रकृतांग 1 1 1 13

3 बुद्धचरित पृ 178 इस मत के विरुद्ध भगवान् महावीर ने स्याद्वाद की योजना द्वारा वस्तु का अनेकरूपत्व वर्णन किया है। न्यायावतारवार्तिकवृत्ति की प्रस्तावना देखें पृ 39 से आगे।

4 सूत्रकृतांग 1 12 2 महावीर स्वामीनो संयम धर्म (गु ) पृ 135 सूत्रकृतांग चूर्णि पृ० 255 इसका विशद वर्णन creative period में देखें। पृ 454

[illegible]

[illegible]

[illegible]

आचार्य [illegible] (रूप) और [illegible] में [illegible] दुर्[illegible] त्याग कर [illegible] और उन [illegible] वस्तु की प्राप्ति [illegible] को मानना चाहिए [illegible] को पूर्ण करते हैं। [illegible] बुद्धिपूर्वक [illegible] की प्राप्ति [illegible] को प्रधानता प्रदान करना चाहिए [illegible] अथवा कर्म को गौण मानना चाहिए। इस [illegible] आचार्य समन्तभद्र ने [illegible] और पुरुषार्थ का [illegible] किया है।

**(8) कर्म का स्वरूप**

कर्म का साधारण अर्थ क्रिया होता है और वेदों से लेकर ब्राह्मण काल तक परम्परा में यही अर्थ दृष्टिगोचर होता है। इस परम्परा में यज्ञयागादि विहित क्रियाओं को कर्म की संज्ञा दी गई है। यह माना जाता था कि इन कर्मों का आचरण स्वर्ग को [illegible] करने के लिए किया जाता है और वे इष्ट करने वाले व्यक्ति की मनोकामना पूर्ण करते हैं। परम्परा को कर्म को क्रिया रूप अर्थ मान्य है किन्तु जैन इसका केवल यही अर्थ स्वीकार करते। संसारी जीव की प्रवृत्ति क्रिया अथवा प्रवृत्ति ही कर्म है। किन्तु जैन परिभाषा में भाव कर्म कहते हैं। इसी भाव कर्म अर्थात् जीव की क्रिया द्वारा जो अजीव द्रव्य (पुद्गल) आत्मा के संसर्ग में आकर आत्मा को बन्धन में बाँध लेता है उसे द्रव्य कर्म कहते हैं। [illegible] पुद्गल द्रव्य है उसका संज्ञा औपचारिक है क्योंकि यह आत्मा की क्रिया या उसके [illegible] होता है अतः उसे भी कर्म कहते हैं। यहाँ कार्य में कारण का उपचार किया गया है। अर्थात् जैन परिभाषा के अनुसार कर्म दो प्रकार का है —भाव-कर्म और द्रव्य-कर्म। जीव की क्रिया भाव-कर्म है और उसका फल द्रव्य कर्म। इन दोनों में कार्य भाव है —भाव कर्म कारण है और द्रव्य कर्म कार्य। किन्तु यह कार्य कारण

---

1 कार्यं सद्भाव निष्ठं पूर्वकर्म परिणामकारणगतम्। मिथ्यात्वं च उ समासतो हेतुः सर्व

2 अत्र कार्यान्यं सर्वं समुपायत कारणम्। तस्मात् कार्यजातस्य विनया मायवादि न चेतनत्वं [illegible] किञ्चित्कारणीयत्वं। तस्मात् सर्वस्य कार्यस्य सामग्री जनिका

3 आप्तमीमांसा का 88 91

शास्त्रवार्ता० 2 7

मुर्गी और उसके अंड के कार्य कारण भाव के सदृश है। मुर्गी से अंडा होता है अतः मुर्गी कारण है और अंडा कार्य। यदि कोई व्यक्ति प्रश्न करे कि पहले मुर्गी थी या अंडा? तो इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। यह तथ्य है कि अंडा मुर्गी से होता है परन्तु मुर्गी भी अंडे से ही उत्पन्न हुई है। अतः दोनों में कार्य कारण भाव तो है परन्तु दोनों में पहले कौन यह नहीं कहा जा सकता। संतति की अपेक्षा से इनका पारस्परिक कार्य कारण भाव अनादि है। इसी प्रकार भाव कर्म से द्रव्य कर्म उत्पन्न होता है अतः भाव कर्म को कारण और द्रव्य कर्म को कार्य माना जाता है। किन्तु द्रव्य कर्म के अभाव में भाव कर्म की निष्पत्ति नहीं होती अतः द्रव्य कर्म भाव कर्म का कारण है। इस प्रकार मुर्गी और अंडे के समान भाव कर्म और द्रव्य कर्म का पारस्परिक अनादि कार्य कारण भाव भी संतति की अपेक्षा से है।

यद्यपि संतति के दृष्टिकोण से भाव-कर्म और द्रव्य कर्म का कार्य कारण भाव अनादि है तथापि व्यक्तिशः विचार करने पर ज्ञात होता है कि किसी एक द्रव्य कर्म का कारण कोई एक भाव कर्म ही होता होगा अतः उनमें पूर्वापर भाव का निश्चय किया जा सकता है। कारण यह है कि जिस एक भाव कर्म से किसी विशेष द्रव्य कर्म की उत्पत्ति हुई है वह उस द्रव्य-कर्म का कारण है और वह द्रव्य कर्म उस भाव कर्म का कार्य है कारण नहीं। इस प्रकार हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि व्यक्तिशः पूर्वापर भाव होने पर भी जाति की अपेक्षा से पूर्वापर भाव का अभाव होने के कारण दोनों ही अनादि हैं।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है। यह तो स्पष्ट है कि भाव कर्म से द्रव्य-कर्म की उत्पत्ति होती है क्योंकि अपने राग द्वेष मोहरूप परिणामों के कारण ही जीव द्रव्य-कर्म के बन्धन में बद्ध होता है अथवा संसार में परिभ्रमण करता है। किन्तु भाव कर्म की उत्पत्ति में द्रव्य कर्म को कारण क्यों माना जाए? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जाता है कि यदि द्रव्य-कर्म के अभाव में भी भाव-कर्म की उत्पत्ति सम्भव हो तो मुक्त जीवों में भी भाव-कर्म का प्रादुर्भाव होगा और उन्हें फिर संसार में आना होगा। यदि ऐसा होता है तो फिर संसार और मोक्ष में कुछ भी अन्तर न रह जाएगा। जैसी बन्ध योग्यता संसारी जीव में है वैसी ही मुक्त जीव में माननी पड़ेगी। ऐसी दशा में कोई भी व्यक्ति मुक्त होने के लिए क्यों प्रयत्नशील होगा? अतः हमें स्वीकार करना होगा कि मुक्त जीव में द्रव्य कर्म न होने के कारण भाव-कर्म भी नहीं है और द्रव्य-कर्म के होने के कारण संसारी जीव में भाव-कर्म की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार भाव-कर्म से द्रव्य कर्म और द्रव्य-कर्म से भाव-कर्म की अनादिकालीन उत्पत्ति होने के कारण जीव के लिए संसार अनादि है।

द्रव्य-कर्म की उत्पत्ति भाव-कर्म से होती है अतः द्रव्य कर्म भाव कर्म का कार्य है। इन दोनों में जो कार्य कारण भाव है उसका भी स्पष्टीकरण आवश्यक है। मिट्टी का पिण्ड घटाकार में परिणत होता है इसलिए मिट्टी को उपादान कारण माना जाता है। किन्तु कुम्हार न हो तो मिट्टी में घट रूप बनने की योग्यता होने पर भी घट नहीं बन सकता अतः कुम्हार निमित्त कारण है। इसी प्रकार पुद्गल में कर्म रूप में परिणत होने का सामर्थ्य है अतः पुद्गल द्रव्य कर्म का उपादान कारण है किन्तु जब तक जीव में भाव-कर्म की सत्ता न हो पुद्गल द्रव्य-कर्म रूप में परिणत नहीं हो सकता। इसलिए भाव-कर्म निमित्त कारण माना गया है।

इसी प्रकार [illegible] कषाय भी [illegible] कारण [illegible] कारण भाव [illegible] निमित्त [illegible] है।

[illegible] कषायों का [illegible] किया गया है [illegible] है कि उनका कोई भी [illegible] क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय आत्मा के आकारान्तर परिणाम हैं [illegible]। [illegible] राग द्वेष मोह आत्मा के आकारान्तर परिणाम [illegible] हैं। [illegible] शरीर में [illegible] होती है [illegible] मन वचन काय के [illegible] के लिए उनकी प्रवृत्ति [illegible] है। आत्मा के [illegible] राग द्वेष मोहरूप आकारान्तर परिणाम [illegible] की प्रवृत्ति द्वारा होता है। दूसरे शब्दों में यह [illegible] है कि संसारी आत्मा की मानसिक वाचिक और कायिक प्रवृत्ति जिस भाव भी करता है राग द्वेष मोह अथवा कषाय के रंग से रंगित होती है। वस्त्र प्रवृत्ति एक ही है पर [illegible] वस्त्र और उसके रंग को भिन्न भिन्न भी करता है वैसे ही आत्मा की इस प्रवृत्ति के भी दो नाम हैं —योग और कषाय। रंग से ही वस्त्र कपड़ा एक का हो होता है। इसी प्रकार कषाय के रंग से रंगित मन वचन काय की प्रवृत्ति एक रूप होती है। जब कपड़े में रंग होता है तब कपड़े का रंग कभी हल्का और कभी गहरा होता है। इसी तरह योग व्यापार के साथ कषाय के रंग की उपस्थिति में भाव कर्म कभी तीव्र होता है और कभी मन्द। रंग रहित वस्त्र छोटा या बड़ा हो सकता है कषाय के रंग से हीन योग व्यापार भी न्यूनाधिक हो सकता है किन्तु रंग के कारण होने वाली चमक की तीव्रता अथवा मन्दता का उसमें अभाव होता है। इसलिए योग व्यापार को अनुरंजित करने वाले कषाय का महत्त्व अधिक है अतः कषाय को ही भाव कर्म कहते हैं। द्रव्य कर्म के बन्ध में योग एवं कषाय दोनों को ही साधारणतः निमित्त कारण माना गया है तथापि कषाय को ही भाव कर्म मानने का कारण यही है।

सारांश यह है कि क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय अथवा राग द्वेष मोह ये दोष भाव कर्म हैं इनसे द्रव्य कर्म का ग्रहण कर जीव बद्ध होते हैं।

अन्य दार्शनिकों ने इसी बात को दूसरे नामों से स्वीकार किया है। नैयायिकों ने राग द्वेष और मोह रूप इन तीन दोषों को माना है। इन तीन दोषों से प्रेरणा प्राप्त कर जीवों के मन वचन काय की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति से धर्म व अधर्म की उत्पत्ति होती है। धर्म व अधर्म को उन्होंने संस्कार[3] कहा है। नैयायिकों ने जिन राग द्वेष, मोह रूप तीन दोषों का

---

1 जोगा पयडिपएसं ठिइअणुभाग कसायओ। पंचम कर्मग्रन्थ गाथा 96

2 उत्तराध्ययन 32 7 30 1, तत्त्वार्थ 8 2 स्थानांग 2 2 समयसार 94 96 100 177 प्रवचनसार 1 84 88

3 न्यायभाष्य 1 1 2 न्यायसूत्र 4 1 3–9 न्यायसूत्र 1 1 17 न्यायमंजरी पृ० 471 472 500 इत्यादि।

एवं च क्षणभंगित्वात् संस्कारस्यास्थिरा स्थिति।
स कर्मजन्यसंस्कारो धर्माधर्मावुभावपि ॥ न्यायमंजरी पृ 472

उत्पन्न किया है वे जैनों को मान्य हैं और जैन उन्हें भाव कर्म कहते हैं। नैयायिक जिसे धर्माधर्म जन्य प्रवृत्ति कहते हैं उसे ही जैन योग कहते हैं। नैयायिकों ने प्रवृत्ति जन्य धर्माधर्म को संस्कार अथवा अदृष्ट की संज्ञा प्रदान की है। जैनों में पौद्गलिक कर्म अथवा द्रव्य-कर्म का वही स्थान है। नैयायिक मत में धर्माधर्म रूप संस्कार आत्मा का गुण है। किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि इस मत में गुण व गुणी का भेद होने से चेतन आत्मा ही चेतन है उसका गुण संस्कार चेतन नहीं कहला सकता क्योंकि संस्कार में चैतन्य का समवाय सम्बन्ध नहीं है। जैन-सम्मत द्रव्य कर्म भी अचेतन है अतः संस्कार यहाँ या द्रव्य कर्म दोनों अचेतन हैं। दोनों मतों में भेद इतना ही है कि संस्कार एक गुण है जब कि द्रव्य-कर्म पुद्गल द्रव्य है। गहन विचार करने पर यह भेद भी तुच्छ प्रतीत होता है। जैन यह मानते हैं कि द्रव्य-कर्म भाव-कर्म से उत्पन्न होते हैं। नैयायिक भी संस्कार की उत्पत्ति ही स्वीकार करते हैं। भाव कर्म ने द्रव्य कर्म को उत्पन्न किया इस मान्यता का अर्थ यह नहीं है कि भाव कर्म ने पुद्गल द्रव्य को उत्पन्न किया। जैनों के मत के अनुसार पुद्गल द्रव्य तो अनादिकाल से विद्यमान है अतः उपर्युक्त मान्यता का भावार्थ यही है कि भाव-कर्म ने पुद्गल का कुछ ऐसा संस्कार किया जिससे वह स्वयं द्रव्य पुद्गल कर्म रूप में परिणत हुआ। इस प्रकार भाव-कर्म के कारण पुद्गल में जो विशेष संस्कार हुआ वही जैन मत में वास्तविक कर्म है। यह संस्कार पुद्गल द्रव्य से अभिन्न है अतः इसे पुद्गल कहा गया है। ऐसी परिस्थिति में नैयायिकों के संस्कार एवं जैन सम्मत द्रव्य-कर्म में विशेष भेद नहीं रह जाता।

जैनों ने स्थूल शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर भी माना है। उसे वे कार्मण शरीर कहते हैं। इसी कार्मण शरीर के कारण स्थूल शरीर का आविर्भाव होता है। नैयायिक कार्मण शरीर को अव्यक्त शरीर भी कहते[1] हैं। जैन कार्मण शरीर को अनादि मानते हैं इसलिए वह अव्यक्त ही है।

वैशेषिक-दर्शन की मान्यता भी नैयायिकों के समान है। प्रशस्तपाद ने जिन 24 गुणों का प्रतिपादन किया है उनमें अदृष्ट भी एक गुण है। यह गुण संस्कार गुण से भिन्न है। इसके दो भेद हैं—धर्म और अधर्म। इससे ज्ञात होता है कि प्रशस्तपाद धर्माधर्म को उत्पन्न संस्कार रूप से न कहकर अदृष्ट रूप से कहते हैं। इस मान्यता भेद ने मानकर केवल नाम भेद समझना चाहिए क्योंकि नैयायिकों के संस्कार के समान प्रशस्तपाद ने अदृष्ट को आत्मा का गुण माना है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन में भी दोष से संस्कार, संस्कार से जन्म, जन्म से दोष और फिर दोष से संस्कार एवं जन्म यह परम्परा बीज और अंकुर के समान अनादि काल से है। यह क्रम हमारे द्वारा मान्य भाव-कर्म और द्रव्य-कर्म की पूर्वोक्त अनादि परम्परा जैसी ही है[2]।

---

1 इ ईश्वरस्य प्रकृतौ स्थितौ च कारणत्वं च। तत्र प्रकृतिस्थितिकारणत्वं [illegible] प्रधानं। प्रकृतिः च कर्मणि विद्यमानायां प्रकृतिं च [illegible] इति [illegible]। [illegible] 3.2.68

2 [illegible] 47 [illegible] 6 3

3 [illegible] पृ० 513

**(11) कर्मफल का क्षेत्र**

कर्म के नियम की मर्यादा क्या है ? अर्थात यहाँ हम इस बात पर विचार करना भी आवश्यक है कि जीव और जड़ रूप दोनों प्रकार की सृष्टि में कर्म का नियम सम्पूर्णतः लागू होता है अथवा उसकी कोई मर्यादा है ? एक मात्र काल ईश्वर स्वभाव आदि को कारण मानने वाले जिस प्रकार समस्त कार्यों में काल या ईश्वरादि को कारण मानते हैं उसी प्रकार क्या कर्म भी सभी कार्यों की उत्पत्ति में कारण रूप है अथवा उसकी कोई सीमा है ? जो वादी केवल एक चेतन तत्त्व से सृष्टि की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं उनके मत में कर्म अदृष्ट अथवा माया समस्त कार्यों में साधारण निमित्त कारण है। विश्व की विचित्रता का आधार भी यह है। नैयायिक वैशेषिक केवल एक तत्त्व से समस्त सृष्टि की उत्पत्ति नहीं मानते फिर भी वे समस्त कार्यों में कर्म या अदृष्ट को साधारण कारण मानते हैं। अर्थात जड़ एवं चेतन के समस्त कार्यों में अदृष्ट एक साधारण कारण है। चाहे सृष्टि जड़ चेतन की हो परन्तु वे यह बात स्वीकार करते हैं कि वह चेतन के प्रयोजन की सिद्धि में सहायक है अतः उसमें चेतन का अदृष्ट निमित्त कारण है।

बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि कर्म का नियम जड़ सृष्टि में काम नहीं करता। यही नहीं उनके मतानुसार जीवों की सभी प्रकार की वेदना का भी कारण कर्म नहीं है। त्रिपिटकों में जीवों की वेदना के आठ कारण बताए गए हैं —वात पित्त कफ, इन तीनों का सन्निपात ऋतु विषमाहार औपक्रमिक और कर्म। जीव इन आठ कारणों में से किसी भी एक कारण के फल-स्वरूप वेदना का अनुभव करता है। आचार्य नागसेन ने कहा है कि वेदना के उपर्युक्त आठ कारणों के ज्ञान पर भी जीवों की सम्पूर्ण वेदना का कारण कर्म को ही मानना मिथ्या है। वस्तुतः जीवों की वेदना का अत्यन्त अल्प भाग पूर्वकृत कर्म के फल का परिणाम है अधिकतर भाग का आधार अन्य कारण हैं। कौन सी वेदना किस कारण का परिणाम है इस बात का अन्तिम निर्णय भगवान् बुद्ध ही कर सकते हैं[1]। जैन मतानुसार भी कर्म का नियम आध्यात्मिक सृष्टि में लागू होता है। भौतिक सृष्टि में यह नियम अकिंचित्कर है। जड़ सृष्टि का नियमन उसके अपने ही नियमानुसार होता है। जीव सृष्टि में विविधता का कारण कर्म का नियम है। जीवों के मनुष्य देव तिर्यञ्च नारकादि विभिन्न रूप शरीरों की विविधता जीवों के सुख दुःख ज्ञान अज्ञान चारित्र अचारित्र आदि भाव कर्म के नियमानुसार है। किन्तु भूतरूप जड़ भौतिक कार्यों में कर्म के नियम का लेश मात्र भी हस्तक्षेप नहीं है। जब हम जैन शास्त्रों में परिभाषित कर्म की मूल और उत्तर प्रकृतियों तथा उनके विपाक पर विचार करते हैं तो यह बात स्वतः प्रमाणित हो जाती है[2]।

**(12) कर्मबन्ध और कर्मक्षय की प्रक्रिया**

जैन शास्त्रों में इस बात का सुव्यवस्थित वर्णन है कि आत्मा में कर्म बन्ध किस प्रकार होता है और बद्ध कर्मों की क्षय क्रिया कैसी है। वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में उपनिषद् काल के

---

1 विसुद्धि मग्ग 4 । 67 पृ 137

2 कर्मबन्ध के विषय में पं फूलचन्द जी का प्रस्तावना देखें – पृ 43

संहिता में इस सम्बन्ध में कोई विवरण नहीं है। योग दर्शन भाष्य में विस्तार रूप से इसका वर्णन है। अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में इसके सम्बन्ध में जो सामग्री उपलब्ध होती है वह नगण्य है अतः यहाँ इस क्रिया का वर्णन जैन ग्रन्थों के आधार पर ही किया जाएगा। तुलना योग्य विषयों का निर्देश भी उचित स्थान पर किया जाएगा।

लोक में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ कर्म-योग्य पुद्गल परमाणुओं का अस्तित्व न हो। जब संसारी जीव अपने मन वचन काय से कुछ भी प्रवृत्ति करता है तब कर्म योग्य पुद्गल-परमाणुओं के स्कन्धों का ग्रहण सभी दिशाओं से होता है। किन्तु इसमें ध्यान रखने योग्य बात है कि जितने प्रदेश में आत्मा होती है वह उतने ही प्रदेश में विद्यमान परमाणु स्कन्धों का ग्रहण करती है दूसरों का नहीं। प्रवृत्ति के तारतम्य के आधार पर परमाणुओं की संख्या में भी तारतम्य होता है। प्रवृत्ति की मात्रा अधिक होने पर परमाणुओं की अधिक संख्या का ग्रहण होता है और कम होने पर कम संख्या का। इसे प्रदेश बन्ध कहते हैं। गृहीत परमाणुओं का भिन्न भिन्न ज्ञानावरण आदि प्रकृति रूप में परिणत होना प्रकृति-बन्ध कहलाता है। इस प्रकार जीव के योग के कारण परमाणु स्कन्धों के परिमाण और उनकी प्रकृति का निश्चय होता है। इन्हें ही क्रमशः प्रदेश-बन्ध और प्रकृति बन्ध कहते हैं। तत्त्वतः आत्मा अमूर्त है परन्तु अनादि काल से परमाणु पुद्गल के सम्पर्क में रहने के कारण वह कथञ्चित् मूर्त है। आत्मा और कर्म के सम्बन्ध का वर्णन दूध तथा जल अथवा लोहे के गोले और अग्नि के सम्बन्ध के समान किया गया है। अर्थात् एक-दूसरे के प्रदेशों में प्रवेश कर आत्मा और पुद्गल अवस्थित रहते हैं। सांख्यों ने भी यह स्वीकार किया है कि संसारावस्था में पुरुष और प्रकृति का बन्ध दूध और पानी के सदृश एकीभूत है। नैयायिक और वैशेषिक ने आत्मा तथा धर्माधर्म का सम्बन्ध संयोगमात्र न मानकर समवाय रूप माना है। उसका कारण भी यही है कि वे दोनों एकीभूत जैसे ही हैं। उन्हें पृथक् पृथक् कर बताया नहीं जा सकता केवल लक्षण भेद से पृथक् समझा जा सकता है।

गृहीत परमाणुओं में कर्म विपाक के काल और सुख-दुःख विपाक की तीव्रता और मन्दता का निश्चय आत्मा की प्रवृत्ति अथवा योग-व्यापार में कषाय की मात्रा के अनुसार होता है। इन्हें क्रमशः स्थिति-बन्ध और अनुभाग बन्ध कहते हैं। यदि कषाय की मात्रा न हो तो कर्म-परमाणु आत्मा के साथ सम्बद्ध नहीं रह सकते। जिस प्रकार सूखी दीवार पर धूल चिपकती नहीं है केवल उसका स्पर्श कर अलग हो जाती है उसी प्रकार आत्मा में कषाय की स्निग्धता के अभाव में कर्म परमाणु उससे सम्बद्ध नहीं हो सकते। सम्बद्ध न होने के कारण उनका अनुभाग अथवा विपाक भी नहीं हो सकता। योगदर्शन में भी क्लेश रहित योगी के कर्म को अशुक्लाकृष्ण माना गया है। उसका तात्पर्य भी यही है। बौद्धों ने क्रिया चेतना के सद्भाव में अर्हत् में कर्म की सत्ता अस्वीकार की है। इसका भावार्थ भी यही है कि वीतराग नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता। जैन जिसे ईर्यापथ अथवा असाम्परायिक क्रिया मानते हैं उसे बौद्ध क्रिया-चेतना कहते हैं।

कर्म के उक्त चार प्रकार के बन्ध हो जाने के पश्चात् तत्काल ही कर्म-फल मिलना प्रारम्भ नहीं हो जाता। कुछ समय तक फल प्रदान करने की शक्ति का सम्पादन होता रहता

उक्त प्रकृतियों का गुण और रीति से भी विभाजन किया गया है —ध्रुवबन्धी और अध्रुवबन्धी। जिनका बन्ध स्वोदय अबाधा काल पर्यन्त कभी भी विच्छिन्न नहीं होता वे ध्रुवबन्धी और जिनका बन्ध विच्छिन्न हो जाता है और जो फिर बन्ध में आती हैं वह अध्रुवबन्धी[1] कहते हैं।

सम्यक्त्व की प्राप्ति होने से पूर्व उक्त प्रकृतियों में से जो प्रकृतियाँ समस्त संसारी जीवों में विद्यमान होती हैं उन्हें ध्रुवसत्ताका और जो नियमतः विद्यमान नहीं होतीं उन्हें अध्रुवसत्ताका कहते हैं।

उक्त प्रकृतियों के दो विभाग इस प्रकार भी किये जाते हैं —अन्य प्रकृति के बन्ध अथवा उदय किंवा दोनों को रोककर जिस प्रकृति का बन्ध अथवा उदय किंवा दोनों हों उसे परावर्तमाना और जो इससे विपरीत हो वह अपरावर्तमाना कहलाती है[3]।

उक्त प्रकृतियों में से कुछ ऐसी हैं जिनका उदय उस समय ही होता है जब जीव नवीन शरीर को धारण करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को जा रहा हो। अर्थात् उनका उदय विग्रह गति में ही होता है। ऐसी प्रकृतियों को क्षेत्र विपाकी कहते हैं। कुछ ऐसी प्रकृतियाँ जिनका विपाक जीव में होता है उन्हें जीव विपाकी कहते हैं। कुछ प्रकृतियों का विपाक नर-नारकादि भव सापेक्ष है उन्हें भव विपाकी कहते हैं। कुछ का विपाक जीव सम्बद्ध शरीरादि पुद्गलों में होता है उन्हें पुद्गल विपाकी कहते हैं[4]।

जिस जन्म में कर्म का बन्धन हुआ हो उसी में ही उसका भोग हो यह कोई नियम नहीं है कि तुरन्त जन्म में अथवा अन्य जन्म में किंवा दोनों में कृत कर्म को भोगना पड़ता[5]।

जैन दृष्टि के आधार पर जिस वस्तुस्थिति का ऊपर वर्णन किया गया है उसकी तुलना में अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री का भी यहाँ उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है।

योग दर्शन में कर्म का विपाक तीन प्रकार का बताया गया है —जाति आयु और भोग[6]। जैन सम्मत नाम कर्म के विपाक की तुलना योग सम्मत जाति विपाक से, आयु कर्म विपाक की तुलना आयु विपाक से की जा सकती है। योग दर्शन के अनुसार भोग का अर्थ है—सुख दुःख और मोह[7]। जैन सम्मत वेदनीय कर्म के विपाक की इस भोग से तुलना सम्भव है। योग दर्शन में मोह का अर्थ अज्ञान है उसमें अप्रतिपत्ति और विपरीतपत्ति दोनों का समावेश है। अतः जैन सम्मत ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और मोहनीय कर्म के विपाक योग-दर्शन सम्मत मोहभाव के सदृश हैं।

---

1 पंचम कर्मग्रंथ गाथा 6–7
पंचम कर्मग्रंथ गाथा 8–9
3 पंचम कर्मग्रंथ गाथा 18–19
4 पंचम कर्मग्रंथ गाथा 19–21
5 स्थानांग सूत्र 77
6 योग-दर्शन 2 13
7 योग-दर्शन 2 13

विपाक के सम्बन्ध में जैन मत में जैसे प्रत्येक कर्म का विपाक नियत है वैसे योग-दर्शन में नियत नहीं है। योग-मत के अनुसार संचित समस्त कर्म मिलकर उक्त जाति आयु भोग रूप विपाक का कारण बनते हैं[1]।

न्यायवार्तिककार ने कर्म के विपाक काल को अनियत बतलाया है। यह कोई नियम नहीं है कि कर्म का फल इसी लोक में या परलोक में अथवा जन्मान्तर में ही मिलता है। कर्म अपना फल उसी दशा में देते हैं जब सहकारी कारणों का सन्निधान हो तथा सन्निहित कारणों में भी कोई प्रतिबन्धक न हो। यह निर्णय करना कठिन है कि यह शर्त कब पूरी हो। इस चर्चा के प्रसंग में यह भी बताया गया है कि अपने ही विद्यमान-कर्म के अतिशय द्वारा अन्य कर्म की फल शक्ति का प्रतिबन्ध सम्भव है। समान भोग वाले अन्य प्राणियों के विद्यमान कर्म द्वारा भी कर्म की फल शक्ति के प्रतिबन्ध की सम्भावना है। ऐसी अनेक सम्भावनाओं का उल्लेख करने के पश्चात् न्यायकार ने निर्णय दिया है कि कर्म की गति दुर्विज्ञेय है मनुष्य इस प्रक्रिया के पार का पता नहीं लगा सकता[2]।

जयन्त ने न्यायमञ्जरी में कहा है कि विहित कर्म के फल का काल नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। कुछ विहित कर्म ऐसे हैं जिनका फल तत्काल मिलता है—जैसे कारीरी यज्ञ का फल वृष्टि। कुछ विहित-कर्मों का फल ऐहिक होते हुए भी काल सापेक्ष है—जैसे पुत्रेष्टि का फल पुत्र तथा ज्योतिष्टोम आदि का फल स्वर्गादि परलोक में मिलता है। किन्तु सामान्य रूप से यह नियम निश्चित किया जा सकता है कि निषिद्ध कर्म का फल तो परलोक में ही मिलता है[3]।

योग दर्शन[4] में कर्माशय और वासना में भेद किया गया है। एक जन्म में संचित कर्म को कर्माशय कहते हैं तथा अनेक जन्मों के कर्मों के संस्कार की परम्परा को वासना कहते हैं। कर्माशय का विपाक दो प्रकार का है—अदृष्टजन्म वेदनीय और दृष्टजन्म-वेदनीय। जिसका विपाक दूसरे जन्म में मिले वह अदृष्टजन्म-वेदनीय तथा जिसका विपाक इस जन्म में मिल जाए वह दृष्टजन्म-वेदनीय कहलाता है। विपाक के तीन भेद हैं—जाति अथवा जन्म आयु और भोग। अर्थात् अदृष्टजन्म-वेदनीय के तीन फल हैं—नवीन जन्म उस जन्म की आयु और उस जन्म का भोग। किन्तु दृष्टजन्म वेदनीय कर्माशय का विपाक आयु व भोग अथवा केवल भोग है जन्म नहीं। यदि यहाँ भी जन्म का विपाक स्वीकार किया जाए तो वह अदृष्टजन्म-वेदनीय

---

1 तस्माज्जन्मप्रापणान्तरं कृत पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचया विचित्र प्रधानोपसर्जनभावनावस्थित प्रायणाभिव्यक्त एकप्रयत्नेन मिलित्वा मरण प्रमाद्य सम्मूर्छित एकमेव जन्म करोति तच्च जन्म तेनैव कर्मणा स आयुष्क भवति। तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोग सम्पद्यत इति। अयं कर्माशयो जन्मायुर्भोगतद्धेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयते।—योगभाष्य 2 13

2 न्यायवा 3 2 61

3 न्यायमञ्जरी पृ० 505 275

4 योगभाष्य 2 13

हो जाएगा। मनुष्य रूप या अर्थात उसका देव रूप में जन्म और दस आयु दोनों बातें जारी रहीं फिर भी कुछ समय के लिए सर्प बन कर उसने दुःख का भोग किया और तत्पश्चात वह पुनः देव बन गया। यह स्पष्ट रूप से सम्पूर्ण भोग का उदाहरण है। न तो शंकर ने मनुष्य होते हुए भी आयु और रूप भोग प्राप्त किए किन्तु उसका मनुष्य जन्म जारी रहा।

वासना का विचार असंख्य जन्म आयु और भोग मानते गये हैं। कारण यह है कि वासना की परम्परा अनादि है।

जिस प्रकार योग शास्त्रों में कृष्ण-कर्म को अथवा शुक्ल कर्म को अधिक बलवान माना गया है और कहा गया है कि शुक्ल कर्म का उदय होने पर कृष्ण-कर्म फल दिए बिना ही नष्ट हो जाता है उसी प्रकार बौद्धों ने भी अकुशल कर्म को अपेक्षा कुशल-कर्म को अधिक बलवान माना है किन्तु वे कुशल कर्म को अकुशल कर्म का नाशक नहीं मानते। इस लोक में पापों को अनेक प्रकार के कष्ट सहन करने पड़ते हैं और पुण्यशाली को अपने पुण्य कार्यों का फल प्रायः इसी लोक में नहीं मिलता। बौद्धों ने इसका कारण यह बताया है कि पाप परिमित है दीर्घकाल में होता है। यद्यपि कुशल और अकुशल दोनों का फल परलोक में मिलता है तथापि अकुशल के अधिक सावद्य होने के कारण उसका फल यहाँ भी मिल जाता है। पाप की अपेक्षा पश्चात्ताप मनुष्य को पश्चात्ताप होता है और वह कहता है कि अरे! मैंने पाप किया। इसके पश्चात्ताप होने से पाप का फल [illegible] है अतः उसका पुण्य उसे [illegible] वृद्धि को प्राप्त करता है[3]।

बौद्धों के मत में कुशल के आधार पर कर्म के जो चार भेद किये गये हैं उनमें एक है दूसरे उसका व्यवस्थापन है। जनक कर्म नाम जन्म को उत्पन्न कर विपाक (फल) देने वाला है। [illegible] अपना विपाक प्रदान न कर दूसरों के विपाक में बाधक होता है। [illegible] दूसरे कर्मों के विपाक में बाधक होता है। और [illegible] है जो [illegible] कर्मों के विपाक को पात कर अपना ही विपाक [illegible]

[illegible] कर्म के ये चार प्रकार [illegible] अपने [illegible] दूसरों के [illegible] [illegible] है। [illegible] है [illegible] है। [illegible] है [illegible]

[illegible] 12 16

मरण-काल के समय के कर्म के आधार पर ही शीघ्र नया जन्म प्राप्त होता है। अभ्यस्त कर्म इन तीनों के अभाव में ही फल दे सकता है ऐसा नियम है[1]।

बौद्धों ने पाक काल की दृष्टि से कर्म के जो चार भेद किये हैं उनकी तुलना योग-दर्शन सम्मत दस ही कर्मों से की जा सकती है। दृष्टजन्मवेदनीय—जिसका विपाक विद्यमान जन्म में मिल जाता है। उपपद्यवेदनीय—जिसका फल नवीन जन्म में प्राप्त होता है। जिस कर्म का विपाक न हो उसे अहो कर्म कहते हैं। जिसका विपाक अनेक भवों में मिले, उसे अपरापरवेदनीय कहते हैं।

बौद्धों ने पाकस्थान की अपेक्षा से कर्म के ये चार भेद किए हैं[2]—अकुशल का विपाक नरक में कामावचर कुशल कर्म का विपाक काम सुगति में रूपावचर कुशल कर्म का विपाक रूपि-ब्रह्मलोक में तथा अरूपावचर कुशल-कर्म का विपाक अरूपलोक में उपलब्ध होता है[3]।

(14) कर्म की विविध अवस्थाएं

यह लिखा जा चुका है कि कर्म का आत्मा से बन्ध होता है किन्तु बन्ध होने के बाद कर्म जिस रूप में बद्ध हुआ हो उसी रूप में फल दे ऐसा नियम नहीं है इस विषय में अनेक अपवाद हैं। जैन शास्त्रों में कर्म की बन्ध आदि दस दशाओं का इस प्रकार वर्णन किया गया है —

1 बन्ध—आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध होने पर उसके चार प्रकार हो जाते हैं—प्रकृति-बन्ध प्रदेश बन्ध स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध। जब तक बन्ध न हो तब तक कर्म की अन्य किसी भी अवस्था का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

2 सत्ता—बन्ध में आए हुए कर्म पुद्गल अपनी निर्जरा होने तक आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं इसे ही उसकी सत्ता कहते हैं। विपाक प्रदान करने के बाद कर्म-पुद्गलों की निर्जरा हो जाती है। प्रत्येक कर्म अबाधाकाल के व्यतीत हो जाने पर ही विपाक देता है। अर्थात अमुक कर्म की सत्ता उसके अबाधाकाल तक होती है।

3 उद्वर्तन अथवा उत्कर्षण—आत्मा से बद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग-बन्ध का निश्चय बन्ध के समय विद्यमान कषाय की मात्रा के अनुसार होता है किन्तु कर्म के नवीन बन्ध के समय उस स्थिति तथा अनुभाग को बढ़ा लेना उद्वर्तन कहलाता है।

4 अपवर्तन अथवा अपकर्षण—कर्म के नवीन बन्ध के समय प्रथम-बद्ध कर्म की स्थिति और उसके अनुभाग को कम कर लेना अपवर्तन कहलाता है।

उद्वर्तन तथा अपवर्तन की मान्यता से सिद्ध होता है कि कर्म की स्थिति और उसका भोग नियत नहीं है। उसमें परिवर्तन हो सकता है। किसी समय हमने बुरा काम किया किन्तु बाद में यदि अच्छा काम करें तो उस समय पूर्व-बद्ध कर्म की स्थिति और उसके रस में कमी

---

1 अभिधम्मत्थसंग्रह 5 19 विसुद्धिमग्ग 19 15

2 विसुद्धिमग्ग 19 14 अभिधम्मत्थसंग्रह 5 19

3 अभिधम्मत्थसंग्रह 5 19

हो सकती है। इसी प्रकार गुणस्थान करके बाँधे गये कर्मों की स्थिति को भी अपकर्षण द्वारा कम किया जा सकता है। अर्थात् संसार की वृद्धि-हानि का आधार पूर्वबद्ध कर्मों की अपेक्षा विद्यमान अध्यवसाय पर विशेषतः निर्भर है।

5 संक्रमण—इस विषय में प्रस्तुत ग्रन्थ में विस्तार-पूर्वक वर्णन[1] है। कर्म प्रकृति के पुद्गलों का परिणमन अन्य सजातीय प्रकृति में हो जाना संक्रमण कहलाता है। सामान्यतः उत्तर प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण होता है मूल प्रकृतियों में नहीं। इस नियम के अपवाद उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ में है।

6 उदय—कर्म का अपना फल प्रदान करना उदय कहलाता है। कुछ कर्म के प्रदेशोदय युक्त होते हैं। उदय में आने पर उनके पुद्गलों की निर्जरा हो जाती है उनका फल नहीं होता। कुछ कर्मों का प्रदेशोदय के साथ साथ विपाकोदय भी होता है। वे अपनी प्रकृति के अनुसार फल देकर नष्ट हो जाते हैं।

7 उदीरणा—नियत काल से पहले कर्म का उदय में आना उदीरणा कहलाता है। जिस प्रकार प्रयत्न पूर्वक नियत काल से पहले ही फलों को पकाया जा सकता है उसी प्रकार नियत काल से पूर्व ही बद्ध कर्मों का भोग किया जा सकता है। सामान्यतः जिस कर्म का उदय जारी हो उसके सजातीय कर्म की ही उदीरणा सम्भव है।

8 उपशमन—कर्म की जिस अवस्था में उदय अथवा उदीरणा सम्भव न हो पर उद्वर्तन अपवर्तन और संक्रमण की सम्भावना हो उसे उपशमन कहते हैं। तात्पर्य यह है कर्म को ढकी हुई अग्नि के समान बना दिया जाय जिससे वह उस अग्नि की तरह फल न दे सके। किन्तु जिस प्रकार अग्नि से आवरण के दूर हो जाने पर वह पुनः प्रज्वलित होने में समर्थ है उसी प्रकार कर्म की इस अवस्था के समाप्त होने पर वह पुनः उदय में आकर फल देता है।

9 निधत्ति—कर्म की उस अवस्था को निधत्ति कहते हैं जिसमें वह उदीरणा और संक्रमण में असमर्थ होता है किन्तु इस अवस्था में उद्वर्तन और अपवर्तन सम्भव है।

10 निकाचना—कर्म की वह अवस्था निकाचना कहलाती है जिसमें उद्वर्तन अपवर्तन संक्रमण और उदीरणा सम्भव हो न हो। अर्थात् जिस रूप में इस कर्म का बन्ध हुआ है उसी रूप में उसे अनिवार्य रूप से भोगना ही पड़ता है।

यद्यपि दोनों ग्रन्थों में कर्म की इन अवस्थाओं का वर्णन शब्दशः दृष्टिगोचर नहीं होता किन्तु इनमें से कुछ अवस्थाओं से मिलते जुलते विवरण अवश्य मिलते हैं।

दोनों ग्रन्थों में सम्मत नियत विपाकी कर्म जैन सम्मत निकाचित कर्म के समान समझे जाते हैं। उसकी आवश्यकता प्रक्रिया जैन सम्मत संक्रमण है। योगदर्शन में अनियतविपाकी कर्म भी कर्म हैं जो बिना फल दिये ही नष्ट हो जाते हैं। इनकी तुलना जैनों के प्रदेशोदय से हो सकती है। योगदर्शन में कर्म की चार अवस्थाएँ मान्य हैं—प्रसुप्त तनु विच्छिन्न उदार[2]।

---

1 गाथा 1938 से

2 योगदर्शन ग्रन्थ 13

3 योग दर्शन 4

उपशम या विशुद्धि से उनकी मुक्ति जैन मान्यता मोहनीय कर्म की सत्ता उपशम (अनुदय) विरोधी प्रकृति के उदय से व्यवधान और उदय से क्षयोपशम की है[1]।

(15) कर्म फल का संविभाग :

अब इस विषय पर विचार करने का अवसर है कि एक व्यक्ति अपने किये हुए कर्म का फल दूसरे व्यक्ति को दे सकता है अथवा नहीं ? बौद्धों में आजाति विधा का जो प्रचार है उसे देखते हुए यह निश्चय निकलता है कि रामायणमानुसार एक के कर्म का फल दूसरे को मिल सकता है। बौद्ध भी इस मान्यता से सहमत हैं। हिन्दुओं के समान बौद्ध भी प्रेतयोनि को मानते हैं। अर्थात् प्रेत के निमित्त जो दान पुण्यादि किया जाता है प्रेत को उसका फल मिलता है। मनुष्य मर कर तिर्यञ्च नरक अथवा देवयोनि में उत्पन्न हुआ हो तो उसके उद्देश्य से किये गये पुण्य कर्म का फल उसे नहीं मिलता किन्तु चार प्रकार के प्रेतों में केवल परदत्तोपजीवी प्रेतों को ही फल मिलता है। यदि जीव परदत्तोपजीवी प्रेतावस्था में न हो तो पुण्य कर्म के करने वाले को ही उसका फल मिलता है अन्य किसी को भी नहीं मिलता। पुनश्च कोई पाप कर्म करके यदि यह अभिलाषा करे कि उसका फल प्रेत को मिल जाए तो ऐसा कभी नहीं होता। बौद्धों का सिद्धान्त है कि कुशल कर्म का ही संविभाग हो सकता है अकुशल का नहीं। राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से पूछा कि क्या कारण है कि कुशल का ही संविभाग हो सकता है अकुशल का नहीं ? आचार्य ने पहले तो यह उत्तर दिया कि आपको ऐसा प्रश्न नहीं पूछना चाहिए। फिर यह बताया कि पाप कर्म में प्रेत की अनुमति नहीं अतः उसे उसका फल नहीं मिलता। इस उत्तर से भी राजा सन्तुष्ट न हुआ। तब नागसेन ने कहा कि अकुशल परिमित होता है अतः उसका संविभाग सम्भव नहीं है किन्तु कुशल विपुल होता है अतः उसका संविभाग हो सकता है। महायान बौद्ध बोधिसत्त्व का यह आदर्श मानते हैं कि वे सदा ऐसी कामना करते हैं कि उनके कुशल कर्म का फल विश्व के समस्त जीवों को प्राप्त हो। अतः महायान मत के प्रचार के बाद भारत के समस्त धर्मों में इस भावना को समर्थन प्राप्त हुआ कि कुशल कर्मों का फल समस्त जीवों को मिले।

किन्तु जैनागम में इस विचार अथवा इस भावना को स्थान नहीं मिला। जैन धर्म में प्रेतयोनि नहीं मानी गई है। सम्भव है कि कर्म फल के असंविभाग की जैन मान्यता का यह भी एक आधार हो। जैन शास्त्रीय दृष्टि तो यही है कि जो जीव कर्म करे उसे ही उसका फल भोगना पड़ता[3] है। कोई दूसरा उसमें भागीदार नहीं बन सकता। किन्तु लौकिक दृष्टि का

---

1 योगशास्त्र (पं० सुखलालजी) प्रस्तावना पृ० 54

2 मिलिन्दप्रश्न 4 8 30 35 पृ० 288 कथावत्थु 7 6 3 पृ 348 प्रेतों की कथाओं के संग्रह के लिए पेतवत्थु तथा विमलाचरण लाहा कृत Buddhist conception of spirits देखें।

3 संसारमावन्न परस्स अट्ठा साहारणं जं च करेइ कम्मं।
*कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले न बंधवा बंधवयं उवेंति ॥*—उत्तरा 4 4
माया पिया ण्हुसा भाया भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नालं ते मम ताणाय लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥
—उत्तरा० 6 3 उत्तरा० 14 12 20 23 37

भूति प्राप्त करते है। किन्तु जो व्यक्ति यज्ञ नहीं करते वे उनके तिरस्कार के पात्र बनते हैं। देवता नीति सम्पन्न हैं सत्यशील हैं व धोखा नहीं देते। वे प्रामाणिक और चरित्रवान मनुष्यों की रक्षा करते हैं उदार और पुण्यशील व्यक्तियों तथा उनके कृत्यों का बदला चुकाते हैं किन्तु पापी को दण्डित करते हैं। देव जिस व्यक्ति के मित्र बन जाएं उसे कोई भी हानि नहीं पहुंचा सकता। देवता अपने भक्तों के शत्रुओं का नाश कर उनकी सम्पत्ति अपने भक्तों को सौंप देते हैं। सभी देवों में सौन्दर्य तेज और शक्ति है। सामान्यतः देव स्वयं ही अपने अधिपति हैं अर्थात वे आत्मसिद्ध हैं। यद्यपि ऋषियों ने उनके वर्णन में अतिशयोक्ति से काम लेते हुए वर्णित देव को सर्वाधिपति कहा है तथापि सामान्यतः उसका अर्थ यह नहीं कि वह देव राजा के समान अन्य देवों का अधिपति है। ऋषियों ने जिस देव की स्तुति की है फलतः वह उसे प्रसन्न करने के लिए है अतः स्वाभाविक है कि उसके अधिक से अधिक गुणों का वर्णन किया जाय। अतः प्रत्येक देव में सर्वसामर्थ्य स्वीकार किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि बाद में यज्ञ के लिए सब देवों की महत्ता समान रूप से स्वीकार की गई। एक सत् विप्रा बहुधा वदन्ति[1]—विद्वान एक ही तत्त्व का नाना प्रकार से कथन करते हैं—यह मान्यता दृढ़ हो गई। फिर भी यज्ञ प्रसंग में व्यक्तिगत देवों के प्रति निष्ठा कभी भी कम नहीं हुई। भिन्न भिन्न अवसरों पर भिन्न भिन्न देवों के नाम से यज्ञ होते रहे। इसलिए हमें यह बात माननी पड़ती है कि ऋग्वेद काल में किसी एक ही देव का अन्य देवों की अपेक्षा अधिक महत्त्व नहीं था। ऋग्वेद काल में एक देव के स्थान पर दूसरे देव को अधिष्ठित कर देने की कल्पना करना असंगत है।

सभी देव द्युलोक निवासी नहीं हैं। ऋषियों ने लोक के जो तीन विभाग किए हैं उनमें उनका निवास है। द्युलोकवासी देवों में सौ वरुण सूर्य मित्र विष्णु दक्ष अश्विन आदि का समावेश है। अन्तरिक्ष में निवास करने वाले देव हैं—इन्द्र मरुत रुद्र पर्जन्य आपः आदि। पृथ्वी पर अग्नि सोम वनस्पति आदि देवों का निवास है।

(2) वैदिक स्वर्ग नरक

इस लोक में जो मनुष्य शुभ कर्म करते हैं वे मर कर स्वर्ग में यमलोक पहुंचते हैं। यह यमलोक प्रकाश पुंज से व्याप्त है। वहां उन लोगों को अन्न और सोम पर्याप्त मात्रा में मिलता है एवं उनकी सभी कामनाएं पूर्ण होती हैं[3]। कुछ यक्षित विष्णु[4] अथवा वरुणलोक[5] में जाते हैं। वरुणलोक सर्वोच्च स्वर्ग[6] है। वरुणलोक में जाने वाले मनुष्य की सभी त्रुटियां

---

1 ऋग्वेद 1 164 46

2 दशमुख की पूर्वोक्त पुस्तक पृ० 317 322 का सार

3 ऋग्वेद 9 113 7 स

4 ऋग्वेद 1 1 54

5 ऋग्वेद 7 8 5

6 ऋग्वेद 10 14 8, 10 15 7

दूर हो जाती है और वह व । देवों के साथ मद्य सोम अथवा घृत का पान करते
हुए उसे अपने पुत्रादि द्वारा श्राद्ध-तर्पण में अर्पित पदार्थ भी मिल जाते हैं।
इष्टापूर्त (बावड़ी कुआँ तालाब आदि जलस्थान) किया हो तो उसका फल भी
मिल जाता है[2]।

वस्तुतः आर्य आशावादी उत्साही और प्राण के प्रिय लोग थे। उन्होंने जिस
स्वर्ग की कल्पना की है वह उनकी विचार धारा के अनुकूल ही है। यही कारण है
प्राचीन ऋग्वेद में पापी आत्माओं के लिए नरक जैसे स्थान की कल्पना नहीं की।
दस्यु जैसे लोगों को आर्य लोग मानना भी समीचीन न था उनके लिए भी उन्होंने नरक की
नहीं की। किन्तु ऐसा से यह प्रार्थना की है कि वे उनका सर्वथा नाश कर दें। मृत्यु
उनकी क्या दशा होती है इस विषय में उन्होंने कुछ भी विचार नहीं किया।

लगता है कि जो पुण्यशाली व्यक्ति मर कर स्वर्ग में जाते हैं वे सदा
वहाँ रहते हैं वे वहाँ से यह कहते नहीं की गई थी कि पुण्य का क्षय होने पर वे
मर्त्यलोक में वापिस आ जाते हैं। हाँ ब्राह्मण काल में इस मान्यता का अस्तित्व था[3]।

(3) उपनिषदों के देवयान

बृहदारण्यक में प्राण की श्रेष्ठता का वर्णन है। उसके आधार पर मनुष्य के
ऊपर के लोक के विषय में विचार किया जा सकता है। उसमें कहा गया है कि स्वर्ग होने
[illegible] इसमें को अन्न या उत्तम पदार्थ प्राप्त करना अधिक से अधिक सांसारिक कार्य होता
[illegible] प्राण है जो इस संसार में मनुष्य के लिए महान से महान है। पितृलोक में जाने वाले
[illegible] को इस संसार के प्राणों को अन्न या सौ गुना अधिक प्राण मिलता है। [illegible]
[illegible] को सौ गुना प्राण है। [illegible] की प्राप्ति में क्रम से सब बाल देवों को प्राण इन्हें को होता
[illegible] अधिक है। [illegible] में इस प्राण में भी सौ गुना और ब्रह्मलोक में उससे भी
[illegible] प्राण सर्वाधिक है। बृ० 4 3 33

(4) देवयान विषय में

[illegible] और विद्वान लोगों का प्रयाण है परन्तु इस मार्ग का [illegible]
[illegible] है। [illegible] में [illegible] लोगों का विशेष विवरण है किन्तु इस उपर
[illegible] द्वारा [illegible] का [illegible] नष्ट करेंगे। [illegible]
[illegible] स्थान [illegible]

1 [illegible]
2 [illegible]
3 [illegible]
4 [illegible]

[illegible] कि [illegible] अभिलोचन [illegible] [illegible] और प्रजापति लोक से होकर ब्रह्मलोक में जाता है। वहाँ वह मन के द्वारा और मानस सरोवर को पार करता है और [illegible] (उपासना में विघ्न करने वाले) देव के पास पहुँचता है। वह देव उसे देवत्व की प्राप्ति कराते हैं। तत्पश्चात् वह मन के द्वारा ही विरजा नदी पार करता है। वहाँ वह पुण्य और पाप को त्याग देता है। उसके बाद वह [illegible] नामक मन के निकट जाता है और वहाँ उस ब्रह्मा को [illegible] पाता है। फिर वह [illegible] के पास पहुँचता है। वहाँ उसका ब्रह्मरूप प्रविष्ट होता है। तत्पश्चात् वह [illegible] और [illegible] नामक चौथे [illegible] के पास आता है। वह भी उसे देवपद [illegible] है। वहाँ से [illegible] वह [illegible] नामक सभा स्थान में आता है। वहाँ उसकी कान्ति [illegible] बढ़ जाती है जितनी कि ब्रह्मा की। फिर वह विरजा नाम के [illegible] सिंहासन के समीप आता है और अपनी बुद्धि द्वारा [illegible] का देखता है। अन्त में वह अभिलोचन नामक ब्रह्म के पर्यंक के निकट आता है। जब उस पलंग पर आरूढ़ होता है तब वहाँ प्राचीन ब्रह्मा उससे पूछता है "[illegible] कौन हो?" वह उत्तर देता है "जो आप हैं वही मैं हूँ।" ब्रह्मा पुनः पूछता है "मैं कौन हूँ?" वह व्यक्ति उत्तर देता है "आप सत्य स्वरूप हैं।" इस प्रकार अन्य अनेक प्रश्न पूछ कर जब ब्रह्मा की पूर्ण तृप्ति हो जाती है तब वह उसे अपने समान मानता[1] है।

इसी उपनिषद् में पितृयान के वर्णन का सार यह है—वह लोक ही पितृयान है। सभी मरने वाले परम यहाँ पहुँचते हैं। किन्तु जिनकी इच्छा पितृलोक में निवास करने की न हो उन्हें चन्द्र ऊपर के लोक में भेज देता है और जिनकी अभिलाषा चन्द्रलोक की हो उन्हें चन्द्र वर्षों के रूप में इस पृथ्वी पर जन्म लेने के लिए भेज देता है। इस जीव अपने कर्मों और ज्ञान के अनुसार [illegible] पाता फिर [illegible] मछली सीप मनुष्य अथवा अन्य किसी रूप में भिन्न भिन्न स्थानों में जन्म लेते हैं। इस प्रकार पितृयान मार्ग से जाने वालों को पुनः इस लोक में आना पड़ता है[2]।

सारांश यह है कि ब्रह्मा भाव को प्राप्त कर लेने वाले जीव जिस मार्ग से ब्रह्मलोक में जाते हैं उसे देवयान कहते हैं किन्तु अपने कर्मों के अनुसार जिनकी मृत्यु पुनः होने वाली है वे चन्द्रलोक में जाकर लौट आते हैं। उनके मार्ग का नाम पितृयान है और उनकी योनि प्रेत योनि कहलाती है।

इस उपर्युक्त वर्णन से हम यह जान ही जाते हैं कि प्रस्तुत ग्रन्थ में परलोक के माध्यम वर्णन के सम्बन्ध में जो चर्चा है उसके विषय में उपनिषदों का क्या मत है। यह भी पता लगता है कि जीव कर्मानुसार विभिन्न अवस्था को प्राप्त होते हैं। इस ग्रन्थ में भी इस मत का समर्थन है।

---

1 कौषीतकी प्रथम अध्याय देखें।

2 कौषीतकी 1.2

(5) पौराणिक देवलोक

यह बात लिखी जा चुकी है कि वैदिक मान्यतानुसार तीनों लोकों में देवों का निवास है। पौराणिक काल में भी इसी मत का समर्थन किया गया। योगदर्शन के व्यास भाष्य में बताया गया है कि पाताल जलधि (समुद्र) तथा पर्वतों में असुर गन्धर्व किन्नर किंपुरुष यक्ष राक्षस भूत प्रेत पिशाच अपस्मारक, अप्सरस ब्रह्मराक्षस कुष्माण्ड, विनायक नामक देव निकाय निवास करते हैं। भूलोक के समस्त द्वीपों में भी पुण्यात्मा देवों का निवास है। सुमेरु पर्वत पर देवों की उद्यान भूमियाँ हैं सुधर्मा नामक देव सभा है सुदर्शन नामा नगरी है और उसमें वैजयन्त प्रासाद है। अन्तरिक्ष लोक के देशों में ग्रह नक्षत्र और तारों का समावेश है। स्वर्ग लोक में महर्लोक में छह देव निकायों का निवास है—त्रिदश अग्निष्वात्ता याम्या, तुषित अपरिनिर्मितवशवर्ती परिनिर्मितवशवर्ती। इससे ऊपर महर्लोक अथवा प्रजापति लोक में पाँच देव निकाय हैं—कुमुद ऋभु प्रतर्दन अजनाभ प्रचिताभ। ब्रह्मा के प्रथम जनलोक में चार देव निकाय हैं—ब्रह्म पुरोहित ब्रह्म कायिक ब्रह्म महाकायिक अमर। ब्रह्मा के द्वितीय तपोलोक में तीन देव निकाय हैं—आभास्वर महाभास्वर सत्यमहाभास्वर। ब्रह्मा के तृतीय सत्यलोक में चार देव निकाय हैं—अच्युत शुद्ध निवास सत्याभ संज्ञासंज्ञी।

इन सब देवलोकों में बसने वालों की आयु शेष होने तक भी परिमित है। कर्मक्षय होने पर उन्हें नया जन्म धारण करना पड़ता है।

(6) वैदिक असुरादि

सामान्य रूप देवों और मनुष्यों को छोड़ कर असुर राक्षस पिशाच यक्ष नाम से अभिहित किया गया है। पणि और वृत्र इन्द्र के शत्रु थे। राक्षस और दस्यु आदि असुरों के रूप थे। किन्तु दस्यु शब्द का प्रयोग अन्तरिक्ष के दस्यु अथवा असुरों के अर्थ में भी किया गया है और दस्युओं का वृत्र के नाम से भी वर्णित किया गया है। सारांश यह है कि वैदिक असुर दस्यु राक्षस नाम की कई श्रेणियाँ थीं। इन्हीं कालान्तर में राक्षस दैत्य असुर पिशाच आदि का रूप दिया गया। वैदिक काल के लोग उनके नाश के निमित्त यज्ञों में प्रार्थना किया करते थे।

(7) उपनिषदों में नरक का वर्णन

यह बात पहले कहा जा चुका है कि ऋग्वेद-काल के आर्यों ने पापी पुरुषों के लिए नरक की कल्पना नहीं की थी किन्तु उपनिषदों में यह कल्पना विद्यमान है। नरक कहाँ है? इस विषय में उपनिषद् मौन हैं किन्तु उपनिषदों के अनुसार नरक लोक अन्धकार में स्थित है। उसके अन्तर्गत का नाम भी नहीं है। इस संसार में प्रतिष्ठा के उपासक अन्धकारमय नरक में जाते हैं। अन्धकार में पुरुष के लिए भी यही स्थान है और अविद्या को भी अन्धकारमय कहा गया है। कुछ ग्रन्थ का अन्त देने वालों को भी यही गति होती है। यही कारण है कि अविद्या द्वारा पुरुष का अपने जन्म लिया के अर्थ में के विचार से अन्धकार में ही वास करते हैं।

---

1 [illegible]

बूढ़ी गायों का दान कर रहा था। उसने सोचा कि मेरे पिता इनके बदले मुझ ही दान में क्यों[1] नहीं दे देते ?

उपनिषदों में इस विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि ऐसे अंधकारमय लोक में जाने वाले जीव सदा के लिए वहीं रहते हैं अथवा वहाँ से उनका छुटकारा भी हो जाता है।

**(8) पौराणिक नरक**

नरक के विषय में पुराणकालीन वैदिक परम्परा में कुछ विशेष विवरण मिलते हैं। बौद्ध और जैन मत के साथ उनकी तुलना करने पर ज्ञात होता है कि यह विचारणा तीनों परम्पराओं में समान ही थी।

योगदर्शन व्यास भाष्य में सात नरकों के ये नाम बताए गए हैं—महाकाल अम्बरीष रौरव महारौरव कालसूत्र अन्धतामिस्र अवीचि। इन नरकों में जीवों को अपने किए हुए कर्मों के कटुफल मिलते हैं और वहाँ जीवों की आयु भी लम्बी[2] होती है। अर्थात दीर्घकाल तक कर्म का फल भोगने के बाद ही वहाँ से जीव का छुटकारा होता है ऐसी मान्यता सिद्ध होती है। ये नरक हमारी अपनी भूमि और पाताल लोक के नीचे अवस्थित[3] हैं।

भाष्य की टीका में नरकों के अतिरिक्त कुम्भीपाकादि उपनरकों की कल्पना को भी स्थान प्राप्त हुआ है। वाचस्पति ने इनकी संख्या अनेक बताई है किन्तु भाष्यवार्तिककार ने इसे अनन्त कहा है।

भागवत में नरकों की संख्या सात के स्थान पर 28 बताई है और उनमें प्रथम 21 के नाम ये हैं—तामिस्र अन्धतामिस्र रौरव महारौरव कुम्भीपाक कालसूत्र असिपत्रवन सूकर मुख अन्धकूप कृमि भोजन संदंश तप्तसूर्मि वज्रकण्टकशाल्मली वैतरणी पूयोद प्राणरोध विशसन लालाभक्ष सारमेयादन अवीचि तथा अयःपान[4]। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों के मतानुसार अन्य सात नरक भी हैं—क्षार कर्दम रक्षोगण भोजन शूलप्रोत दन्दशूक अवटनिरोधन पर्योवर्तन और सूचीमुख। इनमें अधिकतर नाम ऐसे हैं जिनसे यह ज्ञात हो जाता है कि उन नरकों में जीवों को किस प्रकार के कष्ट हैं।

**(9) बौद्ध और परलोक**

हम यह कह सकते हैं कि भगवान् बुद्ध ने अपने धर्म को इसी लोक में फल देने वाला माना था और उनके उपदेश में प्राचीन उपदेश में स्वर्ग नरक अथवा प्रेतयोनि सम्बन्धी विचारों को स्थान ही नहीं था। यदि कभी कोई जिज्ञासु ब्रह्मलोक जैसे परोक्ष विषय के सम्बन्ध में प्रश्न करता तो भगवान् बुद्ध सामान्यतः उसे समझाते कि परोक्ष पदार्थों के विषय में चिन्ता

---

1 कठ 1 1 3 बृहदा० 4 4 10 11 ईश 3–9

2 योगदर्शन व्यास भाष्य विभूतिपाद 26

3 भाष्यवार्तिककार ने कहा है कि, पाताल अवीचि नरक के नीचे हैं किन्तु यह भ्रम प्रतीत होता है।

4 श्रीमद्भागवत (छायानुवाद) पृ० 164 पंचमस्कंध 26 5 36,

[illegible]

[illegible] है। उनका [illegible] स्वर्ग के सुख और नरक के [illegible] जो [illegible] में निरंतर [illegible] करते। [illegible] की रचना की, [illegible] धीरे धीरे बौद्ध [illegible] अभिधम्मकाल में [illegible] उनकी व्यवस्था कुछ भिन्नता से हुई।

बौद्ध अभिधम्म में सत्त्वों का विभाजन तीन भूमियों में किया गया है—कामावचर रूपावचर अरूपावचर। उनमें नारक तिर्यग् प्रेत असुर ये चार कामावचर भूमियाँ अपायभूमि के अर्थात् उनमें दुःख की प्रधानता है। मनुष्य तथा चातुर्महाराजिक तावतिंस याम तुषित निम्मानरति परिनिम्मितवसवत्ति नाम के छह निकायों का समावेश काम सुगति नाम की कामावचर भूमि में है। उनमें कामभोग की प्राप्ति होती है अतः चित्त चंचल रहता है।

रूपावचर भूमि में उत्तरोत्तर अधिक सुखवाले सोलह ब्रह्म निकायों का समावेश है जिसका विवरण इस प्रकार है —

प्रथम ध्यान भूमि में—1 ब्रह्मपारिसज्ज, 2 ब्रह्मपुरोहित 3 महाब्रह्म
द्वितीय ध्यान भूमि में—4 परित्ताभ 5 अप्पमाणाभ 6 आभस्सर
तृतीय ध्यान भूमि में—7 परित्तसुभा 8 अप्पमाणसुभा 9 सुभकिण्हा
चतुर्थ ध्यान भूमि में—10 वेहप्फला 11 असञ्ञसत्ता 12 16 पाँच प्रकार के सुद्धावास

सुद्धावास के ये पाँच भेद हैं—12 अविहा 13 अतप्पा 14 सुदस्सा, 15 सुदस्सी 16 अकनिट्ठा।

अरूपावचर भूमि में उत्तरोत्तर अधिक सुख वाली चार भूमि हैं—

1 आकासानञ्चायतन भूमि
2 विञ्ञाणञ्चायतन भूमि
3 अकिञ्चञ्ञायतन भूमि
4 नेवसञ्ञानासञ्ञायतन भूमि

अभिधम्मत्थ संग्रह में नरकों की संख्या नहीं बताई गई है किन्तु भी अभिधर्म में उन विविध कष्टों का वर्णन है जो नारकों को भोगने पड़ते हैं। (आचार्य-चित्त सुत्तन्त-129 देखें)

---

1 दीघनिकाय के तेविज्जसुत्त में ब्रह्मसालोकता विषयक भगवान् बुद्ध का कथन देखें।
2 अभिधम्मत्थ संग्रह परि० 5

जातक (530) में ये आठ नरक बताए गए हैं—सञ्जीव कालसुत्त संघात जालरोरुव धूमरोरुव तपन प्रतापन अवीचि। महावस्तु (1 4) में उक्त प्रत्येक नरक के 16 उस्सद (उपनरक) स्वीकार किए गए हैं। इस तरह सब मिलकर 128 नरक हो जाते हैं। किन्तु पञ्चगति दीपनी नामक ग्रन्थ में प्रत्येक नरक के चार उस्सद बताए हैं—मल्लहकूप कुक्कुल असिपत्तवन नदी[1] (वैतरणी)।

बौद्धों ने देवलोक के अतिरिक्त प्रेतयोनि भी स्वीकार की है। इन प्रेतों की रोचक कथाएं पेतवत्थु नाम के ग्रन्थ में दी गई हैं। साधारणतः प्रेत विशेष प्रकार के दुष्कर्मों का भोगने के लिए उस योनि में उत्पन्न होते हैं। इन दोषों में इस प्रकार के दोष हैं—दान देने में दीन करना, योग्य पात्र से श्रद्धा-पूर्वक न देना। दीघनिकाय के आटानाटिय सुत्त में निम्नलिखित विशेषणों द्वारा प्रेतों का वर्णन किया गया है—चुगलखोर खूनी नीच चोर दगाबाज आदि अर्थात ऐसे लोग प्रेतयोनि में जन्म ग्रहण करते हैं। पेतवत्थु ग्रंथ से भी इस बात का मंथन होता है।

पेतवत्थु के प्रारम्भ में ही यह बात कही गई है कि दान करने से दाता अपने इस लोक का सुधार करने के साथ साथ प्रेतयोनि को प्राप्त अपने सम्बन्धियों के भव का उद्धार करता है।

प्रेत पूर्वजन्म के घर की दीवार के पीछे आकर खड़े रहते हैं। चौक में अथवा मार्ग के किनारे आकर भी खड़े हो जाते हैं। जहाँ महान् भोज की व्यवस्था हो वहाँ वे विशेष रूप से दृष्टव्य हैं। यदि जो लोग उनका स्मरण कर उन्हें कुछ नहीं देते तो वे दुःखी होते हैं। जो उन्हें याद कर उन्हें देते हैं वे उनका आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। क्योंकि प्रेतलोक में व्यापार अथवा कृषि की व्यवस्था नहीं है जिससे उन्हें भोजन मिल सके। उनके निमित्त इस लोक में जो कुछ दिया जाता है उसीके आधार पर उनका जीवन निर्वाह होता है। इस प्रकार के विवरण पेतवत्थु[2] में उपलब्ध होते हैं।

लोकान्तरिक नरक में भी प्रेतों का निवास है। वहाँ के प्रेत छह कोस ऊँचे हैं। मनुष्यलोक में निज्झामतण्हा जाति के प्रेत रहते हैं। इनके शरीर में सदा जलन होती रहती है। वे सदा भ्रमणशील होते हैं। इनके अतिरिक्त पालि गंथों में खुप्पिपासा कालकञ्ज उत्तुपजीवी नाम की प्रेत जातियों का भी उल्लेख है[3]।

(10) जैन सम्मत परलोक

जैनों ने समस्त संसारी जीवों का समावेश चार गतियों में किया है—मनुष्य तिर्यञ्च नारक तथा देव। मरने के बाद मनुष्य अपने कर्मानुसार इन चार गतियों में से किसी एक गति में भ्रमण करता है। जैन सम्मत देव तथा नरकलोक के विषय में ज्ञातव्य बातें ये हैं—

---

1 E R E–Cosmogomy & Cosmology—शब्द देखें।

महायान के वर्णन के लिए अभिधर्मकोष चतुर्थ स्थान में देखें।

2 पेतवत्थु 1 5

3 Buddhist Conception of spirits P 24

जैन मत में देवों के चार निकाय हैं—भवनपति व्यन्तर ज्योतिष्क तथा वैमानिक। भवनपति निकाय के देवों का निवास जम्बूद्वीप में स्थित मेरु पर्वत के नीचे उत्तर तथा दक्षिण दिशा में है। व्यन्तर निकाय के देव तीनों लोकों में रहते हैं। ज्योतिष्क निकाय के देव मेरु पर्वत के समतल भूमिभाग से सात सौ नब्बे योजन की ऊंचाई से शुरू होने वाले ज्योतिश्चक्र में रहते हैं। यह ज्योतिश्चक्र वहाँ से लेकर एक सौ दस योजन परिमाण तक है। इस चक्र के ऊपर असंख्यात योजन की ऊंचाई के अन्तर उत्तरोत्तर एक दूसरे के ऊपर अवस्थित विमानों में वैमानिक देव रहते हैं।

भवनवासी निकाय के देवों के दस भेद हैं—असुरकुमार नागकुमार विद्युत्कुमार सुपर्णकुमार अग्निकुमार वातकुमार स्तनितकुमार उदधिकुमार द्वीपकुमार और दिक्कुमार।

व्यन्तर निकाय के देवों के आठ प्रकार हैं—किन्नर किंपुरुष महोरग गन्धर्व यक्ष राक्षस भूत और पिशाच।

ज्योतिष्क देवों के पाँच प्रकार हैं सूर्य चन्द्र, ग्रह नक्षत्र, प्रकीर्ण तारा।

वैमानिक देव निकाय के दो भेद हैं—कल्पोपपन्न कल्पातीत। कल्पोपपन्न के बारह भेद हैं—सौधर्म ऐशान सानत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्मलोक लान्तक महाशुक्र सहस्रार आनत प्राणत आरण तथा अच्युत। एक मत सोलह भेद[1] स्वीकार करता है।

कल्पातीत वैमानिकों में नव ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमानों का समावेश है। नव ग्रैवेयक के नाम ये हैं—सुदर्शन सुप्रतिबद्ध मनोरम सर्वभद्र सुविशाल सुमनस सौमनस प्रियंकर आदित्य।

पाँच अनुत्तर विमानों के नाम ये हैं—विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित सर्वार्थसिद्ध।

इन सब देवों की स्थिति भोग सम्पत्ति आदि के सम्बन्धों में विस्तृत वर्णन जिज्ञासुओं को तत्त्वार्थसूत्र के चतुर्थ अध्याय तथा बृहत् संग्रहणी आदि ग्रन्थों में देख लेना चाहिए।

जैन मत में सात नरक माने हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा बालुकाप्रभा पंकप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा तथा महातमःप्रभा।

ये सातों नरक उत्तरोत्तर नीचे नीचे हैं और विस्तार में भी अधिक हैं। उनमें दुःख ही दुःख है। नारकी परस्पर तो दुःख उत्पन्न करते ही हैं इसके अतिरिक्त संक्लिष्ट असुर भी प्रथम तीन नरक भूमियों में दुःख देते हैं। नरक का विशद वर्णन तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे अध्याय में है जिज्ञासु वहाँ देख सकते हैं।

बनारस
दि० 10 6 52

दलसुख मालवणिया
अनु० पृथ्वीराज जैन, एम

---

1 ब्रह्मोत्तर कापिष्ठ शुक्र शतार ये चार नाम अधिक हैं।

# प्रथम गणधर इन्द्रभूति

## जीव के अस्तित्व सम्बन्धी चर्चा

भगवान महावीर राग द्वेष का क्षयकर सर्वज्ञ होने के पश्चात वैशाख सुदि एकादशी के दिन महसेन वन में विराजमान थे। लोक समूह को उनके पास जाते हुए देख कर यज्ञवाटिका में एकत्रित विद्वान ब्राह्मणों के मन में भी जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि ऐसा कौन सा महापुरुष आया है जिस का दर्शन करने सब लोग उसकी ओर जा रहे हैं। उन में सब से श्रेष्ठ विद्वान इन्द्रभूति गौतम सब से पहले भगवान महावीर के पास जाने के लिए उद्यत हुआ। जब वह अपने शिष्य परिवार सहित भगवान के समक्ष उपस्थित हुआ तब उसे देखकर भगवान कहने लगे —

### इन्द्रभूति के संशय का कथन

आयुष्मन इन्द्रभूति गौतम! तुम्हें जीव के अस्तित्व के विषय में सन्देह है। तुम यह समझते हो कि जीव की सिद्धि किसी भी प्रमाण से नहीं हो सकती तथापि संसार में बहुत से लोग जीव का अस्तित्व तो मानते ही हैं अतः तुम्हें संशय है कि जीव है या नहीं? जीव की सिद्धि किसी भी प्रमाण से नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में तुम्हारे मन में ये विचार उठते हैं—

### जीव प्रत्यक्ष नहीं

यदि जीव का अस्तित्व हो तो उसे घटादि पदार्थों के समान प्रत्यक्ष दिखाई देना चाहिए किन्तु वह प्रत्यक्ष तो होता नहीं। जो पदार्थ सर्वथा अप्रत्यक्ष होते हैं, उन का आकाश-कुसुम के समान संसार में सर्वथा अभाव होता है। जीव भी सर्वथा अप्रत्यक्ष है अतः संसार में उस का भी सर्वथा अभाव है।

यद्यपि परमाणु भी चर्म चक्षु से दिखाई नहीं देता तथापि उसका अभाव नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि वह जीव के समान सर्वथा अप्रत्यक्ष नहीं है। कार्यरूप में परिणत परमाणु का प्रत्यक्ष तो होना ही है किन्तु जीव का प्रत्यक्ष किसी भी प्रकार से नहीं होता। अतः उसका सर्वथा अभाव मानना चाहिए। [१८४६]

### जीव अनुमान से सिद्ध नहीं होता

यदि कोई यह बात कहे कि जीव चाहे प्रत्यक्ष से गृहीत न हो किन्तु उसे अनुमान से तो जाना जा सकता है अतः उसका अस्तित्व मानना चाहिए तो यह कहना भी युक्त नहीं। कारण यह है कि अनुमान भी प्रत्यक्ष-पूर्वक ही होता है। जिस पदार्थ का कभी प्रत्यक्ष ही न हुआ हो, वह पदार्थ अनुमान से

# प्रथम गणधर इन्द्रभूति

## जीव के अस्तित्व सम्बन्धी चर्चा

भगवान महावीर राग द्वेष का क्षयकर सर्वज्ञ होने के पश्चात वैशाख सुदि एकादशी के दिन महसेन वन में विराजमान थे। लोक-समूह को उनके पास जाते हुए देख कर यज्ञवाटिका में एकत्रित विद्वान ब्राह्मणों के मन में भी जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि ऐसा कौन सा महापुरुष आया है जिस का दर्शन करने सब लोग उसकी ओर जा रहे हैं। उन में सब से श्रेष्ठ विद्वान इन्द्रभूति गौतम सब से पहले भगवान महावीर के पास जाने के लिए उद्यत हुआ। जब वह अपने शिष्य परिवार सहित भगवान के समक्ष उपस्थित हुआ तब उसे देखकर भगवान कहने लगे —

### इन्द्रभूति के संशय का कथन

आयुष्मन् इन्द्रभूति गौतम! तुम्हें जीव के अस्तित्व के विषय में सन्देह है। तुम यह समझते हो कि जीव की सिद्धि किसी भी प्रमाण से नहीं हो सकती तथापि संसार में बहुत से लोग जीव का अस्तित्व तो मानते ही हैं, अतः तुम्हें संशय है कि जीव है या नहीं? जीव की सिद्धि किसी भी प्रमाण से नहीं हो सकती, इस सम्बन्ध में तुम्हारे मन में ये विचार उठते हैं—

### जीव प्रत्यक्ष नहीं

यदि जीव का अस्तित्व हो तो उसे घटादि पदार्थों के समान प्रत्यक्ष दिखाई देना चाहिए किन्तु वह प्रत्यक्ष तो होता नहीं। जो पदार्थ सर्वथा अप्रत्यक्ष होते हैं उन का आकाश-कुसुम के समान संसार में सर्वथा अभाव होता है। जीव भी सर्वथा अप्रत्यक्ष है अतः संसार में उस का भी सर्वथा अभाव है।

यद्यपि परमाणु भी चर्म चक्षु से दिखाई नहीं देता तथापि उसका अभाव नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि वह जीव के समान सर्वथा अप्रत्यक्ष नहीं है। कार्यरूप में परिणत परमाणु का प्रत्यक्ष तो होता ही है किन्तु जीव का प्रत्यक्ष किसी भी प्रकार से नहीं होता। अतः उसका सर्वथा अभाव मानना चाहिए। [१५४६]

### जीव अनुमान से सिद्ध नहीं होता

यदि कोई यह बात कहे कि जीव चाहे प्रत्यक्ष से गृहीत न हो, किन्तु उसे अनुमान से तो जाना जा सकता है अतः उसका अस्तित्व मानना चाहिए तो यह कहना भी युक्त नहीं। कारण यह है कि अनुमान भी प्रत्यक्ष पूर्वक ही होता है। जिस पदार्थ का कभी प्रत्यक्ष ही न हुआ हो, वह पदार्थ अनुमान से

भी नहीं जाना जा सकता। हमारा अनुभव है कि जब हम परोक्ष अग्नि का अनुमान करते हैं तब सब से पहले धूमरूप लिंग अथवा हेतु का प्रत्यक्ष होता ही है। यहां नहीं अपितु पहले से ही प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा निश्चित किए गए लिंग-हेतु तथा लिंगी साध्य के अविनाभाव सम्बन्ध का—अर्थात् प्रत्यक्ष से निश्चित धूम तथा अग्नि के अविनाभाव सम्बन्ध का—स्मरण होता है। तभी धूम के प्रत्यक्ष से अग्नि का अनुमान किया जा सकता है अन्यथा नहीं। [१५५०]

प्रस्तुत में जीव के विषय में जीव के किसी भी लिंग का जीव के साथ सम्बन्ध प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा पूर्व गृहीत है ही नहीं, जिससे उस लिंग का पुनः प्रत्यक्ष होने पर उस सम्बन्ध का स्मरण हो और जीव का अनुमान किया जा सके।

कोई व्यक्ति यह कह सकता है कि सूर्य की गति का कभी भी प्रत्यक्ष नहीं हुआ फिर भी उस की गति का अनुमान हो सकता है, जैसे कि सूर्य गतिशील है क्योंकि वह कालान्तर में दूसरे देश में पहुँच जाता है देवदत्त के समान। जिस प्रकार यदि देवदत्त प्रातःकाल यहां हो किन्तु सन्ध्या में अन्यत्र हो तो यह बात गमन के अभाव में शक्य नहीं उसी प्रकार सूर्य प्रातःकाल में पूर्व दिशा में होता है और सायंकाल में पश्चिम दिशा में। यह बात भी सूर्य की गतिशीलता के बिना सम्भव नहीं। इस प्रकार के सामान्यतोदृष्ट अनुमान से सर्वथा अप्रत्यक्षरूप सूर्य की गति की सिद्धि हो सकती है इसी तरह सामान्यतोदृष्ट अनुमान से सर्वथा अप्रत्यक्षरूप जीव का अस्तित्व भी सिद्ध हो सकता है।

इस का उत्तर यह है कि देवदत्त का जो दृष्टान्त ऊपर दिया गया है उसमें सामान्यतः देवदत्त का देशान्तर में होना गतिपूर्वक ही है। यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है इस लिए इस दृष्टान्त से सूर्य की गति अप्रत्यक्ष होने पर भी देशान्तर में सूर्य को देखकर सूर्य की गति का अनुमान हो सकता है। किन्तु प्रस्तुत में जीव के अस्तित्व के साथ अविनाभावी किसी भी हेतु का प्रत्यक्ष नहीं होता जिस से जीव के उस हेतु के पुनर्दर्शन से अनुमान हो सके। अतः उक्त सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी जीव का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। [१५५१]

**जीव आगम प्रमाण से भी सिद्ध नहीं**

आगम प्रमाण से भी जीव की सिद्धि नहीं हो सकती। वस्तुतः आगम प्रमाण अनुमान प्रमाण से पृथक् नहीं है। वह अनुमान रूप ही है। क्योंकि आगम के भेद हैं—एक दृष्टार्थ विषयक अर्थात् प्रत्यक्ष पदार्थ का प्रतिपादक और दूसरा अदृष्टार्थ विषयक—अर्थात् परोक्ष पदार्थ का प्रतिपादक। उनमें दृष्टार्थ विषयक आगम तो स्पष्टरूपेण अनुमान है क्योंकि मिट्टी के अमुक विशिष्ट आकार वाले पदार्थ को लक्ष्य में रखकर प्रयुक्त होने वाला 'घट' शब्द जब हम बार बार सुनते हैं तब हम निश्चय कर लेते हैं कि इस आकार वाले पदार्थ को 'घट' शब्द से प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार का निश्चय हो जाने के बाद जब कभी हम

पर शब्द का श्रवण करते हैं तब यह अनुमान कर लेते हैं कि वक्ता पर शब्द से अमुक विशिष्ट आकार वाले अर्थ का ही प्रतिपादन करता है। इस तरह दृष्टार्थ विषयक आगम अनुमान ही है। प्रस्तुत में 'जीव' यह शब्द हमने कभी भी शरीर से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ सुना ही नहीं है। तो फिर जीव शब्द का श्रवण करने पर हम दृष्टार्थ विषयक आगम से उसकी सिद्धि कैसे कर सकेंगे? अर्थात् दृष्टार्थ विषयक आगम से भी शरीर से भिन्न जीव की सिद्धि नहीं होती।

स्वर्ग-नरक आदि पदार्थ अदृष्ट अथवा परोक्ष हैं। इस प्रकार के पदार्थों के प्रतिपादक वचन को अदृष्टार्थ विषयक आगम कहते हैं। यह आगम भी अनुमान रूप है। इस बात को हम इस प्रकार सिद्ध कर सकते हैं—उक्त अदृष्टार्थ के प्रतिपादक वचन का प्रामाण्य निम्न प्रकारेण सिद्ध होता है—स्वर्ग-नरकादि का प्रतिपादक वचन प्रमाण है क्योंकि यह चन्द्र ग्रहण आदि वचन के समान अविसंवादी वचन वाले आप्त पुरुष का वचन है। इस प्रकार यह अदृष्टार्थ विषयक आगम भी अनुमान रूप ही है। प्रस्तुत में ऐसा कोई भी आप्त पुरुष सिद्ध नहीं है जिस आत्मा प्रत्यक्ष हो और जिसके आधार पर इस सम्बन्ध में उस का वचन प्रमाण माना जाए तथा इस प्रकार जीव के अप्रत्यक्ष होने पर भी उसका अस्तित्व मान लिया जाए। इस प्रकार आगम प्रमाण से भी जीवसिद्धि सम्भव नहीं। [१५५२]

### जीव के विषय में आगमों में परस्पर विरोध

पुनश्च तथाकथित आगम भी आत्मा के विषय में परस्पर विरुद्ध मत का प्रतिपादन करते हैं अतः आत्मा के अस्तित्व में सन्देह का अवकाश रहता ही है। जैसे कि चार्वाकों के शास्त्र में कहा है कि 'जो कुछ इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है उतना ही संसार है।'[1] अर्थात् आत्मा इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य न होने के कारण अभाव स्वरूप ही है। इसके समर्थन में किसी ऋषि[2] की उक्ति भी है कि 'इन भूतों में विज्ञानघन समुत्थित होता है और भूतों के नष्ट होने पर वह भी नष्ट हो जाता है। परलोक जैसी कोई चीज नहीं है।'[3] भगवान बुद्ध ने भी आत्मा का अभाव बताते हुए कहा है

---

१ एतावानेव लोको यावानिन्द्रियगोचरः ।
भद्रे वृकपदं पश्य यद् वदन्ति विपश्चितः ॥
उत्तरार्द्ध का भावार्थ—हे भद्रे! वृक पद को भी देखो तथा विद्वान उसके आधार पर जिन परस्पर विरुद्ध पदार्थों का अनुमान करते हैं उन्हें भी देखो। इससे अनुमान को प्रमाण मानना चाहिए। यह पद्य षड्दर्शन समुच्चय में 81वां तथा लोकतत्त्वनिर्णय में 290वां है।

२ वृत्ति में लिखा है 'भट्टाश्चाहुः'। किन्तु यह वाक्य कुमारिल का नहीं है अतः उक्त कथन युक्त नहीं। यह वाक्य उपनिषदों का है।

३ विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न च प्रेत्य संज्ञा अस्ति। बृहदारण्यक उप० 2 4 12 यह वाक्य ऋषि याज्ञवल्क्य का है।

कि 'रूप पुद्गल नहीं है।'[1] अर्थात् बाह्य दृश्य वस्तु जीव नहीं है। इस प्रकार प्रारम्भ कर सभी प्रसिद्ध वस्तुओं का खण्डन करके लक्ष्य में रख कर भगवान बुद्ध ने सिद्ध किया कि जीव नहीं है। इसके विपरीत आत्मा का अस्तित्व बताने वाले आगम वचन भी उपलब्ध होते हैं जैसा कि वेद में कहा है—शरीर आत्मा के प्रिय और अप्रिय—अर्थात् सुख और दुःख का ज्ञाता नहीं है किन्तु शरीर रहित जीव को प्रिय और अप्रिय का स्पर्श भी नहीं है। अर्थात् उसे सुख-दुःख होता ही नहीं है।[2] फिर यह भी कहा है कि स्वर्ग का इच्छुक अग्निहोत्र करे।[3] सांख्यों के आगम में कहा है कि पुरुष आत्मा अकर्ता निर्गुण भोक्ता और चिद्रूप है।[4] इस प्रकार आगमों के परस्पर विरुद्ध होने के कारण आगम प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती।

**उपमान प्रमाण से जीव असिद्ध है**

उपमान प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि शक्य नहीं है कारण यह है कि यदि विश्व में आत्मा जैसा कोई अन्य पदार्थ हो तब उसकी उपमा आत्मा से दी जा सकती है और फिर आत्मा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु आत्म सदृश कोई पदार्थ है ही नहीं। अतः उपमान से भी आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती।

कोई व्यक्ति यह भी कह सकता है कि काल आकाश दिशा ये सब अमूर्त होने के कारण आत्मा के सदृश हैं अतः उपमान प्रमाण से आत्मा की सिद्धि हो सकती है। इसका उत्तर यह है कि जैसे आत्मा असिद्ध है वैसे ही कालादि भी प्रत्यक्ष न होने के कारण असिद्ध है। अतः उपमान प्रमाण आत्मा की सिद्धि नहीं कर सकता।

**अर्थापत्ति से भी जीव असिद्ध है**

अर्थापत्ति प्रमाण से भी आत्मा सिद्ध नहीं हो सकती, कारण यह है कि संसार में ऐसा एक भी पदार्थ नहीं जिसका अस्तित्व उसी दशा में सिद्ध हो सकता है जबकि आत्मा को माना जाए।

इस प्रकार तुम समझते हो कि जीव सब प्रमाणातीत है अर्थात किसी भी प्रमाण से उसकी सिद्धि नहीं हो सकती अतः उसका अभाव मानना चाहिए। फिर

---

१ न रूपं भिक्षव ! पुद्गलः इस विषय की बौद्ध त्रिपिटक में विस्तृत चर्चा है। संयुक्त निकाय 12 70 32 37 दीघनिकाय महानिदान सुत्त 15, मज्झिम निकाय छक्क-सुत्त 148 मैंने इस विषय की चर्चा न्यायावतारवार्तिक वृत्ति की प्रस्तावना में की है—देखें पृ० 6

२ न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः। छान्दोग्य उपनिषद् 8 12 1

३ अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः मैत्रायणी उपनिषद् 3 6 36

४ अस्ति पुरुषोऽकर्ता निर्गुणो भोक्ता चिद्रूपः। इसके साथ तुलना करें—
अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः। अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्मः आत्मा कपिलदर्शने॥
यह पद्य स्याद्वादमञ्जरी पृष्ठ 96 पर उद्धृत है।

भी बहुत से लोग जीव का अस्तित्व स्वीकार करते है अत तुम्हे सशय है कि जीव की सत्ता है या नही ? [१५५३]

**सशय का निवारण**

हे गौतम ! जीव के विषय मे तुम्हारा सन्देह उचित नही है। तुम्हारा यह कहना कि 'जीव प्रत्यक्ष नही' अयुक्त है क्योकि जीव तुम्हे प्रत्यक्ष है ही।

**सशय विज्ञान रूप से जीव प्रत्यक्ष है**

इन्द्रभूति—यह कसे ?

भगवान्—जीव है या नही इस प्रकार का जो सशय रूप विज्ञान है वही जीव है क्योकि जीव विज्ञानरूप है। तुम्हे तुम्हारा सन्देह तो प्रत्यक्ष ही है क्योकि वह विज्ञानरूप है। जो विज्ञानरूप होता है वह स्वसवदन प्रत्यक्ष से स्वसविदित होता ही है अन्यथा विज्ञान का ज्ञान घटित नही हो सकता। इस प्रकार सशय रूप विज्ञान यदि तुम्हें प्रत्यक्ष हो तो उस रूप मे जीव भी प्रत्यक्ष ही है। जो प्रत्यक्ष हो उसकी सिद्धि मे अन्य प्रमाण अनावश्यक है। जसे अपने शरीर मे सुख-दु खादि का जो अनुभव होता है वह स्वसविदित होने से प्रत्यक्ष सिद्ध है और सुख-दु खादि की सिद्धि मे प्रत्यक्षतर प्रमाण अनावश्यक है उसी प्रकार जीव भी स्वसविदित होने के कारण अपनी सिद्धि के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा नही रखता।

इन्द्रभूति—जीव चाहे प्रत्यक्ष सिद्ध हो किन्तु उसकी अन्य प्रमाणो से सिद्धि करना आवश्यक है। जसे इस विश्व के पदार्थ यद्यपि प्रत्यक्ष सिद्ध है तथापि शून्य वादी को समझाने के लिए अनुमान आदि प्रमाणो से उनकी सिद्धि करनी पडती है उसी प्रकार जीव के प्रत्यक्ष सिद्ध होने पर भी उसकी इतर प्रमाणो से सिद्धि आवश्यक है।

भगवान—शून्यवादी की चर्चा मे भी वस्तुत अनुमानादि प्रमाणो द्वारा विश्व के पदार्थों की सिद्धि नही करनी पडती किन्तु यदि शून्यवादियो ने विश्व के पदार्थों के अस्तित्व के सम्बन्ध मे बाधक प्रमाण[1] दिए हो तो उनका निराकरण ही किया जाता है। प्रस्तुत मे आत्म ग्राहक प्रत्यक्ष का कोई बाधक प्रमाण ही नही है अत उसके निराकरण का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। अर्थात आत्म-सिद्धि मे प्रत्यक्षतर प्रमाण अनावश्यक ही है। [१५५४]

1 शून्यवादी सब वस्तुओं की शून्यता सिद्ध करने के लिए इस प्रकार अनुमान करते हैं—निरालम्बना सर्वे प्रत्यया प्रत्ययत्वात स्वप्नप्रत्ययवत्—(प्रमाणवार्तिकालकार-पृ० 2)—अर्थात सभी ज्ञानों का कोई विषय ही नहीं है ज्ञान होने से स्वप्नज्ञान के समान। यह विज्ञान-वादियो का अनुमान है। वे विज्ञान भिन्न कोई बाह्य वस्तु नहीं मानते। इसी का उपयोग बाह्य वस्तु का बाधक बताने के लिए शून्यवादी भी करते हैं।

**अहंप्रत्यय से जीव का प्रत्यक्ष**

इन्द्रभूति—आपने कहा है कि संशय विज्ञान रूप से जीव प्रत्यक्ष है। यह बात ठीक है किन्तु किसी अन्य रीति से वह प्रत्यक्ष होता हो तो बताएँ।

भगवान्—'मैंने किया' 'मैं करता हूँ' 'मैं करूंगा' इत्यादि प्रकार से तीनों काल सम्बन्धी अपने विविध कार्यों का जो निर्देश किया जाता है, उसमें 'मैं पन' का जो अहंरूप ज्ञान होता है वह भी आत्म प्रत्यक्ष ही है। यह अहंरूप ज्ञान किसी भी प्रकार अनुमान रूप नहीं क्योंकि वह लिंगजन्य नहीं है। यह आगम प्रमाण रूप भी नहीं है क्योंकि आगम से अनभिज्ञ सामान्य लोगों को भी अहंपन का अन्तर्मुख ज्ञान होता ही है और वही आत्मा का प्रत्यक्ष है। घटादि पदार्थों में आत्मा नहीं है अतः उन्हें इस प्रकार के अहंपन का अन्तर्मुख आत्म प्रत्यक्ष भी नहीं होता। [१५५५]

फिर यदि जीव का अस्तित्व ही नहीं है, तो उसे 'अहं' इस प्रत्यय का ज्ञान कहाँ से हो सकता है? क्योंकि ज्ञान निर्विषय तो होता नहीं। यदि 'अहं' प्रत्यय के विषयभूत आत्मा का स्वीकार न किया जाए तो 'अहं'-प्रत्यय विषय रहित बन जाता है। ऐसी स्थिति में अहं प्रत्यय होगा ही नहीं।

**अहंप्रत्यय देह विषयक नहीं**

इन्द्रभूति—अहं प्रत्यय का विषय जीव के स्थान पर यदि देह को माना जाए तो भी अहंप्रत्यय निर्विषय नहीं हो पाता। 'मैं काला हूँ' 'मैं दुबला हूँ' इत्यादि प्रत्ययों में 'मैं' स्पष्टतः शरीर को लक्ष्य में रख कर प्रयुक्त हुआ है। अतः 'मैं' को यदि देह माना जाए तो इसमें क्या आपत्ति है?

भगवान्—यदि 'मैं' शब्द का प्रयोग शरीर के लिए ही होता हो तो मृत देह में भी अहंप्रत्यय होना चाहिए। ऐसा नहीं होता अतः 'अहं' पन के ज्ञान का विषय देह नहीं अपितु जीव है। पुनश्च इस प्रकार अहंप्रत्यय से तुम्हें आत्मा प्रत्यक्ष ही है। फिर 'मैं हूँ या नहीं' इस संशय का अवकाश नहीं रहता। इससे विपरीत 'मैं हूँ ही' यह आत्म विषयक निश्चय होना ही चाहिए। ऐसी स्थिति में भी यदि तुम्हारा आत्मा के सम्बन्ध में संशय बना रहता है तो फिर अहंप्रत्यय का विषय क्या रह जाएगा? अर्थात् अहंप्रत्यय किस का होगा? कोई भी ज्ञान निर्विषय नहीं होता अतः अज्ञान का भी कोई विषय मानना चाहिए। तुम आत्मा को स्वीकार नहीं करते, अतः तुम ही बताओ कि अहंप्रत्यय का विषय क्या है। [१५५६]

**संशयकर्ता जीव ही है**

पुनश्च यदि संशय करने वाला कोई न हो तो 'मैं हूँ या नहीं' यह संशय किस को होगा? संशय विज्ञान रूप है और विज्ञान एक गुण है। गुणी के बिना गुण की सम्भावना नहीं अतः संशयरूप विज्ञान का कोई गुणी मानना ही चाहिए। संशय का आधार गुणी ही जीव है।

इन्द्रभूति—जीव के स्थान पर देह को ही गुणी मान लो क्योंकि देह में ही संशय उत्पन्न होता है।

भगवान—देह मूर्त है और जड़ है किन्तु ज्ञान अमूर्त और बोध रूप है। इस तरह यह दोनों अननुरूप है—विलक्षण हैं अतः इन दोनों का गुण गुणी भाव घटित नहीं हो सकता। अन्यथा आकाश में भी रूप गुण मानना पड़ेगा। अतः देह को संशय का गुणी नहीं माना जा सकता।

इसके अतिरिक्त जिसे स्वरूप में ही सन्देह हो—अपने विषय में ही सन्देह हो, उसके लिए समस्त विश्व में कोई भी चीज असंदिग्ध कैसे होगी? उसे सर्वत्र ही संशय होगा।

**आत्म-बाधक अनुमान के दोष**

आत्मा के अहंप्रत्यय द्वारा प्रत्यक्ष होने पर भी तुम यह अनुमान करते हो कि आत्मा नहीं है—क्योंकि उसमें अस्तित्व अर्थात भाव के ग्राहक पांचों प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं है। तुम्हारे इस अनुमान में तुम्हारा पक्ष प्रत्यक्ष बाधित पक्षाभास-मिथ्यापक्ष सिद्ध होता है। जैसे कि शब्द का श्रवण द्वारा प्रत्यक्ष होता है फिर भी कोई कहे कि 'शब्द तो अश्रावण है'—अर्थात वह कर्णग्राह्य नहीं तो उसका पक्ष प्रत्यक्ष बाधित होने के कारण पक्षाभास है। आत्मा नहीं तुम्हारा यह पक्ष अनुमान बाधित भी है। आत्म-साधक अनुमान आगे बताऊँगा। उस अनुमान से तुम्हारा पक्ष बाधित हो जाता है। जैसे कि मीमांसकों का यह पक्ष कि शब्द नित्य है नैयायिक आदि के शब्द की अनित्यता के साधक अनुमान द्वारा बाधित हो जाता है। पुनश्च मैं संशयकर्ता हूं यह बात स्वीकार करने के पश्चात आत्मा नहीं है अर्थात मैं नहीं हूं ऐसा कथन करने से तुम्हारा पक्ष स्वाभ्युपगम से भी बाधित होता है। इसका कारण यह है कि मैं संशयकर्ता हूं यह कह कर मैं का स्वीकार तो किया ही गया है और अब मैं का निषेध करते हो अतः तुम्हारे इस मैं के निषेध की बात अपने प्रथम अभ्युपगम स्वीकार से ही बाधित हो जाती है। जैसे कि सांख्य आत्मा को पहले अकर्ता नित्य चैतन्य स्वरूप स्वीकार करके फिर यदि यह कहे कि वह कर्ता है अनित्य है अचेतन है तो उनका पक्ष स्वाभ्युपगम से बाधित हो जाता है। अनपढ़ लोग भी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। अतः आत्मा नहीं तुम्हारा यह पक्ष लोकविरुद्ध भी है। जैसे शशि को अचन्द्र कहना लोक विरुद्ध है। तथा मैं आत्मा नहीं अर्थात मैं मैं नहीं ऐसा कथन करना स्ववचन विरुद्ध भी है। जैसे कोई यह कहे कि मेरी माता वन्ध्या है।

इस प्रकार तुम्हारा पक्ष ही युक्त नहीं है। यह पक्षाभास है। अतः 'भावग्राहक पांचों प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं' यह हेतु पक्ष का धर्म नहीं बन सकेगा इसलिए यह हेतु असिद्ध होगा। असिद्ध हेतु हेत्वाभास कहलाता है। उससे साध्य सिद्धि नहीं हो

के अनुरूप अमूर्त और अचाक्षुष आत्मा का देह से भिन्न गुणी के रूप में
चाहिए।

इन्द्रभूति—आप ज्ञानादि को देह के गुण नहीं मानते किन्तु इसमें प्र
बाधक है। ज्ञानादि गुण शरीर में ही दृष्टिगोचर होते हैं।

भगवान—ज्ञानादि गुणों के देह में होने का प्रत्यक्ष ही अनुमान बाधि
है अतः ज्ञानादि गुण देह में नहीं माने जा सकते, उन्हें देह से भिन्न आत्मा में
मानना चाहिए।

इन्द्रभूति—ज्ञानादि गुणों का देह में प्रत्यक्ष होना किस अनुमान से
बाधित है?

भगवान—देह में विद्यमान इन्द्रियों से विज्ञाता—आत्मा भिन्न है क्यों
इन्द्रियों के व्यापार के अभाव में भी उनसे उपलब्ध पदार्थों का स्मरण होता है।
जिस प्रकार झरोखे द्वारा देखी गई वस्तु को देवदत्त झरोखे के बिना भी याद कर
सकता है अतः देवदत्त झरोखे से भिन्न है उसी प्रकार इन्द्रियों के बिना भी
इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध पदार्थों का स्मरण करने से आत्मा को इन्द्रियों से भिन्न मानना
चाहिए।[1] इस अनुमान में प्रत्यक्ष बाधित होने के कारण वह प्रत्यक्ष ज्ञात है। इस
स्मरणादि विज्ञानरूप गुणों का गुणी देह नहीं हो सकता। [१५६२]

**सर्वज्ञ को जीव प्रत्यक्ष है**

मैं तुम्हें यह बता चुका हूँ कि तुम्हें भी आत्मा का प्रत्यक्ष है। तुम्हारा यह
प्रत्यक्ष आंशिक है क्योंकि तुम्हें आत्मा का सब प्रकार से सम्पूर्ण प्रत्यक्ष नहीं है
किन्तु मुझे उसका सर्वथा प्रत्यक्ष है। तुम छद्मस्थ हो वीतराग नहीं अतः तुम वस्तु
के अनन्त स्व और पर पर्यायों का साक्षात्कार नहीं हो सकता किन्तु वस्तु के अंश का
साक्षात्कार होता है। जिस प्रकार घटादि पदार्थ प्रदीप आदि से दर्शन प्रत्यक्ष
होते हैं फिर भी यह कहा जाता है कि घट प्रकाशित हुआ, उसी प्रकार छद्मस्थ को
घटादि पदार्थों का प्रत्यक्ष आंशिक प्रत्यक्ष है फिर भी यह व्यवहार होता है कि
का प्रत्यक्ष हुआ। इसी आधार पर आत्मा के सम्बन्ध में तुम्हारे आंशिक प्रत्यक्ष को लिए
में कहा जा सकता है कि तुम्हें आत्मा का प्रत्यक्ष हो गया। मैं कहता हूँ कि मेरा
ज्ञान अप्रतिहत और अनन्त है। मुझे आत्मा का सम्पूर्ण भाव से प्रत्यक्ष है। तुम्हारा
सर्वज्ञ घटादि द्रव्य का अथवा तुम्हारी आत्मा में विद्यमान सर्वज्ञ बाह्य इन्द्रियों के
साक्षात् था फिर भी मैंने उसे जान लिया। यह बात तुम्हें प्रतीति सिद्ध है। इसी
प्रकार मेरे द्वारा भी समझ लो कि मुझे आत्मा का सम्पूर्ण साक्षात्कार हुआ है। [१५६३]

---

1 इस विषय का स्मृति के बाद होने वाले वाद में विशेष चर्चा की गई है।

इन्द्रभूति—अपनी देह में मुझे आत्मा का आंशिक प्रत्यक्ष है इस बात को मानने में मुझे अब कोई आपत्ति नहीं। किन्तु दूसरों की देह में आत्मा है यह मैं कैसे जान सकता हूँ ?

**अन्य देह में आत्म सिद्धि**

भगवान्—इस प्रकार अनुमान से तुम यह समझ लो कि दूसरों की देह में भी विज्ञानमय आत्मा है। दूसरों के शरीर में भी विज्ञानमय जीव है क्योंकि उनकी इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति देखी जाती है। जैसे हमारी इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति होती है इसलिए हमारे शरीर में आत्मा है। इसी प्रकार दूसरों के शरीर में भी आत्मा की सत्ता होनी चाहिए। यदि दूसरों के शरीर में आत्मा न हो, तो घटादि के समान उनकी भी इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट में निवृत्ति न हो। अतः पर-देह में भी आत्मा माननी चाहिए। [१५६४]

इन्द्रभूति—आपके साथ इतनी चर्चा करने से यह तो स्पष्ट होता है कि आत्मा है, किन्तु मेरे विचारों में आपको यदि कोई असंगति प्रतीत हुई हो तो उसे प्रकट करना उचित होगा।

**आत्म सिद्धि के लिए अनुमान**

भगवान्—तुमने जो यह विचार किया[1] था कि 'जीव के किसी भी लिंग का जीव के साथ सम्बन्ध प्रत्यक्ष प्रमाण से पूर्वगृहीत है ही नहीं जैसे कि लिंग के साथ उसके सम्बन्ध भी देखे ही नहीं गए अतः लिंग द्वारा जीव का ग्रहण नहीं हो सकता—इत्यादि [१५६५] उस विषय में यह जान लेना चाहिए कि यह एकान्त नियम नहीं है कि लिंगी-साध्य के साथ लिंग हेतु का पहले देखा हो तो ही बाद में लिंग से साध्य की सिद्धि होती है अन्यथा नहीं। कारण यह है कि हम ने भूत को हास्य गान स्नान हाथ पैर मारने की क्रिया अक्षि-विक्षेप आदि लिंगों के साथ कभी देखा नहीं, फिर भी इन लिंगों को देख कर दूसरे के शरीर में भूत का अनुमान होता है। उसी प्रकार आत्मा के साथ लिंग ज्ञान के अभाव में भी आत्मा का अनुमान हो सकता है यह स्वीकार करना चाहिए। [१५६६]

और आत्म-साधक अनुमान प्रयोग इस प्रकार भी हो सकता है—देह का कोई कर्ता होना चाहिए क्योंकि उसका घट के समान एक सादि और प्रतिनियत निश्चित आकार है। जिसका कोई कर्ता नहीं होता उसका सादि और प्रतिनियत आकार भी नहीं होता—जैसे कि आकाश का। सर्व आदि नित्य पदार्थों का आकार प्रतिनियत तो होता है किन्तु उसकी आदि नहीं होती क्योंकि वे नित्य हैं। अतः हेतु में सादि विशेषण लगाया गया है। इसमें उक्त हेतु द्वारा सर्व जैसे प्रतिनियत

---

1 गाथा 1551

नही हो सकता। इसी न्याय से यदि तुम शरीर में आत्मा का भ्रम ही मानो तो भी आत्मा का अस्तित्व यहाँ नहीं तो अन्यत्र मानना ही पड़ेगा। यदि जीव का सर्वथा अभाव हो तो उसका भ्रम नहीं हो सकता। [१७७२]

**अजीव के प्रतिपक्षी रूप मे जीव की सिद्धि**

अन्य प्रकार से भी जीव की सिद्धि की जा सकती है। अजीव का प्रतिपक्षी कोई होना चाहिए। कारण यह है कि अजीव मे व्युत्पत्ति वाले शुद्ध पद का प्रतिषेध हुआ है। जहाँ जहाँ व्युत्पत्ति वाले शुद्ध पदों का निषेध होता है वहाँ-वहाँ उनके प्रतिपक्षी अवश्य होते हैं। जैसे अघट का प्रतिपक्षी घट है। जब हम अघट कहते हैं, तब उसमें घट' रूप व्युत्पत्ति वाले पद का निषेध होता है। अतः 'अघट' का विरोधी घट अवश्य विद्यमान है। जिसका प्रतिपक्षी नहीं होता उसमें व्युत्पत्ति वाले शुद्ध पद का निषेध भी नहीं होता। जैसे अश्वर विषाण अथवा अडित्थ। इसमें खर विषाण शुद्ध पद नहीं, क्योंकि यह समास युक्त है। 'डित्थ' शब्द व्युत्पत्ति वाला नहीं है। अतः दोनों को व्युत्पत्ति वाले शुद्ध पद नहीं कहा जा सकता। अतः अश्वर विषाण के विरोधी खर विषाण तथा अडित्थ के विरोधी डित्थ की विद्यमानता आवश्यक नहीं, किन्तु अजीव में यह बात नहीं। उससे व्युत्पत्ति वाले शुद्ध पद जीव का निषेध हुआ है। अतः जीव का अस्तित्व अवश्यभावी है।

**निषेध्य होने से जीव सिद्धि**

पुनश्च, तुम कहते हो कि जीव नहीं है। इसी कथन से जीव का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। यदि जीव का सर्वथा अभाव हो, तो 'जीव नहीं है' ऐसा प्रयोग ही संभव नहीं। जैसे दुनिया में यदि घड़ा कहीं भी न हो, तो 'घड़ा नहीं है' ऐसा प्रयोग ही न होता। इसी प्रकार जीव के सर्वथा अभाव में जीव नहीं है यह प्रयोग भी नहीं हो सकता। जब हम यह कहते हैं कि घट नहीं है तब घट हमारे सामने न होकर भी अन्यत्र अवश्य विद्यमान होता है। इसी प्रकार 'जीव नहीं है' ऐसा कथन करने पर यदि यहाँ नहीं तो अन्यत्र उसका अस्तित्व मानना ही चाहिए। जो वस्तु सर्वथा अभाव स्वरूप हो उसके विषय में निषेध भी नहीं किया जाता। यह भी नहीं कहा जाता कि वह नहीं है। जैसे कि खर विषाण और छठे भूत के विषय में। तुम जीव का निषेध करते हो अतः तुम्हें उसका अस्तित्व मानना चाहिए। [१५७३]

इन्द्रभूति— खर विषाण नहीं है ऐसा प्रयोग होता तो है। फिर आप यह क्यों कहते हैं कि जिसका सत्व अस्तित्व न हो उसके विषय में यह प्रयोग नहीं होता कि 'नहीं है और जिसके साथ नहीं है' इस शब्द का प्रयोग होता है, उसका आपके मत के अनुसार अवश्य अस्तित्व होता है। अतः आपको खर विषाण का भी अस्तित्व मानना पड़ेगा क्योंकि यह प्रयोग होता है कि खर विषाण नहीं है।

---

१ लकड़ी के हाथी को डित्थ कहते हैं।

निषेध का अर्थ

भगवान्—मैं इस नियम पर दृढ हूं कि जो सर्वथा असत अर्थात अविद्यमान होता है उसका निषेध नहीं हो सकता और जिसका निषेध होता है वह संसार में कहीं न कहीं विद्यमान होता ही है। वस्तुतः निषेध से वस्तु के सर्वथा अभाव का प्रतिपादन नहीं होता, किन्तु उसके संयोगादि के अभाव का प्रतिपादन होता है। अर्थात् देवदत्त जैसे किसी भी पदार्थ का जब हम निषेध करते हैं तब उसके सर्वथा अभाव का प्रतिपादन नहीं करते किन्तु अन्यत्र विद्यमान देवदत्त आदि का अन्यत्र संयोग नहीं अथवा समवाय नहीं अथवा सामान्य या विशेष नहीं यही बात बताना हमें इष्ट होता है। जब हम यह कहते हैं कि देवदत्त घर में नहीं है तब इस का तात्पर्य केवल यह होता है कि देवदत्त और घर दोनों का अस्तित्व होने पर भी दोनों का संयोग नहीं। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि खर विषाण नहीं तब इसका सार यही है कि खर और विषाण दोनों पदार्थ अपने अपने स्थान पर विद्यमान हैं परन्तु उन दोनों में समवाय सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि दूसरा चन्द्र नहीं है तब चन्द्र का सर्वथा निषेध नहीं होता किन्तु चन्द्र सामान्य का निषेध होता है। अर्थात् एक व्यक्ति में सामान्य का अवकाश नहीं। जब हम यह कहते हैं कि घड़े जितना बड़ा मोती नहीं है तब मोती का सर्वथा निषेध अभिप्रेत नहीं होता किन्तु घट के परिमाण रूप विशेष का मोती में अभाव बताना ही हमारा लक्ष्य होता है। इसी प्रकार आत्मा नहीं है इस कथन में आत्मा का सर्वथा अभाव अभिप्रेत नहीं होना चाहिए किन्तु उनके संयोगादि का ही निषेध मानना चाहिए।

इन्द्रभूति—आपके नियमानुसार यदि मेरे सम्बन्ध में कभी यह कहा जाए कि तुम त्रिलोकेश्वर नहीं तो मैं तीनों लोकों का ईश्वर भी बन जाऊंगा क्योंकि मेरी त्रिलोकेश्वरता का निषेध किया गया है। किन्तु आप यह जानते हैं कि मैं तीन लोक का ईश्वर नहीं हूं। अतः यह नियम अयुक्त है कि जिसका निषेध किया जाए वह पदार्थ होना ही चाहिए। अपि च आप के मत में निषेध उक्त चार प्रकार के हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि पांचवें प्रकार का निषेध नहीं है किन्तु आप के बताए हुए नियम से निषेध का पांचवां प्रकार भी होना चाहिए। कारण यह है कि आप उसका निषेध करते हैं

भगवान्—तुम मेरे कथन के तात्पर्य को भलीभांति समझ नहीं सके अन्यथा ऐसा प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। जब यह कहा जाता है कि तुम तीन लोक के ईश्वर नहीं हो' तब तुम्हारी ईश्वरता का सर्वथा निषेध अभिप्रेत नहीं होता क्योंकि तुम अपने शिष्यों के ईश्वर तो हो ही। अतः त्रिलोकेश्वरता रूप विशेष मात्र का ही निषेध अभीष्ट है। इसी प्रकार पांचवें प्रकार के निषेध का तात्पर्य इतना ही है कि प्रतिषेध पांच संख्या से विशिष्ट नहीं है। प्रतिषेध का संख्या अभाव अभिप्रेत ही नहीं है।

इन्द्रभूति—मुझे आपकी ये सब बातें सर्वथा असम्बद्ध प्रतीत होती हैं। आप इस बात की ओर ध्यान नहीं देते कि मेरी त्रिलोकेश्वरता मूल में ही असत् अथवा अविद्यमान है अतः असत् का ही निषेध किया गया है। इसी प्रकार प्रतिषेध का पांचवां प्रकार भी सर्वथा असत् है, इसीलिए उसका निषेध किया गया है। इसी प्रकार संयोग समवाय सामान्य और विशेष, ये सब भी असत् ही हैं इसलिए घर आदि में उनका निषेध किया गया है। इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि जो असत् है उसका निषेध होता है अतः आपका यह कथन अयुक्त है कि जिसका निषेध होता है वह विद्यमान ही होता है।

**सर्वथा असत् का निषेध नहीं**

भगवान्—मेरे कथन को ठीक तरह समझने का प्रयत्न करोगे तो वह तुम्हें युक्तिपूर्ण जान होगा। मैंने यह नहीं कहा कि जिसका निषेध किया जाता है वह सर्वत्र सर्वथा होता है। मेरे कहने का भावार्थ इतना ही है कि जहाँ जिस वस्तु का निषेध किया जाए वह चाहे वहाँ न हो, तथापि वह अन्यत्र विद्यमान होती है। देवदत्त का संयोग घर में भले ही न हो किन्तु अन्यत्र गांव में अथवा किसी दूसरे के घर में तो देवदत्त का संयोग विद्यमान ही होता है। इसी प्रकार समवाय सामान्य और विशेष के विषय में यह निश्चित है कि एक जगह यदि उनका निषेध किया जाए तो वे अन्यत्र विद्यमान ही होते हैं।

इन्द्रभूति—आपकी बात मान कर ही यदि मैं यह कहूँ कि शरीर में जीव नहीं तो इसमें क्या दोष है? शरीर में अविद्यमान जीव का ही मैं निषेध करता हूँ आप शरीर में भी जीव मानते हैं। मुझे इस पर आपत्ति है।

**शरीर जीव का आश्रय है**

भगवान—तुमने यह कह कर मेरा परिश्रम कम कर दिया है। मेरा मत उस पर जीवन के अस्तित्व को सिद्ध करना है। यदि उसकी सिद्धि हो जाए तो स्वयं सर्वथा स्वतः सिद्ध हो ही जाएगा क्योंकि जीव निराश्रय नहीं है। तुमने शरीर में जीव का निषेध किया है इससे उसकी विद्यमानता उक्त नियम से सिद्ध हो ही जाती है। अब इस प्रश्न पर विचार करना है कि वह वस्तुतः शरीर में है या नहीं? जब शरीर में जीव की उपस्थिति के चिह्न (ज्ञानादि) दिखाई देते हों, तो शरीर में जीव क्यों न माना जाए? तुम ही इस बात को बताओ।

इन्द्रभूति—शरीर में जीव मानने के स्थान पर शरीर को ही जीव क्यों न क्या जाए?

भगवान—जब तक शरीर में चैतन्य होता है तब तक [illegible] है। शरीर में जीव का सम्बन्ध [illegible] पर [illegible] जाता है। [illegible] प्रश्न पर [illegible] जाता है कि [illegible] शरीर के [illegible] वस्तु [illegible] मान। [१५२४]

**जीव-पद सार्थक है**

अपि च 'जीव' पद घट पद के समान व्युत्पत्ति युक्त शुद्ध पद होने के कारण सार्थक होना चाहिए—अर्थात् जीव पद का कुछ अर्थ होना चाहिए। जो पद सार्थक नहीं होता, वह व्युत्पत्ति युक्त शुद्ध पद भी नहीं होता जैसे डित्थ या खर विषाण आदि पद। जीव पद ऐसा नहीं है—यह व्युत्पत्ति वाला पद है अतः उसका अर्थ होना ही चाहिए।

इन्द्रभूति—देह ही जीव पद का अर्थ है। उससे भिन्न कोई वस्तु जीव पद का अर्थ नहीं है। शास्त्र-वचन भी है[1] 'जीव शब्द का व्यवहार देह के लिए ही होता है जैसे कि यह जीव है, यह इसका घात नहीं करता।' तात्पर्य यह है कि आप जीव को तो नित्य मानते हैं अतः इसके घात का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता शरीर का ही घात होता है। अतः उक्त वचन में जीव के घात का जो निषेध बताया गया है, वह जीव शब्द का अर्थ शरीर मान कर ही है।

**जीव पद का अर्थ देह नहीं**

भगवान—'जीव' पद का अर्थ शरीर नहीं हो सकता। कारण यह है कि जीव शब्द के पर्याय शरीर शब्द के पर्यायों से भिन्न हैं। जिन शब्दों के पर्यायों में भेद हो उन शब्दों के अर्थ में भी भेद होना चाहिए। जैसे घट शब्द और आकाश शब्द के पर्याय भिन्न भिन्न हैं और उनके अर्थ भी भिन्न हैं। इसी प्रकार जीव और शरीर के भी पर्याय भिन्न भिन्न हैं, जैसे कि जीव के पर्याय हैं—जन्तु प्राणी सत्व आत्मा आदि। शरीर के पर्याय हैं—देह वपु काय कलेवर आदि। इस प्रकार पर्याय का भेद होने पर भी यदि अर्थ में अभेद हो तो संसार में वस्तु भेद ही नहीं रह सकता सभी को एक रूप ही मानना पड़ेगा। उक्त शास्त्र-वचन में शरीर को ही जीव कहा गया है वह उपचार से है क्योंकि जीव प्रायः शरीर का सहचारी है और शरीर में ही अवस्थित है। इसीलिए शरीर में जीव का उपचार कर दिया जाता है। वस्तुतः जीव और शरीर भिन्न भिन्न ही हैं। यदि ऐसा न हो तो लोगों का यह कहना कि 'जीव तो चला गया अब शरीर को जला दो,' संभव नहीं हो सकता।

फिर, देह और जीव के लक्षण भी भिन्न हैं। जीव ज्ञानादि गुण युक्त है जब कि देह जड़ है। अतः देह ही जीव कैसे हो सकता है? अतः तुम्हें दोनों को पृथक ही मानना चाहिए। मैं तुम्हें यह पहले ही समझा चुका हूँ कि ज्ञानादि गुण देह में सम्भव नहीं क्योंकि देह भूत है—इत्यादि। [१७७८-७६]

**सर्वज्ञ-वचन द्वारा जीव सिद्धि**

इस प्रकार मैंने प्रत्यक्ष और अनुमान से जीव का अस्तित्व सिद्ध किया है।

---

1 देह एवाऽभिधीयमानो दृष्टः अथवा जीवः, एनं न हिनस्ति।

फिर भी यदि तुम्हारे मन में सन्देह बाकी है। अतः अब यह अन्तिम प्रमाण देता [illegible] कि जिससे तुम्हारे सन्देह का सर्वथा निराकरण हो जाएगा —

तुम्हें मेरा यह कथन सत्य मानना चाहिए कि जीव है। कारण यह है कि मेरा वचन है। तुम्हारे संशय का प्रतिपादन करने वाला मेरा वचन तुमने सत्य [illegible] है इसी प्रकार इसे भी स्वीकार करना चाहिए। अथवा 'जीव है' यह मेरा [illegible] वचन सत्य मानना चाहिए क्योंकि यह सर्वज्ञ का वचन है। तुम्हारे इष्ट सर्वज्ञ के [illegible] वचन के समान मेरा वचन भी तुम्हें प्रमाण मानना चाहिए। [१५७७]

इन्द्रभूति — आप सर्वज्ञ हैं तो इसमें क्या प्रमाण है? क्या सर्वज्ञ [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] कारण यह है कि मुझ में भय [illegible] राग [illegible] [illegible] और मोह नहीं है [illegible] कि ज्ञाता [illegible] मानना चाहिए। [illegible]

इन्द्रभूति — [illegible] कैसे समझें कि आप सर्वज्ञ हैं?

[illegible]

[illegible] का निवारण करता हूँ। [illegible] का निवारण [illegible] [१५७९]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

आकाश एक है और विशुद्ध है, फिर भी तिमिर रोग वाला पुरुष उसे अनेक रेखाओं से चित्र विचित्र देखता है। इसी प्रकार ब्रह्म विकल्प शून्य है एक और विशुद्ध है। तदपि माना वह अविद्या से कलुषित न हो गया हो भिन्न अथवा अनेक रूपों से भासित होता है।[1]

'जिसका मूल ऊर्ध्व आकाश में है और शाखाएँ नीचे जमीन में है ऐसे अश्वत्थ वृक्ष का अव्यय शाश्वत कहा गया है। छन्द उसके पत्ते हैं। जो उसे जानता है वही वेदज्ञ (ब्रह्मज्ञ) है।[2]

उपनिषदों में भी कहा है— जो कुछ था और जो कुछ होगा वह सब पुरुष रूप ही है वह पुरुष ही अमृत का स्वामी है जो अन्न से बढ़ता है।[3] 'जो काँपता है जो नहीं काँपता, जो दूर है जो निकट है जो सब के अन्तर में है और जो सबके बाहर है—यह सब पुरुष ही है।[4]

इस प्रकार सब कुछ ब्रह्म रूप ही मान लो तो क्या हानि है?

**जीव अनेक हैं**

भगवान—हे गौतम! नारक देव मनुष्य तथा तिर्यंच इन सब पिण्डों में आकाश के समान यदि एक ही आत्मा हो तो क्या हानि है? यह तुम्हारा प्रश्न है किन्तु आकाश के समान सब पिण्डों में एक आत्मा सम्भव नहीं। कारण यह है कि आकाश का सर्वत्र एक ही लिंग अथवा लक्षण अनुभव में आता है। अतः आकाश एक ही है

---

1 यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः।
संकीर्णमिव मात्राभिर्भिन्नाभिरभिमन्यते॥
तथेदममलं ब्रह्म निर्विकल्पमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रकाशते॥बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक 3 4 43-44

2 ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ भगवद्गीता 15 1 योगशिखोपनिषद् 6 14

3 'पुरुष एवेदं ग्निं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति। मुद्रित विशेषावश्यक भाष्य की टीका में पुरुष एवेदं ग्निं सर्वं ऐसा पाठ है किन्तु वस्तु स्थिति और है। यह मन्त्र ऋग्वेद 10 90 2 सामवेद 619 यजुर्वेद 31 2 तथा अथर्ववेद 19 6 4 में है। पाठ पुरुष एवेदं सर्वं ऐसा ही है। केवल यजुर्वेदी पाठ के बीच में आने वाले अनुस्वार के स्थान में गु उच्चारण करते हैं और ऋग्वेदी अथवा अथर्ववेदी वैसा उच्चारण न करके अनुस्वार को अनुस्वार रूप में ही उच्चारण करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यजुर्वेदी के इस उच्चारण भेद को लिपि में बद्ध करते हुए काल क्रम से ग्नि विपर्यास हो गया है।

4 यदेजति यन्नैजति यद् दूरे यदु वन्तिके।
यदन्तरस्य सर्वस्य यत् सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ ईशावास्योपनिषद् मन्त्र 5

भगवान् —क्योंकि संसार की सभी वस्तुएँ सर्वमय है।

इन्द्रभूति—यह कैसे ?

**वस्तु की सर्वमयता**

भगवान—वस्तु की पर्याय दो प्रकार की है—स्वपर्याय तथा परपर्याय। इन दोनों पर्यायों की अपेक्षा से विचार किया जाए तो वस्तु सामान्य रूप से सर्वमय सिद्ध होती है किन्तु यदि केवल स्वपर्यायों की विवक्षा की जाए तो सर्ववस्तु विविक्त है, सब से व्यावृत्त है अर्थात् सर्वमय है। इस प्रकार यदि वेद के प्रत्येक पद का अर्थ विवक्षाधीन समझा जाए तो वह सामान्य विशेषात्मक ही होगा। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह अमुक प्रकार का ही है और अमुक प्रकार का है ही नहीं। कारण यह है कि वस्तु वाच्य रूप हो अथवा वाचक (शब्द) रूप हो, किन्तु स्व पर-पर्याय की दृष्टि से तो विश्व रूप ही है ? अतः सामान्य विवक्षा से 'घट' शब्द सर्वात्मक होने के कारण द्रव्य गुण क्रिया आदि समस्त अर्थों का वाचक है, किन्तु विशेषापेक्षा से वह प्रतिनियत रूप होने के कारण विशिष्ट आकार वाले मिट्टी आदि के पिण्ड का ही वाचक होता है। यही बात प्रत्येक शब्द के विषय में कही जा सकती है कि वह सामान्य विवक्षा से सभी अर्थों का वाचक हो सकता है, किन्तु विशेषापेक्षा से जिस एक अर्थ में वह रूढ होता है उसी का वाचक बनता है। [१६०२-१६०३]

इस प्रकार जब जरा मरण से मुक्त भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति का संशय दूर किया तब उसने अपने पाँचसौ शिष्यों के साथ भगवान् से दीक्षा ग्रहण कर ली। [१६०४]

आगे कर्म आदि की चर्चा के समय इस चर्चा के साथ जिस अंश में सम्बन्ध हो उसका वहाँ सम्बन्ध जोड़ कर चर्चा का मर्म समझ लेना चाहिए। उसमें जो विशेषता होगी वह मैं प्रतिपादित करूँगा। (ऐसा आचार्य जिनभद्र कहते हैं।) [१६०५]

---

# द्वितीय गणधर अग्निभूति

## कर्म के अस्तित्व की चर्चा

इन्द्रभूति की दीक्षा की बात सुन कर उसके छोटे भाई दूसरे विद्वान अग्निभूति के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैं भगवान महावीर के पास जाकर और उन्हें पराजित कर इन्द्रभूति को वापिस ले आऊँ। यह विचार कर वह क्रुद्ध होता हुआ भगवान के समीप पहुँचा। वह समझता था कि मेरा बड़ा भाई शास्त्रार्थ में तो अजेय है निश्चय पूर्वक श्रमण महावीर ने उसे छल कपट से ठगा होगा। यह श्रमण कोई इन्द्रजालिक या मायावी होना चाहिए। न जाने उसने क्या-क्या किया होगा? वहाँ जो कुछ हुआ है उसे मैं अपनी आँखों से देखूँ और इस भेद का उद्घाटन करूँ। यह भी सम्भव है कि इन्द्रभूति को उन्होंने पराजित भी किया हो। यदि वे मेरे किसी भी पक्ष का पार पा जाएँ (मेरे सन्देह का निराकरण कर दें) तो मैं भी उनका शिष्य बन जाऊँगा। ऐसा कह कर वह भगवान के पास जा पहुँचा। [१६०६-१६०८]

जन्म जरा मरण से मुक्त भगवान ने उसे नाम और गोत्र से सम्बोधित करते हुए कहा, 'अग्निभूति गौतम! आओ'। कारण यह है कि भगवान् सर्वज्ञ सर्वदर्शी थे। किन्तु अग्निभूति ने विचार किया कि मुझे संसार में कौन नहीं जानता? अतः उन्होंने मुझे मेरे नाम व गोत्र से बुलाया इसमें कोई नई बात नहीं है किन्तु यदि वे मेरे मन के संशय को जान लें अथवा दूर कर दें तो अवश्य ही आश्चर्य की बात होगी। [१६०९]

### कर्म के विषय में संशय

इस प्रकार जब वह विचार में तल्लीन था तब भगवान् ने उससे कहा—अग्निभूति! तुम्हारे मन में यह सन्देह है कि कर्म है अथवा नहीं? किन्तु तुम वेद-पदों का अर्थ नहीं जानते इसीलिए तुम्हें ऐसा सन्देह है। मैं तुम्हें उनका वास्तविक अर्थ बताऊँगा। [१६१०]

हे अग्निभूति! तुम यह समझते हो कि कर्म [illegible] किसी भी ज्ञान का विषय नहीं होता वह सब [illegible] है, [illegible] विषाण के समान अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष नहीं है [illegible] प्रकार [illegible] प्रत्यक्ष आदि सब प्रमाणों [illegible] जीव को [illegible] या [illegible] सिद्ध करते हो कि

कर्म किसी भी प्रमाण का विषय नहीं--वह सब प्रमाणातीत है। अपने इस मत की पुष्टि के लिए तुम वेद के 'पुरुष एवेदं सर्वं'[1] इत्यादि वाक्यों का आश्रय लेते हो और कहते हो कि कर्म का अस्तित्व नहीं है, किन्तु वेद में ऐसे भी वाक्य उपलब्ध होते हैं जिन से कर्म का अस्तित्व मानना पड़ता है। जैसे कि 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा पापः पापेन कर्मणा'[2] अर्थात् पुण्य कर्म से जीव पवित्र होता है और पाप कर्म से अपवित्र होता है इत्यादि। इससे तुम्हें संदेह होता है कि वस्तुतः कर्म है या नहीं।

**कर्म की सिद्धि**

आपने मेरे संदेह का कथन तो ठीक-ठीक कर दिया है, किन्तु यदि आप उसका समाधान भी कर दें तो मुझे आप की विद्वत्ता पर विश्वास हो जाएगा।

भगवान—सौम्य! तुम्हारा उक्त संशय अयुक्त है, क्योंकि मैं कर्म को प्रत्यक्ष देखता हूँ। तुम्हें चाहे वह प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु तुम अनुमान से उसकी सिद्धि कर सकते हो। कारण यह है कि सुख दुःख की अनुभूति-रूप कर्म का फल (कार्य) तो तुम्हें प्रत्यक्ष ही है। इसलिए अनुमानगम्य होने के कारण कर्म को सर्व प्रमाणातीत नहीं कहा जा सकता।

अग्निभूति—किन्तु यदि कर्म की सत्ता है तो आपके समान मुझे भी उसका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता?

भगवान—यह कोई नियम नहीं है कि जो वस्तु एक को प्रत्यक्ष हो वह सब को ही प्रत्यक्ष होनी चाहिए। सिंह, व्याघ्र आदि अनेक ऐसी वस्तुएँ हैं जिनका प्रत्यक्ष सभी मनुष्यों को नहीं होता तथापि यह कोई नहीं मानता कि संसार में सिंह आदि प्राणी नहीं हैं। अतः सर्वज्ञ रूप मेरे द्वारा प्रत्यक्ष किए गए कर्म का अस्तित्व तुम्हें स्वीकार करना ही चाहिए जैसे मैंने तुम्हारे संशय का प्रत्यक्ष कर लिया और तुमने उसका अस्तित्व मान लिया था।[3]

अपि च अतीन्द्रिय होने के कारण तुम परमाणु का प्रत्यक्ष तो नहीं करते परन्तु उसका कार्य रूप प्रत्यक्ष तो तुम मानते ही हो। कारण यह है कि तुम्हें परमाणु के अनन्तर कार्य प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार तुम्हें कर्म स्वयं चाहे प्रत्यक्ष न हो तथापि उसका फल (कार्य) सुख-दुःखादि तो प्रत्यक्ष ही है। अतः तुम्हें कर्म का कार्य रूप में प्रत्यक्ष मानना ही चाहिए। [१६११]

अग्निभूति—आपने पहले कहा था कि कर्म अनुमानगम्य है। अब आप इसे अनुमान बताइए।

1 ऋग्वेद 10.90.2 में। इसकी विस्तृत चर्चा आगे गाथा 1643 में आएगी।
2 इसकी विस्तृत चर्चा 1643 में है। यह वाक्य बृहदारण्यक उप० (4.4.5) में है।
3 किसी चर्चा के लिए 1577–79 में देखें।

**कर्मसाधक अनुमान**

भगवान—सुख-दुःख का कोई हेतु अथवा कारण होना चाहिए क्योंकि वे कार्य हैं जैसे अंकुर रूप कार्य का हेतु बीज है। सुख-दुःख रूप कार्य का जो हेतु है वही कर्म है।

**सुख दुःख मात्र दृष्टकारणाधीन नहीं**

अग्निभूति—यदि सुख-दुःख का दृष्ट कारण सिद्ध हो तो अदृष्ट-रूप कर्म को मानने की क्या आवश्यकता है? हम देखते हैं कि सुगंधित फूलों की माला चंदन आदि पदार्थ सुख के हेतु हैं और साँप का विष, काँटा आदि पदार्थ दुःख के हेतु हैं। जब इन सब दृष्ट कारणों से सुख-दुःख होता हो तब उसका अदृष्ट कारण कर्म क्यों माना जाए?

भगवान—दृष्ट कारण में व्यभिचार दृष्टिगोचर होता है अतः अदृष्ट कारण मानना पड़ता है। [१६१२]

अग्निभूति—यह कैसे?

भगवान्—सुख दुःख के दृष्ट साधन अथवा कारण समान रूप से उपस्थित होने पर भी उन के फल में (कार्य में) जो तारतम्य (विशेषता) दिखाई देता है वह निष्कारण नहीं हो सकता क्योंकि यह विशेषता घट के समान ही कार्य रूप है। अतः उस विशेषता का कोई जनक (हेतु) मानना ही चाहिए और वही कर्म है। जैसे कि सुख-दुःख के बाह्य साधन समान होने पर भी दो व्यक्तियों को उन से मिलने वाले सुख-दुःख रूप फल में तारतम्य दृष्टिगोचर होता है। अर्थात जिन साधनों से एक को सुख मिलता है उनसे दूसरे को कम या अधिक मिलता है। तुमने माला को सुख का दृष्ट कारण माना है किन्तु यदि इसी माला को कुत्ते के गले में डाली जाए तो वह उसे दुःख का कारण मान कर उससे छूटने का प्रयत्न क्यों करता है? फिर विष भी यदि सर्वथा दुःखदायी ही हो तो कितने ही रोगों में वह रोग निवारण द्वारा जीव को सुख क्यों प्रदान करे? अतः मानना पड़ेगा कि माला आदि सुख-दुःख के जो बाह्य साधन दिखाई देते हैं उनके अतिरिक्त भी उन से भिन्न और अन्तरंग कर्मरूप अदृष्ट कारण भी सुख-दुःख का हेतु है। [१६१३]

**कर्म-साधक अन्य अनुमान**

कर्म का साधक एक अन्य प्रमाण यह है—आद्य बाल शरीर देहान्तर पूर्वक है—अर्थात देहान्तर का कार्य है क्योंकि वह इन्द्रिय आदि से युक्त है जैसे कि युवा शरीर यह बाल शरीर पूर्वक है। प्रस्तुत हेतु में आदि पद से सुख दुःख प्राणवान निमेष-उन्मेष, जीवन आदि धर्म भी समझ लेने चाहिए और इन धर्मों को भी हेतु बना कर उक्त साध्य की सिद्धि कर लेनी चाहिए। आद्य बाल शरीर जिस देहपूर्वक है वह कार्मण शरीर अर्थात कर्म है।

अग्निभूति—पूर्वोक्त अनुमान से [illegible] भी सिद्ध होती है कि [illegible] शरीर [illegible] पूर्व है [illegible] कार्मण शरीर के [illegible] पूर्वभवीय [illegible] [illegible] ही वाले शरीर के पूर्व का शरीर अवश्य उसका कारण मानना चाहिए।

**कार्मण शरीर की सिद्धि**

भगवान—पूर्वभव के अभाव शरीर का या शरीर का कारण नहीं मा[illegible] जा सकता क्योंकि अन्तराल गति में उसका [illegible] अभाव ही होता है। [illegible] वाले शरीर पूर्वभवीय अभाव शरीर पूर्व सम्भव ही नहीं है। अन्तराल गति में [illegible] भवीय शरीर का सद्भाव इसलिए माना है कि मृत्यु होने के पश्चात् जीव उस[illegible] गति करता है जहाँ नवीन जन्म लेना हो। उस समय पूर्वभवीय शरीर छूट [illegible] है और नवीन शरीर का अभी ग्रहण नहीं होता। अतः अन्तराल गति में औदारिक अथवा स्थूल शरीर से तो सर्वथा रहित होता है। इससे वाले शरीर [illegible] पूर्वभवीय औदारिक शरीर का काम नहीं कर जा सकता। तब हम यह कैसे [illegible] सकते हैं कि वह पूर्व भव के शरीर पूर्व है? और यदि जीव के कोई भी शरीर न हो तो वह नियत गम देश में कैसे जा सकता है? अतः नियत देश में प्राप्ति का कारणभूत तथा नूतन शरीर की रचना का कारणभूत कोई शरीर को स्वीकार करना ही होगा। जैसे कहा जा चुका है उसके अनुसार ऐसा कारण औदारिक शरीर तो नहीं हो सकता। अतः कर्मरूप कार्मण को ही वाले देह का कारण समझना चाहिए। जीव अपने स्वभाव से ही नियत देश में पहुँच जाएगा, यह मान्यता ठीक नहीं। इस विषय का मैं आगे स्पष्ट करूँगा।

शास्त्र में भी कहा है मृत्यु के उपरान्त जीव कार्मण योग से आहार करता है।[1] अतः वाले शरीर का कार्मण शरीर पूर्व ही मानना चाहिए। [१६१८]

**चेतन की क्रिया सफल होने के कारण कर्म की सिद्धि**

कर्म साधक तीसरा अनुमान यह है—दानादि क्रिया का कुछ फल होना ही चाहिए क्योंकि वह सचेतन व्यक्ति द्वारा की गई क्रिया है जैसे कि कृषि क्रिया। सचेतन पुरुष कृषि क्रिया करता है तो उसे उसका फल धान्यादि प्राप्त होता है उसी प्रकार दानादि क्रिया का कर्ता भी सचेतन है अतः उसे उसका कुछ न कुछ फल मिलना चाहिए। जो फल प्राप्त होता है वह कर्म है।

अग्निभूति—पुरुष कृषि करता है किन्तु अनेक बार उसे धान्यादि फल की प्राप्ति नहीं भी होती अतः आपका यह हेतु व्यभिचारी है। इसीलिए यह नियम नहीं बनाया जा सकता कि सचेतन द्वारा आरम्भ की गई क्रिया का कोई फल अवश्य होना चाहिए।

---

1 "जाएण कम्मएण आहारेई अणंतरं जीवो। सूत्रकृतांग निर्युक्ति 177

भगवान्—तुम इस बात का स्वीकार करोगे कि बुद्धिमान् चेतन जो क्रिया करता है वह उसे फलवती मान कर ही करता है। फिर भी जहाँ क्रिया का फल नहीं मिलता वहाँ उसका अज्ञान अथवा सामग्री की विकलता या न्यूनता इस बात का कारण होता है। अतः सचेतन द्वारा आरम्भ की गई क्रिया को निष्फल नहीं माना जा सकता। यदि ऐसी बात हो तो सचेतन पुरुष ऐसी निष्फल क्रिया में प्रवृत्ति ही क्यों करेगा? यह तो मैं भी स्वीकार करता हूँ कि यदि दानादि क्रिया भी मन शुद्धि पूर्वक नहीं की जाती तो उसका कुछ भी फल नहीं मिलता। अतः मेरे कथन का तात्पर्य इतना ही है कि यदि सामग्री की सामस्त्य अथवा पूर्णता हो तो सचेतन द्वारा आरब्ध क्रिया निष्फल नहीं होती।

अग्निभूति—आपके कथन के अनुसार दानादि क्रिया का फल भले ही हो किन्तु जैसे कृषि आदि क्रिया का दृष्ट फल धान्यादि है वैसे दानादि क्रिया का भी सब के अनुभव से सिद्ध मन प्रसाद रूप दृष्ट फल ही मानना चाहिए परन्तु कर्मरूप अदृष्ट फल नहीं मानना चाहिए। इस प्रकार तुम्हारा हेतु अभिप्रेत अदृष्ट कर्म के स्थान पर दृष्ट फल का साधक होने से विरुद्ध हेत्वाभास है। [१६१५]

भगवान—तुम भूलते हो। मन प्रसाद भी एक क्रिया है अतः सचेतन की अन्य क्रियाओं के समान उसका भी फल होना चाहिए। वह फल कर्म है अतः मेरे इस नियम में कोई दोष नहीं कि सचेतन द्वारा आरम्भ की गई क्रिया फलवती होती है।

अग्निभूति—मन प्रसाद का फल भी कर्म है, यह बात आप कैसे कहते हैं?

भगवान—क्योंकि उस कर्म का कार्य सुख-दुःख भविष्य में पुनः हमारे अनुभव में आते हैं।

अग्निभूति—आपने पहले दानादि क्रिया को कर्म का कारण बताया और और अब मन प्रसाद को कर्म का कारण बताते हैं, अतः आपके कथन में पूर्वापर विरोध है।

भगवान—बात यह है कि कर्म का कारण तो मन प्रसाद ही है, किन्तु इस मन प्रसाद का कारण दानादि क्रिया है। अतः कर्म के कारण के कारण में कारण का उपचार करके दानादि क्रिया को कर्म का कारण रूप माना जाता है। इस तरह पूर्वापर विरोध का परिहार हो जाता है। [१६१६]

अग्निभूति—इस सारे झगड़े को छोड़ कर सरल मार्ग से विचार किया जाए तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि मनुष्य जब मन में प्रसन्न होता है तब ही वह दानादि करता है। दानादि करने पर उसे बाद में मन प्रसाद प्राप्त होता है इसलिए वह पुनः दानादि करता है। इस तरह मन प्रसाद का फल दानादि है तथा

दानादि का फल मन प्रसाद और उसका भी फल दानादि। आप मन प्रसाद अदृष्ट फल कम बताते हैं, उसके स्थान में दृष्ट फल दानादि ही मानना चाहिए।

भगवान—कार्य कारण की परम्परा के मूल में जाने पर हम जानते हैं कि मन प्रसाद रूप क्रिया का कारण दानादि क्रिया है। अतः दानादि क्रिया प्रसाद का कार्य अथवा फल नहीं हो सकती, जैसे कि मृत्पिण्ड घट का कारण वह घट का कार्य नहीं बन सकता। अर्थात् जैसे मृत्पिण्ड से तो घट उत्पन्न होता है किन्तु घट से पिण्ड उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही सुपात्र को दान देने से प्रसाद उत्पन्न होता है हम यह नहीं कह सकते कि मन प्रसाद से दान की उत्पत्ति हुई। कारण यह है कि जो जिसका कारण होता है, वह उसी का फल नहीं हो सकता। [१६१७]

अग्निभूति—आपने कृषि का दृष्टान्त दिया है और इस दृष्टान्त से सचेतन की समस्त क्रिया को फलवती सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु कृषि धान्यादि फल दृष्ट है, अतः सचेतन की समस्त क्रिया का फल कृषि के फल के समान दृष्ट ही मानना चाहिए अदृष्ट कर्म मानने की क्या आवश्यकता है? लोग यह है कि संसार में लोग पशु का वध करते हैं, वह किसी अधर्मरूप अदृष्ट के लिए नहीं किया जाता, अपितु मांस खाने को मिले, इसी उद्देश्य से पशु वध करते हैं। इसी प्रकार सभी क्रियाओं का कोई न कोई दृष्ट फल ही स्वीकार चाहिए, अदृष्ट फल को मानना अनावश्यक है। [१६१८]

[illegible] यह भी हमारे अनुभव की बात है कि प्रायः लोग कृषि [illegible] आदि जो भी क्रिया करते हैं वह सब दृष्ट फल के लिए ही करते हैं। अदृष्ट फल के लिए दानादि क्रिया करने वाला व्यक्ति शायद ही कोई हो। दृष्ट फल के प्राप्ति के लिए दानादि जैसी क्रियाओं को करने वाले बहुत लोग हैं और उनके द्वारा अदृष्ट कर्म के निमित्त दानादि करते हैं। अतः सचेतन की सभी क्रियाओं का फल दृष्ट ही मानना चाहिए। [१६१९]

क्रिया का फल दृष्ट है

भगवान—सौम्य! तुम कहते हो कि अदृष्ट फल के लिए दानादि क्रिया करने वाले लोग बहुत कम हैं और अधिकतर लोग [illegible] के लिए [illegible] क्रिया [illegible] करते हैं। [illegible] प्रसंगात् होगा कि कृषि आदि क्रियाएँ [illegible] फल [illegible] [illegible] कृषि [illegible] नहीं [illegible]

तुम्हारे मतानुसार पाप कर्म [illegible] जीव [illegible] कर्मों का [illegible] नहीं करते फिर [illegible] मृत्यु के बाद उन्हें [illegible] प्राप्त होना चाहिए। संसार में [illegible] पुण्य [illegible] रूप [illegible] जो कि अदृष्ट के निमित्त दानादि क्रियाएं करते हैं। किन्तु हम [illegible] देखते हैं और उन में भी अधर्मी [illegible] ही अधिक हैं अतः मानना होगा कि अदृष्ट क्रियाओं का फल के अतिरिक्त अदृष्ट कर्म रूप फल भी होता है।

अग्निभूति—दानादि क्रिया के कर्ता को पाप कर्म रूप अदृष्ट फल मिले, क्योंकि वह उस फल की कामना करता है किन्तु जो कृषि आदि क्रियाएं करते हैं वे तो इष्ट फल की ही अभिलाषा रखते हैं। फिर उन्हें भी अदृष्ट फल कर्म की प्राप्ति क्यों हो?

न चाहने पर भी अदृष्ट फल मिलता है

भगवान—तुम्हारी यह शंका अनुचित है। कारण यह है कि कार्य का आधार उसकी सामग्री पर होता है। मनुष्य की इच्छा हो या न हो, किन्तु जिस कार्य की सामग्री होती है, वह कार्य अवश्य उत्पन्न होता है। यात्रा करता किसान दृष्टि अज्ञानवश भी गेहूँ के स्थान पर कांटा या [illegible] और उसे हवा, पानी आदि अनुकूल सामग्री मिलती कृषक की इच्छा अनिच्छा का उपेक्षा कर कांटा उत्पन्न हो ही जाएंगे। इसी प्रकार हिंसा आदि पाप कर्म धर्म [illegible] चाहें या न चाहें, किन्तु अवश्य रूप अदृष्ट कर्म उत्पन्न होता ही है।

दानादि क्रिया करने वाले विवेकशील पुरुष यद्यपि फल की इच्छा न करें, तथापि सामग्री होने पर उन्हें धर्म रूप फल मिलता ही है। [१६२०]

अतः यह बात मान लेनी चाहिए कि शुभ अथवा अशुभ सभी क्रियाओं का शुभ अथवा अशुभ अदृष्ट फल होता ही है। अन्यथा इस संसार में अनन्त संसारी जीवों का सत्ता ही संभव नहीं। कारण यह है कि अदृष्ट कर्म के अभाव में सभी प्राणी अनायास मुक्त हो जाएंगे क्योंकि उनके दृष्टिगत न होने के कारण मृत्यु के बाद संसार का कारण कर्म रहेगा ही नहीं। किन्तु जो लोग अदृष्ट शुभ कर्म के निमित्त दानादि क्रियाएं करते होंगे, उनके लिए ही यह क्लेश-बहुल संसार रह जाएगा। यह बात इस तरह होगी—जिसने दानादि शुभ क्रिया अदृष्ट के निमित्त की होगी, उस कर्म का बंध होगा उस भोगने के लिए वह नया जन्म धारण करेगा। वहाँ पुनः कर्म के विपाक का अनुभव करते हुए वह दानादि क्रिया करेगा और नए जन्म की सामग्री तैयार करेगा। इस तरह तुम्हारे मतानुसार एसे धार्मिक लोगों के लिए ही संसार होना चाहिए, अधार्मिकों के लिए मानो मोक्ष का निर्माण हुआ है। तुम्हारी मान्यता में ऐसी असंगति उपस्थित होती है।

अग्निभूति—इसमें असंगति क्या है? धार्मिक लोगों ने अदृष्ट के लिए प्रयत्न किया, अतः उन्हें वह प्राप्त हुआ और उनके संसार में वृद्धि हुई। हिंसादि

अशुभ क्रिया करने वाला न तो मांसादि इष्ट फल की ही इच्छा की थी और न ही भी उसकी प्राप्ति हो गई तो फिर उनकी संसार वृद्धि क्या हो ?

भगवान- असंगति क्या नहीं ? यदि हिंसादि क्रियाएँ करने वाले सभी मोक्ष ही जाते रहे तो फिर इस संसार में हिंसादि क्रिया करने वाला कोई भी न रहे और हिंसादि क्रिया का फल भोगने वाला भी कोई न रहे। केवल दानादि शुभ क्रियाएँ करने वाले और इनका फल भोगने वाले ही संसार में रह जाएँगे। किन्तु संसार में यह बात दिखाई नहीं देती। उसमें उक्त दोनों प्रकार के जीव दृष्टिगोचर होते हैं। [१६२१]

अनिष्ट रूप अदृष्ट या फल की प्राप्ति के लिए इच्छा पूर्वक कोई भी जीव कोई क्रिया नहीं करता फिर भी इस संसार में अनिष्ट फल भोगने वाले अनेक जीव दृष्टिगोचर होते हैं। अतः हमें मानना पड़ेगा कि प्रत्येक क्रिया का अदृष्ट फल होना ही है। अर्थात् क्रिया शुभ हो अथवा अशुभ, उसका अदृष्ट रूप फल कर्म अवश्य होता है। इससे विपरीत इष्ट फल की इच्छा करने पर इष्ट फल की प्राप्ति अवश्य ही हो, ऐसा एकान्त नियम नहीं है। ऐसी स्थिति का कारण भी पूर्वबद्ध अदृष्ट कर्म ही होता है। सारांश यह है कि इष्ट फल धान्य आदि के लिए कृषि आदि कर्म करने पर भी पूर्व-कर्म के कारण धान्य आदि इष्ट फल शायद न भी मिले किन्तु अदृष्ट कर्म रूप फल तो अवश्य मिलेगा ही। कारण यह है कि चेतन द्वारा आरम्भ की गई कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती [१६२२-२३]

अथवा यह समस्त चर्चा अनावश्यक है। कारण यह है कि तुल्य साधनों की उपस्थिति में भी फल की विशेषता अथवा तरतमता के कारण कर्म की सिद्धि पहले ही की जा चुकी है।[1] यहाँ यह बात स्पष्ट करदी गई है कि फल विशेष कार्य है अतः इसका कारण अदृष्ट कर्म होना चाहिए जैसे घट का कारण परमाणु है। ऐसा कर्म की सिद्धि प्रस्तुत अनुमान में भी की गई है कि सफल क्रिया का कोई ऐसा अदृष्ट कर्म रूप फल होना चाहिए जो उस क्रिया से भिन्न हो, क्योंकि कार्य कारण में भेद होता है। यहाँ क्रिया कारण है और कर्म कार्य है, अतः ये दोनों भिन्न भिन्न होने चाहिए। [१६२४]

अग्निभूति—यदि कार्य के अस्तित्व से कारण की सिद्धि होती हो तो शरीर आदि कार्य के मूर्त होने के कारण उसका कारण भी मूर्त ही होना चाहिए।

**अदृष्ट होने पर भी कर्म मूर्त है**

भगवान—मैंने यह कब कहा कि कर्म अमूर्त है। मैं कर्म को मूर्त ही मानता हूँ क्योंकि उसका कार्य मूर्त है। जैसे परमाणु का कार्य घट मूर्त होने से परमाणु

1 गा 1663

भी मूर्त है, वैसे कर्म भी मूर्त ही है। जो कार्य अमूर्त होता है उसका कारण भी अमूर्त होता है जैसे ज्ञान का समवायि कारण (उपादान कारण) आत्मा।

अग्निभूति—सुख-दुःख भी कर्म का कार्य है अतः कर्म को अमूर्त भी मानना चाहिए, क्योंकि सुख-दुःख भी अमूर्त है। ऐसी बात स्वीकार करने से कर्म मूर्त और अमूर्त सिद्ध होगा। यह सम्भव नहीं क्योंकि इसमें विरोध है। जो अमूर्त है वह मूर्त नहीं होता और जो मूर्त है वह अमूर्त नहीं होता।

भगवान—जब मैं इस नियम का प्रतिपादन करता हूँ कि मूर्त कार्य का मूर्त कारण तथा अमूर्त कार्य का अमूर्त कारण होना चाहिए तब उस कारण का तात्पर्य समवायि अथवा उपादान कारण है अन्य नहीं। सुख-दुःख आदि कार्य का समवायि कारण आत्मा है और वह अमूर्त ही है। कर्म तो सुख-दुःखादि का अन्न आदि के समान निमित्त कारण है। अतः नियम निर्बाध है। [१६२५]

अग्निभूति—कर्म को मूर्त मानने में यदि कुछ अन्य हेतु भी है, तो बताएँ।

भगवान—(१) कर्म मूर्त है क्योंकि उसके सम्बन्ध होने से सुख आदि का अनुभव होता है जैसे कि खाद्य आदि भोजन। जो अमूर्त हो उसमें सम्बन्ध होने पर सुख आदि का अनुभव नहीं होता, जैसे कि आकाश। कर्म का सम्बन्ध होने पर आत्मा सुख आदि का अनुभव करता है अतः कर्म मूर्त है।

(२) कर्म मूर्त है, क्योंकि उसके सम्बन्ध से वेदना का अनुभव होता है। जिससे सम्बद्ध होने पर वेदना का अनुभव हो वह मूर्त होता है जैसे कि अग्नि। कर्म का सम्बन्ध होने पर वेदना का अनुभव होता है अतः वह मूर्त होना चाहिए।

(३) कर्म मूर्त है क्योंकि आत्मा और उसके ज्ञानादि धर्मों से भिन्न बाह्य पदार्थ से उसमें बलाधान होता है—अर्थात् स्निग्धता आती है। जैसे घड़े आदि पर तेल आदि बाह्य वस्तु का विलेपन करने से बलाधान होता है, वैसे ही कर्म में भी माला, चंदन वनिता आदि बाह्य वस्तु के संसर्ग से बलाधान होता है अतः वह घट के समान मूर्त है।

(४) कर्म मूर्त है, क्योंकि वह आत्मा आदि से भिन्न होने पर परिणामी है जैसे की दूध। जैसे आत्मादि से भिन्न रूप दूध परिणामी होने के कारण मूर्त है वैसे ही कर्म मूर्त है। [१६२६-२७]

अग्निभूति—कर्म का परिणामी होना सिद्ध नहीं अतः इस हेतु से कर्म मूर्त सिद्ध नहीं हो सकता।

**कर्म परिणामी है**

भगवान—कर्म परिणामी है क्योंकि उसका कार्य शरीर आदि परिणामी

है। जिसका काय परिणामी हो [illegible] भी परिणामी होता है। जैसे दूध का काय दही का परिणामी होने के कारण [illegible] परिणाम होने के कारण उसका कारण रूप दूध भी परिणामी है। उसी प्रकार कर्म के काय शरीर के परिणामी (विकारी) होने के कारण [illegible] भी परिणामी है। अतः कर्म के परिणामी होने का हेतु असिद्ध नहीं। [१६२७]

अग्निभूति—आपने सुख-दुःख के [illegible] की सिद्धि की और समान साधना के अस्तित्व में जिस फल विचित्रता का अनुभव होता है वह कर्म के बिना सम्भव नहीं यह भी बताया। किन्तु [illegible] में विविध प्रकार के विकार होते हैं और उनका कारण कर्म की विचित्रता नहीं। इसी प्रकार संसारी जीव के सुख दुःख की तरतमता रूप विचित्रता भी कर्म की विचित्रता के बिना ही मानने में क्या दोष है? [१६२९]

**कर्म विचित्र है**

भगवान—सौम्य! यदि तुम बाह्य [illegible] को विचित्र मानते हो तो आन्तरिक कर्म में कौनसी ऐसी विशेषता है जिसके कारण दोनों के पुद्गलरूप में समान होने पर भी बादल आदि बाह्य [illegible] की विचित्रता को तो तुम सिद्ध मानो और कर्म की विचित्रता को सिद्ध न मानो। वस्तुतः जीव के साथ सम्बद्ध कर्म पुद्गलों को तो तुम्हें विचित्र मानना ही चाहिए। कारण यह है कि अन्य बाह्य पुद्गलों की अपेक्षा आन्तरिक कर्म पुद्गलों में यह विशेषता है कि वे जीव द्वारा गृहीत हुए हैं, इसी कारण वे जीवगत विचित्र सुख-दुःख के कारण भी बनते हैं। [१६३०]

पुनश्च जिन पुद्गलों को जीव ने गृहीत नहीं किया उन्हें भी यदि तुम विचित्र मानते हो तो जीव द्वारा गृहीत कर्म-पुद्गलों को तो तुम्हें विशेषरूपेण विचित्र मानना ही चाहिए। जिस प्रकार बिना किसी के प्रयत्न के स्वाभाविक रूपेण बादल आदि पुद्गलों में इन्द्रधनुष आदि रूप जो विचित्रता होती है उसकी अपेक्षा किसी कारीगर द्वारा बनाए गए पुद्गलों में एक विशिष्ट प्रकार की विचित्रता होती है उसी प्रकार जीव द्वारा गृहीत कर्म पुद्गलों में नाना प्रकार के सुख-दुःख उत्पन्न करने की विशिष्ट प्रकार की परिणाम विचित्रता क्यों नहीं होगी? [१६३१]

अग्निभूति—यदि इस प्रकार आप बादलों के विकार के समान कर्म-पुद्गलों में भी विचित्रता स्वीकार करते हैं तो मेरा अब यह प्रश्न है कि बादलों की विचित्रता के समान अपने शरीर में ही स्वाभाविक रूपेण नाना प्रकार के सुख दुःख उत्पन्न करने वाली विचित्रता क्यों न मानी जाए? और यदि बादलों के समान

---

1 गा० 1612–13

शरीर में भी स्वभावतः उक्त विचित्रता का अस्तित्व हो तो फिर शरीर की विचित्रता के कारण रूप कर्म की कल्पना की क्या आवश्यकता है ?

भगवान्—तुम यह भूल जाते हो कि मैं तुम्हें यह बात समझा ही चुका हूँ कि कर्म भी एक शरीर है। अतः वासना की विचित्रता के समान यदि शरीर भी विचित्र हो तो तुम्हें शरीर रूप कर्म को भी विचित्र मानना चाहिए। दोनों में भेद यह है कि बाह्य औदारिक शरीर की अपेक्षा कार्मण शरीर सूक्ष्मतर है और आभ्यन्तर है। फिर भी वासना के समान यदि तुम बाह्य शरीर का वैचित्र्य स्वीकार करते हो तो आभ्यन्तर कार्मण शरीर को भी तुम्हें विचित्र मानना चाहिए। [१६३२]

अग्निभूति—बाह्य स्थूल शरीर दिखाई देता है अतः उसका वैचित्र्य स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु कार्मण शरीर सूक्ष्म भी है और आभ्यन्तर भी, अतः वह दिखाई नहीं देता इसलिए उसका अस्तित्व ही असिद्ध है तो उसकी विचित्रता की बात ही कहाँ से होगी ? इसलिए स्थूल शरीर से भिन्न कार्मण शरीर को यदि न माना जाए तो इसमें क्या हानि है ?

**कार्मण देह स्थूल शरीर से भिन्न है**

भगवान्—मृत्यु के समय आत्मा स्थूल शरीर को सर्वथा छोड़ देती है। तुम्हारे मतानुसार स्थूल शरीर से भिन्न कोई कार्मण शरीर नहीं है अतः आत्मा में नवीन शरीर ग्रहण करने का कोई कारण विद्यमान नहीं है। ऐसी परिस्थिति में संसार का अभाव होगा और सभी जीव अनायास ही मुक्त हो जाएंगे। कार्मण शरीर का पृथक् अस्तित्व स्वीकार न करने में यह आपत्ति है।

यदि तुम यह कहो कि शरीर रहित जीव भी संसार में भ्रमण कर सकता है तो फिर तुम्हें संसार निष्कारण मानना पड़ेगा। अर्थात् यह बात स्वीकार करनी होगी कि संसार का कोई भी कारण नहीं। फलतः मुक्त जीवों को भी पुनः भव-भ्रमण स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में जीव मोक्ष के लिए प्रयत्न ही क्या करेंगे ? मोक्ष पर उनका विश्वास ही नहीं होगा। कार्मण शरीर को पृथक् न मानने में ये सब दोष हैं। उनके निवारणार्थ उसे स्थूल शरीर से भिन्न मानना चाहिए। [१६३३-३४]

अग्निभूति—किन्तु मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से सम्बन्ध कैसे होगा ?

**मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से सम्बन्ध**

भगवान—हे सौम्य ! घट मूर्त है फिर भी उसका संयोग सम्बन्ध अमूर्त आकाश से होता है इसी प्रकार मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से संयोग होता है। अथवा

अँगुली तक मूत द्रव्य है, फिर भी आकुंचनादि अमूत क्रिया से उसका समवाय सम्बन्ध है, इसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध सिद्ध होता है। [१६३५]

किंवा जीव और कर्म का सम्बन्ध अन्य प्रकार से भी सिद्ध हो सकता है। स्थूल शरीर मूर्त है, परन्तु उसका आत्मा से सम्बन्ध प्रत्यक्ष ही है, अतः भवान्तर में गमन करते हुए जीव का कार्मण शरीर से सम्बन्ध भी सिद्ध ही स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा नए स्थूल शरीर का ग्रहण सम्भव नहीं। अन्य भी ऐसे पूर्वोक्त दोष उपस्थित होंगे।

अग्निभूति—नए शरीर का ग्रहण कार्मण शरीर से नहीं, अपितु धर्म और अधर्म से होता है। अतः मूर्त कार्मण शरीर का अमूर्त आत्मा से सम्बन्ध मानने की आवश्यकता ही नहीं है।

भगवान—इस विषय में यह पूछना है कि वे धर्म और अधर्म मूर्त हैं या अमूर्त ?

अग्निभूति—धर्म व अधर्म अमूर्त हैं।

भगवान—तो फिर धर्म व अधर्म का भी अमूर्त आत्मा से कैसे सम्बन्ध होगा ? क्योंकि तुम कहते हो कि मूर्त का अमूर्त से सम्बन्ध नहीं होता। यदि वे मूर्त हों तो वे कर्म ही हैं

अग्निभूति—ऐसी दशा में धर्म व अधर्म को अमूर्त मानना चाहिए। धर्म व अधर्म कर्म ही हैं

भगवान—तो भी धर्म व अधर्म का मूर्त स्थूल शरीर से कैसे सम्बन्ध होगा ? तुम तो यह कहते हो कि मूर्त अमूर्त का सम्बन्ध होता ही नहीं। पुनश्च यदि धर्माधर्म का शरीर से सम्बन्ध ही न हो तो उसके आधार पर बाह्य शरीर में चेष्टादि भी कैसे सम्पन्न होगी ? अतः यदि तुम अमूर्त धर्माधर्म का सम्बन्ध मूर्त शरीर से मानते हो तो अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्म से भी सम्बन्ध मान लेना चाहिए। [१६३६]

अग्निभूति—एक के अमूर्त और दूसरे के मूर्त होने पर भी जीव तथा कर्म का सम्बन्ध आकाश तथा अग्नि के समान सम्भव है यह बात तो मेरी समझ में आ गई है किन्तु जिस प्रकार आकाश और अग्नि का सम्बन्ध होने पर भी आकाश में अग्नि द्वारा किसी प्रकार का अनुग्रह या उपघात नहीं हो सकता उसी प्रकार अमूर्त आत्मा में मूर्त कर्म द्वारा उपकार अथवा उपघात सम्भव नहीं, बल्कि उन दोनों का सम्बन्ध हो गया है।

### मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा पर प्रभाव है

भगवान्—यह कोई नियम नहीं कि मूर्त वस्तु अमूर्त वस्तु पर उपकार अथवा उपघात (ह्रास) कर ही न सके। कारण यह है कि हम देखते हैं कि विज्ञानादि अमूर्त है परन्तु मदिरा, विष आदि मूर्त वस्तु द्वारा उन का उपघात होता है तथा घी-दूध आदि पौष्टिक भोजन से उनका उपकार होता है, इसी प्रकार मूर्त कर्म अमूर्त आत्मा पर उपकार अथवा उपघात कर सकते हैं। मैंने यह सब चर्चा इस बात को सिद्ध करने के लिए की है कि अमूर्त आत्मा से मूर्त कर्म का सम्बन्ध और तत्कृत उपकार-उपघात भी सम्भव है। [१६३७]

### संसारी आत्मा मूर्त भी है

किन्तु संसारी जीव वस्तुतः एकान्त रूप से अमूर्त नहीं वह मूर्त भी है। जैसे अग्नि और लोहे का सम्बन्ध होने पर लोहा अग्नि रूप हो जाता है वैसे ही संसारी जीव तथा कर्म का सम्बन्ध अनादि कालीन होने के कारण जीव भी कर्म के परिणाम रूप हो जाता है अतः वह उस रूप में मूर्त भी है। इस प्रकार मूर्त कर्म से कथंचित अभिन्न होने के कारण जीव भी कथंचित् मूर्त ही है। अतः मूर्त आत्मा पर मूर्त कर्म द्वारा होने वाले उपकार अथवा उपघात को स्वीकार करने में कोई दोष नहीं है।

तुमने जो यह बात कही है कि आकाश पर मूर्त द्वारा उपकार या उपघात नहीं होता वह ठीक नहीं है। कारण यह है कि आकाश अचेतन है और अमूर्त है अतः उस पर मूर्त द्वारा उपकार उपघात नहीं होता। किन्तु संसारी आत्मा चेतन है तथा मूर्तामूर्त है अतः उस पर मूर्त द्वारा उपकार उपघात मानने में कोई हानि नहीं। [१६३८]

अग्निभूति—आपने कहा है कि जीव से कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से है यह कैसे ?

### जीव-कर्म का अनादि सम्बन्ध

भगवान—गौतम ! देह और कर्म में परस्पर कार्य-कारण भाव है अतः कर्म सन्तति अनादि है। जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बीज की बीजांकुर-सन्तति अनादि है वैसे ही देह से कर्म और कर्म से देह के विषय में समझना चाहिए। इस प्रकार देह और कर्म की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है अतः कर्म सन्तति अनादि माननी चाहिए। जिनका परस्पर कार्य-कारण भाव होता है उनकी संतति अनादि होती है। [१६३९]

अग्निभूति—मैं यह मानता हूँ कि आप की युक्तियों से कर्म का अस्तित्व

सिद्ध होता है किन्तु वेद में कर्म का निषेध है। यानी वेदों को मान्य करने पर मेरा मन पुनः शंकायमान हो जाता है कि परलोक कर्म है या नहीं?

**वेद-वाक्यों की संगति**

भगवान—यदि वेद में कर्म का अभाव ही प्रतिपाद्य हो तो वेद की यह विधि कि स्वर्ग में जाने के इच्छुक व्यक्ति को अग्निहोत्र करना चाहिए निरर्थक सिद्ध होती है। अग्निहोत्र का अनुष्ठान करने से आत्मा में एक अपूर्व (कर्म) उत्पन्न होता है जिसके आधार पर जीव मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में जाता है। यदि यह कर्म उत्पन्न न हो तो फिर जीव स्वर्ग में कैसे जाएगा? मृत्यु के बाद शरीर तो छूट ही जाता है अतः नियामक कारण के अभाव में स्वर्ग गमन कैसे सम्भव होगा? इसलिए यह बात नहीं मानी जा सकती कि वेद में कर्म का निषेध प्रतिपाद्य है।

पुनश्च, संसार में यह सुना जाता है कि दानादि का फल स्वर्ग प्राप्ति है। यदि कर्म न हो तो इसकी भी सम्भावना नहीं रहती। अतः कर्म का सद्भाव स्वीकार करना चाहिए। [१६४०]

अग्निभूति—यदि ईश्वरादि को जगत वैचित्र्य का कर्ता मान लिया जाए तो कर्म मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

**ईश्वरादि कारण नहीं**

भगवान—यदि तुम कर्म को न मान कर मात्र शुद्ध जीव को ही दृष्टि वैचित्र्य का कर्ता स्वीकार करो अथवा ईश्वर से इस समस्त वैचित्र्य की रचना मानो किंवा अव्यक्त प्रधान, काल, नियति, यदृच्छा (अकस्मात्) आदि से इस वैचित्र्य की संसार में उत्पत्ति मानो तो तुम्हारी ये सब मान्यताएँ असंगत हो जाएँगी। [१६४१]

अग्निभूति—इन की असंगति का क्या कारण है?

भगवान—यदि शुद्ध जीव अथवा ईश्वरादि कर्म (साधन) की अपेक्षा नहीं है तो वह शरीरादि का आरम्भ ही नहीं कर सकता क्योंकि आवश्यक उपकरणों या साधनों का अभाव है जैसे कि कुम्भकार दण्डादि उपकरणों के अभाव में घटादि की उत्पत्ति नहीं कर सकता। शरीरादि के आरम्भ में कर्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपकरण की सम्भावना सिद्ध नहीं होती। कारण यह है कि यदि गर्भस्थ जीव कर्म रहित हो तो वह शुक्र शोणित को भी ग्रहण नहीं कर सकता और उसके ग्रहण के बिना देह निर्माण संभव नहीं। अतः यह बात माननी पड़ती है कि जीव कर्म रूप उपकरण द्वारा ही देह का निर्माण करता है।

दूसरा अनुमान यह हो सकता है—निष्कर्म जीव शरीरादि का आरम्भ नहीं कर सकता क्योंकि वह निश्चेष्ट है। जो आकाश के समान निश्चेष्ट होता है वह

शरीर आदि का आरम्भ करने में असमर्थ है। कर्म रहित जीव भी चेष्टा से हीन है अतः वह शरीर का आरम्भ नहीं कर सकता। इसी प्रकार अमूर्त्तत्व रूप हेतु से इसी साध्य की सिद्धि की जा सकती है कि निरीह जीव शरीर का आरम्भ करने में समर्थ नहीं है। इसी साध्य की सिद्धि के लिए निष्क्रियता सर्वगतता अशरीरिता आदि हेतु भी दिए जा सकते हैं। अर्थात् कर्म मान बिना छुटकारा नहीं है।

अग्निभूति—हम यह मानना चाहिए कि शरीर वाला ईश्वर देहादि सभी कार्यों का कर्ता है कर्म की सत्ता आवश्यक नहीं है।

भगवान—तुमने साशरीर ईश्वर का प्रतिपादन किया है किन्तु इसी विषय में मेरा प्रश्न है कि वह ईश्वर अपने शरीर की रचना सकर्म होकर करता है अथवा कर्म रहित होकर? कर्म रहित होकर ईश्वर अपने शरीर की रचना नहीं कर सकता क्योंकि जीव के समान उसके पास भी उपकरणों का अभाव है। इसी प्रकार की अन्य उपयुक्त युक्तियाँ दी जा सकती हैं जिनसे यह बात सिद्ध होगी कि सकर्म ईश्वर की शरीर रचना अशक्य है। यदि तुम यह कहो कि किसी दूसरे ईश्वर ने उसके शरीर की रचना की है तो फिर यह प्रश्न उपस्थित होगा कि वह अन्य ईश्वर सशरीर है अथवा शरीर रहित? यदि वह अशरीर है तो उपकरण रहित होने के कारण शरीर रचना नहीं कर सकता। इस विषय में पूर्व उपयुक्त सभी दोष बाधक हैं। और यदि ईश्वर के शरीर की रचना करने वाले किसी अन्य ईश्वर को तुम सशरीर मानते हो तो वह यदि अकर्म है अपने शरीर का ही रचना नहीं कर सकेगा तब दूसरे की शरीर रचना का प्रश्न तो उत्पन्न ही नहीं होगा। उसके शरीर की रचना के लिए यदि तीसरा ईश्वर माना जाए तो उसके सम्बन्ध में भी पूर्वोक्त प्रश्न-परम्परा उत्पन्न होगी। इस प्रकार अनवस्था होगी। अतः ईश्वर को कर्म रहित मानने से उसके द्वारा देहादि की विचित्रता सम्भव नहीं है। यदि ईश्वर को कर्म सहित माना जाए तो फिर यही मानना युक्ति संगत होगा कि जीव ही सकर्म होने के कारण देहादि की रचना करता है।

अपि च यदि ईश्वर बिना किसी प्रयोजन के ही जीव के शरीर आदि की रचना करता है तो वह उन्मत्त के समान समझा जाएगा और यदि उसका कोई प्रयोजन है तो वह ईश्वर क्या कहलाएगा? वह तो अनीश्वर हो जाएगा। ईश्वर को अनादि शुद्ध मानने पर भी शरीर आदि की रचना सम्भव नहीं है। कारण यह है कि ईश्वर राग रहित है। राग के बिना इच्छा नहीं होती और इच्छा के अभाव में रचना शक्य नहीं। अतः देहादि की विचित्रता का कारण ईश्वर नहीं अपितु सकर्म जीव है। इससे कर्म की सिद्धि हो जाती है। [१५८२]

अग्निभूति—विज्ञानघन एव एतेभ्यः[1] इत्यादि वेद-वाक्यों से ज्ञात होता है

---

1 गाथा 1553 1588 1592-94, 1597 देखें।

सिद्ध होता है, कि तु वेद म कम का निषेध
मेरा मन पुन दोलायमान हो जाता है कि व

**वेद-वाक्यो की सगति**

भगवान—यदि वेद म कम का अभा
विधि कि स्वर्ग म जाने के इच्छुक व्यक्ति का
सिद्ध होती है। अग्निहोत्र का अनुष्ठान कर
होता है जिसके आधार पर जीव मृत्यु के पश्
उत्पन्न न हो तो फिर जीव स्वर्ग मे कैसे जाए
जाता है अत नियामक कारण के अभाव म
यह बात नही मानी जा सकती कि वेद म कम

पुनश्च, ससार म यह मा यता है कि
यदि कम न हो तो इसकी भी सम्भावना न
स्वीकार करना चाहिए।[१६४०]

अग्निभूति—यदि ईश्वरादि का ज
तो कम मानने की आवश्यकता नही रहती।

**ईश्वरादि कारण नहीं**

भगवान—यदि तुम कम का न मान
वैचित्र्य का कर्ता स्वीकार करो अथवा ईश्व
माना किंवा अव्यक्त प्रधान, काल नियति
वैचित्र्य की ससार म उत्पत्ति माना तो तुम
[१६४१]

अग्निभूति—[illegible]

भगवान—यदि शुद्ध जीव अथवा ई
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

अग्निभूति—विज्ञानघन एव एतेभ्यः[1] इत्यादि वेद-वाक्यों से ज्ञात होता है

---

1 गाथा 1553, 1588, 1592–94, 1597 देखें।

कि इस शरीर आदि के वैचित्र्य की उत्पत्ति स्वाभाविक है—स्वभाव से ही होता है, उसके कारण के रूप में कर्म जैसी किसी वस्तु को मानने की आवश्यकता नहीं है।

**स्वभाववाद का निराकरण**

भगवान—स्वभाव से ही सब की उत्पत्ति स्वीकार करने में कई दोष हैं। इसके अतिरिक्त वेद वाक्यों का तुम जो अर्थ समझते हो, वह ठीक भी नहीं है अतः स्वभाव से जगद् वैचित्र्य मानना अयुक्त है।

अग्निभूति—स्वभाव से उत्पत्ति कैसे सम्भव नहीं है? किसी ऋषि ने भी कहा है—

भावों(वस्तुओं)की उत्पत्ति में किसी भी हेतु की अपेक्षा नहीं है यह बात स्वभाववादी कह गए हैं। वे वस्तु की उत्पत्ति में 'स्व' का भी कारण नहीं मानते।

वे कहते हैं कि कमल कोमल है, काँटा कठोर है मयूरपिच्छ विचित्ररंगा है और चन्द्रिका धवल है यह विश्व वैचित्र्य कौन करता है? यह सब कुछ स्वभाव से ही होता है। अतः यह बात माननी चाहिए कि जगत में जो कुछ कादाचित्क है (कभी होता है कभी नहीं) उसका कोई हेतु नहीं है। जैसे उपर्युक्त कथनानुसार कोमलता का कोई हेतु नहीं वैसे ही जीव के सुख-दुःख का भी कोई हेतु नहीं है क्योंकि वे कभी-कभी होते हैं।[1]

इस कथन से भी ज्ञात होता है कि विश्व की विचित्रता कर्म से नहीं अपितु स्वभाव से ही होती है।

भगवान—तुम्हारी यह मान्यता दूषित है। तुम जिसे स्वभाव कहते हो मैं तुमसे पूछता हूँ कि वह क्या है? क्या वह वस्तु विशेष है? तुम अकारणता को स्वभाव कहते हो अथवा वस्तु धर्म को?

अग्निभूति—स्वभाव को वस्तु विशेष मानें तो इसमें क्या दोष है?

भगवान—वस्तु विशेष रूप स्वभाव का साधक कोई प्रमाण नहीं है। [illegible] स्वभाव को भी स्वीकार नहीं करना चाहिए। यदि सब

---

1. [illegible]

ग्राहक प्रमाण के अभाव में भी स्वभाव का अस्तित्व मानते हो तो उसी न्याय से तुम्हें कर्म का भी अस्तित्व मानना चाहिए।

पुनश्च तुम स्वभाव को मूर्त मानोगे अथवा अमूर्त ? यदि तुम उसे मूर्त मानते हो तो वह कर्म का ही दूसरा नाम होगा। यदि उसे अमूर्त मानोगे तो वह रस्सी का भी कर्ता नहीं बन सकता। कारण यह है कि वह आकाश के समान अमूर्त और उपकरण रहित भी है।

फिर शरीर आदि मूर्त-पदार्थों का कारण भी मूर्त होना चाहिए। इसलिए यदि स्वभाव को अमूर्त माना जाए तो वह मूर्त शरीरादि का अनुरूप कारण नहीं बन सकता, अतः उसे अमूर्त वस्तु विशेष रूप भी नहीं माना जा सकता।

अग्निभूति—ऐसी दशा में उसे वस्तु विशेष न मान कर यह मान लेना चाहिए कि अकारणता ही स्वभाव है।

भगवान—स्वभाव का अर्थ अकारणता किया जाए तो यह तात्पर्य फलित होगा कि शरीर आदि बाह्य पदार्थों का कोई कारण नहीं है किन्तु यदि शरीर आदि का कोई भी कारण न हो तो वे शरीर आदि सभी पदार्थ सर्वत्र सर्वदा एक साथ ही क्यों नहीं उत्पन्न नहीं होते ? तुम्हें इसका स्पष्टीकरण करना होगा। यदि उनका कोई कारण न हो तो उन सब पदार्थों में कारणाभाव समान रूप से होगा। अतः सभी पदार्थ सर्वत्र सर्वदा एक साथ उत्पन्न हो जाने चाहिए किन्तु यह अतिप्रसंग होगा। फिर, यदि शरीर आदि को अहेतुक माना जाए तो उसे आकस्मिक भी मानना पड़ेगा। किन्तु ऐसी मान्यता अयुक्त है। कारण यह है कि जो अहेतुक (आकस्मिक) होता है वह बादल के विकार के समान सादि और नियत आकार वाला नहीं होता। शरीरादि तो सादि और नियत आकार वाले पदार्थ हैं अतः उन्हें आकस्मिक (अहेतुक) नहीं मान सकते उन्हें तो कर्म-हेतुक मानना पड़ेगा। शरीर आदि पदार्थ सादि और नियत आकार वाले होने के कारण उनका कोई न कोई उपकरण सहित कर्ता भी मानना चाहिए। गर्भावस्था में जीव के पास कर्म के अतिरिक्त शरीर रचना के लिए उपयोगी अन्य कोई उपकरण सम्भव नहीं है अतः जगत की विचित्रता स्वभाव जन्य न मान कर कर्म-जन्य ही माननी चाहिए।

अग्निभूति—फिर तो यही उचित प्रतीत होता है कि स्वभाव का अर्थ वस्तु धर्म किया जाए।

भगवान्—यदि स्वभाव को आत्मा का धर्म माना जाए तो उस से आकाश के समान शरीर आदि की उत्पत्ति सम्भव नहीं क्योंकि वह अमूर्त धर्म है। अमूर्त से मूर्त शरीर की उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती। यदि स्वभाव को मूर्त वस्तु का धर्म माना जाए तो ठीक ही है। कारण यह है कि हम भी उसे पुद्गल का पर्याय-विशेष ही मानते हैं। हम जिस वस्तु को सिद्ध कर रहे थे एक प्रकार से तुमने भी

किया जाए तो वह नित्य है। अतः इस प्रकार के वाक्य नित्य प्रयत्न के द्योतक हैं।

द्वादश मासा संवत्सर[1] 'अग्निहिमम्[2] 'अग्निहिमस्य भेषजम्[3] इत्यादि वाक्य प्रसिद्ध अर्थ के ही बाधक होने के कारण अनुवाद प्रधान हैं। इस प्रकार सभी वेद-वाक्यों का एक ही तात्पर्य नहीं माना जा सकता। अतः उक्त पुरुष एवं इत्यादि वाक्य का तात्पर्य स्तुति-परक ही मानना चाहिए।

विज्ञान घनेत्यादि का भी वास्तविक तात्पर्य यह है कि विज्ञानघन अर्थात् पुरुष (आत्मा) भूतों से भिन्न है। पुरुष कर्ता है और शरीरादि उसका कार्य है यह मैं बता चुका हूँ। कर्ता व कार्य में भिन्न करण का अनुमान सरलता से किया जा सकता है। जहाँ कर्तृ-कार्य भाव हो वहाँ करण भी होना चाहिए। लुहार व लोह के पात्र में कर्तृ-कार्य भाव है और संडासी करण है। आत्मा व शरीर-कार्य में भी करण होना चाहिये वही कर्म है।

कर्म साक्षात् प्रतिपादक वाक्य वेद में हैं यह तुम भी मानते हो, जैसे कि 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा, पापः पापेन कर्मणा'[5] अतः कर्म का प्रमाण सिद्ध ही मानना चाहिए। [१६४३]

इस प्रकार जरा मरण से रहित भगवान् ने जब उसके संशय का निराकरण किया, तब अग्निभूति ने अपने ५०० शिष्यों सहित श्रमण दीक्षा ले ली। [१६४४]।

---

2 बारह महीने का वर्ष कहलाता है, यह उक्त वाक्य का अर्थ है। यह तैत्तिरीय ब्राह्मण 1 1 4 का है।

3 अर्थात् अग्नि गरम है, वही 1 1 4

4 अर्थात् शीत की औषधि अग्नि है वही 1 1 4

5 गाथा 1611 की व्याख्या देखें।

# तृतीय गणधर वायुभूति

## जीव-शरीर-चर्चा

इन्द्रभूति तथा अग्निभूति इन दोनों के दीक्षित होने का समाचार सुन कर तीसरे वायुभूति उपाध्याय ने मन में यह विचार किया कि, मैं जाऊं वंदन करूं और वंदना करके पर्युपासना करूं। ऐसा विचार कर उसने भगवान की ओर जाने के लिए प्रस्थान किया। [१६४५]

उसने यह भी सोचा कि इन्द्रभूति व अग्निभूति जिनके अभी अभी शिष्य हुए हैं, ऐसे तीन लोक से वंदित महाभाग्यशाली भगवान के पास अवश्य जाना चाहिए। मैं उनके पास जाऊं, उनकी वंदना व उपासना आदि द्वारा निष्पाप बनूं और उनसे अपने संशय कर बंधन का संशय रहित बनूं। इस प्रकार विचार करता हुआ वह इष्ट-स्थान पर जा पहुंचा। [१६४६-४७]

उसे आया हुआ देख कर जन्म-जरा मरण से रहित भगवान ने सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होने के कारण उसके नाम व गोत्र का उच्चारण करते हुए उसका स्वागत किया और कहा— वायुभूति गौतम !'। [१६४८]

**जीव व शरीर एक ही है, यह संशय**

किन्तु भगवान के उसे इस प्रकार स्पष्ट बुलाने से, उनकी आंतरिक ज्ञान शक्ति से शारीरिक सौन्दर्य से तथा समवसरण की शोभारूप बाह्य शक्ति से वायुभूति का उलटा संकोच हुआ, अतः वह भगवान के सम्मुख अपना संशय कह नहीं सका। वह चकित हो कर मूक-सा खड़ा रहा। उसकी दुविधा को दूर करने के लिए भगवान ने ही स्वयं उसे कहा—आयुष्मन वायुभूति ! तुम्हारे मन में यह संशय है कि जीव और शरीर एक ही है अथवा दोनों भिन्न भिन्न हैं फिर भी तुम मुझे पूछ नहीं रहे हो। किन्तु तुम्हें वेद-पदों का सच्चा अर्थ ज्ञात नहीं है इसीलिए ऐसा संशय रहा करता है। उन पदों का अर्थ यह है। [१६४९]

वेद पदों का सम्यग अर्थ बताने से पहले मैं तुम्हारी शंका को ही स्पष्ट कर दूं।

तुम यह बात मानते हो कि पृथ्वी, जल, तेज, और वायु इन चार भूतों के समुदाय से चेतना उत्पन्न होती है। जिस प्रकार मद्य के प्रत्येक पृथक-पृथक अंग (अवयव) जैसे कि धातकी के फूल, गुड़, पानी इन में किसी में भी मद शक्ति दिखाई

वायुभूति—जैसे मद्यांगों के समुदाय में मद का आविर्भाव होने के कारण समुदाय के प्रत्येक अंग में भी मद शक्ति माननी पड़ती है, अन्यथा उन के समुदाय में भी मद का आविर्भाव नहीं हो सकता वैसे ही केवल भूतों के समुदाय में चैतन्य उत्पन्न होता है, इसलिए प्रत्येक भूत में भी चैतन्य शक्ति माननी चाहिए। किसी पृथक् चेतन को मानने की आवश्यकता नहीं।

भगवान—तुम्हारा यह कथन असिद्ध है कि केवल भूतों के समुदाय से चैतन्य उत्पन्न होता है, क्योंकि उस समुदाय में केवल भूत ही नहीं हैं किन्तु आत्मा भी है उसी से ही भूतों के समुदाय में चैतन्य प्रकट होता है। कारण यह है कि चैतन्य समुदायान्तर्गत आत्मा का धर्म है। तुम जिसे भूत समुदाय कहते हो, यदि उसमें आत्मा का समावेश न हो तो चैतन्य कभी भी प्रकट नहीं हो सकता। भूतों के समुदाय मात्र से चैतन्य प्रकट हो जाता हो तो मृत-शरीर में भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिए किन्तु उसमें चैतन्य का अभाव स्पष्ट सिद्ध है। अतः चैतन्य को भूत मात्र में उत्पन्न नहीं माना जा सकता।

वायुभूति—मृत-शरीर में वायु नहीं है, अतः वह सब भूतों का समुदाय नहीं होता। इसीलिए उसमें चैतन्य का अभाव है।

भगवान—मृत शरीर में नली द्वारा वायु प्रविष्ट की जाए तो भी उसमें चैतन्य की उत्पत्ति नहीं होती।

वायुभूति—मृत-शरीर में अग्नि का भी अभाव है, तो फिर चैतन्य की उपलब्धि कैसे हो?

भगवान—मृत शरीर में अग्नि की पूर्ति करने पर भी चैतन्य उपलब्ध नहीं होता।

वायुभूति—मृत शरीर में विशिष्ट प्रकार की वायु और अग्नि का अभाव है अतः चैतन्य की प्राप्ति नहीं होती।

भगवान्—यह विशिष्टता कोई अन्य नहीं किन्तु आत्मसहित वायु और अग्नि होने से विशिष्ट वायु और विशिष्ट अग्नि कहलाती है। इस प्रकार तुमने दूसरे शब्दों में आत्मा का ही प्रतिपादन कर दिया है। [१६५५]

वायुभूति—भूत-समुदाय में चैतन्य प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है, फिर भी आप कहते हैं कि वह भूत-समुदाय का धर्म नहीं है। आपका यह कथन प्रत्यक्ष विरुद्ध है। घट पट के समान गुणों के प्रत्यक्ष होने पर भी कोई यह कहे कि [illegible] घट पट के नहीं हैं तो उसका यह कथन प्रत्यक्ष विरुद्ध होगा।

भगवान—[illegible] प्रत्यक्ष का विरोध नहीं है। क्योंकि [illegible]

बाधक आत्मसाधक अनुमान विद्यमान है। जैसे पानी तथा भूमि के समुदाय मात्र से हरे घास की उत्पत्ति देख कर कोई कहे कि यह घास पृथ्वी और पानी के समुदाय-मात्र से ही होती है तो उसका यह प्रत्यक्ष बीज साधक अनुमान से बाधित हो जाता है वैसे ही चैतन्य का केवल भूतों का धर्म प्रतिपादन करने वाला प्रत्यक्ष भी भूतों से सर्वथा भिन्न ऐसी आत्मा को सिद्ध करने वाले अनुमान से बाधित हो जाता है।

अपि च समुदाय में चैतन्य देखकर तुम यह कहते हो कि प्रत्येक भूत में भी चैतन्य है किन्तु तुम्हारा यह कथन प्रत्यक्ष विरुद्ध सिद्ध होता है क्योंकि प्रत्येक में चैतन्य दिखाई नहीं देता। [१६५६]

वायुभूति—आप कौन से अनुमान से आत्मा को भूतों से भिन्न सिद्ध करते हैं?

**भूत भिन्न आत्मा का साधक अनुमान**

भगवान—भूत अथवा इन्द्रियों से भिन्न-स्वरूप किसी भी पदार्थ का धर्म चेतना है क्योंकि भूत अथवा इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध पदार्थ का स्मरण होता है जैसे कि पाँच झरोखों से उपलब्ध वस्तु का स्मरण होने से झरोखों से भिन्न स्वरूप देवदत्त का धर्म चेतना है। तात्पर्य यह है कि जैसे पाँच झरोखों से क्रमशः देखने वाला देवदत्त एक ही है और वह झरोखों से भिन्न है क्योंकि वह पाँचों झरोखों द्वारा देखी गई चीजों का स्मरण करता है वैसे ही पाँचों इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध पदार्थों का स्मरण करने वाला भी इन्द्रियों से भिन्न कोई पदार्थ होना चाहिए। वही आत्मा है जो भूतों अथवा इन्द्रियों से भिन्न है। जो भूत समुदाय से भिन्न न हो अर्थात् अभिन्न हो वह एक होने से अनेक द्वारा उपलब्ध अर्थ का स्मरण भी नहीं कर सकता, जैसे कि किसी एक शब्दादि को ग्रहण करने वाला मानसिक ज्ञान विशेष। यह ज्ञान विशेष अपने ही विषय का ग्रहण करता है किन्तु अन्य विषय का स्मरण नहीं कर सकता। फिर भी यदि इस स्मरणकर्ता को देह अथवा इन्द्रियों से अभिन्न माना जाए तो पाँच झरोखों से देख कर सब का स्मरण करने वाले देवदत्त को भी झरोखे से अभिन्न मानना चाहिए। [१५७]

वायुभूति—इन्द्रियों के द्वारा नहीं किन्तु इन्द्रियाँ ही स्वयं उपलब्धि की कर्ता हैं। अतः इन्द्रियों से भिन्न आत्मा को मानने की आवश्यकता नहीं है।

**इन्द्रियाँ आत्मा नहीं**

भगवान—इन्द्रिय व्यापार के बन्द होने पर भी अथवा इन्द्रियों का नाश हो जाने पर भी इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध वस्तु का स्मरण होता है और इन्द्रिय व्यापार के अस्तित्व में भी अन्यमनस्क को कदाचित वस्तु की उपलब्धि भी नहीं होती अतः यह मानना चाहिए कि घटादि पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियों को नहीं होता

[ ग

इसके अतिरिक्त देह भोग्य है अतः उसका कोई भोक्ता होना चाहिए जैसे कि भोजन का भोक्ता पुरुष है। देह भी भोग्य है अतः जो उसका भोक्ता है वही आत्मा है।

घट संघातादि रूप है अतः उसका कोई अर्थी अथवा स्वामी है। इसी प्रकार शरीर भी संघातादि रूप है। अतः इसका कोई स्वामी होना चाहिए। जो स्वामी है वह आत्मा है। [१६६९]

वायुभूति– आपने कर्ता आदि के रूप में आत्मा की सिद्धि तो की किन्तु आपके इन अनुमानों से आपका इष्ट लक्षण अमूर्त आत्मा की सिद्धि नहीं होती वह तो बुद्धिकार आदि के समान मूर्त सिद्ध होती है। अतः आपने इष्ट साधन से विरुद्ध की सिद्धि की।

भगवान– प्रस्तुत में संसारी आत्मा की सिद्धि इष्ट है अतः साधन से विरुद्ध की सिद्धि नहीं हुई। कारण यह है कि संसारी आत्मा कथंचित् मूर्त भी है। [१६७०]

वायुभूति– जीव यदि शरीर से भिन्न सिद्ध हो जाए फिर भी परलोक गमन शक्ति होने के कारण वह शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है। अतः उसे शरीर से भिन्न सिद्ध करने में क्या लाभ है?

[illegible] नहीं

भगवान– बौद्ध मत के अनुसरण से सभी पदार्थों की उत्पत्ति स्वाभाविक है किन्तु हमारे इस मत में पदार्थ शाश्वत नहीं है। द्रव्य नित्य है केवल उसके पर्याय [illegible] हैं। अतः शरीर के साथ जीव का नाश [illegible] का अर्थ। कारण यह है कि पूर्व जन्म का स्मरण करने वाले जीव का [illegible] का नाश [illegible] जाने पर भी नाश न। माना जा सकता। [illegible] का स्मरण [illegible]? जिस प्रकार [illegible] का स्मरण करने [illegible] का [illegible] [illegible] नाश [illegible] जाता [illegible] का स्मरण करने के [illegible] प्रकार [illegible] पूर्व जन्म का स्मरण [illegible]। [illegible] [illegible] नाश [illegible]। [illegible] [illegible] का स्मरण [illegible] प्रकार [illegible] का स्मरण [illegible] [illegible] जा सकता।

---

[illegible]

वायुभूति – पूर्व-पूर्व विज्ञान-क्षण के संस्कार उत्तर उत्तर विज्ञान-क्षण में संक्रान्त होते हैं, अतः विज्ञानक्षणरूप जीव का क्षणिक स्वीकार करने पर भी स्मरण की सम्भावना है।

**विज्ञान भी सर्वथा क्षणिक नहीं**

भगवान् यदि विज्ञान क्षण का सर्वथा निरन्वय नाश माना जाए तो पूर्व-पूर्व विज्ञान-क्षण से उत्तर उत्तर विज्ञान-क्षण सर्वथा भिन्न ही होंगे। ऐसी स्थिति में पूर्व विज्ञान द्वारा अनुभूत वस्तु का स्मरण उत्तर विज्ञान में सम्भव नहीं। देवदत्त द्वारा अनुभूत वस्तु का स्मरण यज्ञदत्त को नहीं होता। पूर्वभव का स्मरण तो होता है अतः जीव को सर्वथा विनष्ट नहीं माना जा सकता। [१६७१]

वायुभूति – जीव रूप विज्ञान को क्षणिक मान कर भी विज्ञान-सन्तति के सामर्थ्य से स्मरण हो सकता है।

भगवान – यदि ऐसी बात है तो शरीर के नष्ट हो जाने पर भी विज्ञान सन्तति का नाश नहीं हुआ। अतः विज्ञान सन्तति को शरीर से भिन्न ही मानना चाहिए। यह बात भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि विज्ञान सन्तति भवान्तर में भी संक्रान्त होती है। [१६७२]

पुनश्च ज्ञान का भी सर्वथा क्षणिक होना सम्भव नहीं है कारण यह है कि पूर्वोपलब्ध वस्तु का स्मरण होता है। जो क्षणिक होता है उसे भूत (अतीत) का स्मरण जन्मान्तर विनष्ट के समान सम्भव नहीं है। किन्तु स्मरण होता है अतः विज्ञान को क्षणिक नहीं माना जा सकता। [१६७३]

जिनका यह मत है कि ज्ञान एक है—अर्थात् असहाय है, और वह एक ज्ञान एक ही विषय का ग्रहण करता है तथा वह ज्ञान क्षणिक भी है उन के मत में इस स्पष्ट मन्तव्य की कभी भी सिद्धि नहीं हो सकती कि 'इस संसार में जो सत है वह सब क्षणिक है।[1] जब सब पदार्थ सामने उपस्थित हों तब ही यह ज्ञान उत्पन्न हो सकता है कि ये सब पदार्थ क्षणिक हैं।[2] किन्तु सौगत मत में तो एक ज्ञान एक ही पदार्थ का ग्रहण करता है, अतः एक ज्ञान से सब पदार्थों की क्षणिकता का ज्ञान नहीं हो सकता।

पुनश्च, ज्ञान के एक पदार्थ का ग्रहण करने पर भी यदि एक ही समय एवं अनेक ज्ञान उत्पन्न होते हों और उन सब ज्ञानों का अनुसंधान करने वाला कोई एक आत्मा विद्यमान हो तो सब पदार्थों के सम्बन्ध में क्षणिकता का ज्ञान सम्भव हो

---

1 यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्—हेतुबिन्दु पृ० 44।

2 क्षणिका सर्वसंस्कारा।

सकता है किन्तु मौगत उस प्रकार के अनेक ज्ञानों की युगपदुत्पत्ति स्वीकार करता। अतः सब वस्तुओं की क्षणिकता का ज्ञान कभी भी नहीं होगा।

इसके अतिरिक्त यदि ज्ञान एक ही और एक समय में एक ही विषय का ज्ञान करता हो किन्तु वह क्षणिक न हो तो वह क्रमशः सब वस्तुओं की क्षणिकता का परिज्ञान कर सकता है। किन्तु तुम विज्ञान को क्षणिक भी मानते हो, अतः वह सब पदार्थों की क्षणिकता का परिज्ञान कर ही नहीं सकता। इसलिए विज्ञान को क्षणिक नहीं मानना चाहिए। ज्ञान गुण है, अतः वह निराधार नहीं रह सकता। फलतः शरीर से भिन्न गुणी आत्मा भी स्वीकार करना चाहिए। [१६७४]

वायुभूति—आपने कहा है कि क्षणिक विज्ञान इस बात का ज्ञान नहीं कर सकता कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं इस का और अधिक स्पष्टीकरण करने की कृपा करें।

भगवान—बौद्ध मत के अनुसार विज्ञान स्व विषय में ही नियत है और वह क्षणिक भी है, अतः इस प्रकार का विज्ञान अनेक विज्ञानों के विषयभूत पदार्थों के धर्मों क्षणिकता निरात्मकता दुःखता आदि का कैसे जान सकता है? कारण यह है कि वे विषय उस ज्ञान के ही नहीं हैं। अपि च वह ज्ञान क्षणिक होने के कारण उन विषयों को क्रमशः भी नहीं जान सकता। इस प्रकार स्व विषय से भिन्न सभी पदार्थ उस ज्ञान के लिए अविषय रूप ही हैं। अतः उन क्षणिकता आदि के ज्ञान की सम्भावना नहीं रहती। [१६७५]

वायुभूति—एक ही वस्तु का ग्रहण करने वाला क्षणिक विज्ञान भी सब वस्तुओं के क्षण भंग को स्व-तथा स्व विषय के समान अनुमान से जान कर सकता है। तात्पर्य यह है कि वह ज्ञान अनुमान करेगा कि संसार के सभी ज्ञान क्षणिक होने चाहिए क्योंकि जो ज्ञान हैं वे सब ज्ञान होने के कारण मेरे समान ही क्षणिक होने चाहिए, उनके विषय भी क्षणिक होने चाहिए क्योंकि वे सभी मेरे विषय के सदृश ज्ञान के ही विषय हैं। मेरा विषय क्षणिक है अतः वे सब ही क्षणिक होने चाहिए। इस प्रकार ज्ञान एक ही वस्तु का ग्रहण करते हुए तथा क्षणिक होते हुए भी समस्त वस्तुओं की क्षणिकता का ज्ञान कर सकता है।

भगवान्—तुमने जो अनुमान उपस्थित किया है वह अयुक्त है कारण यह है कि जब एक स्वतः ज्ञान की सत्ता तथा स्व विषयेतर विषयों की सत्ता सिद्ध हो जाए तब उन सब की क्षणिकता का अनुमान हो सकता है। यहाँ पर साध्य सिद्ध है कि प्रसिद्ध धर्मों से ज्ञाता है।[1] किन्तु वह क्षणिक विज्ञान उन सब की सत्ता

---

1 [illegible] —[illegible] पृ० ।

ही सिद्ध नहीं कर सकता उनकी क्षणिकता की सिद्धि की बात तो अलग ही रह जाती है।

वायुभूति—स्वतर विज्ञान तथा स्व विषयेतर वस्तु की सिद्धि भी विज्ञान उसी प्रकार के अनुमान से ही करेगा और कहेगा कि जैसे मेरा अस्तित्व है उसी प्रकार अन्य ज्ञानों का भी अस्तित्व होना चाहिए तथा जैसे मेरा विषय है वैसे ही अन्य ज्ञानों के भी विषय होने चाहिए। तदनन्तर वह यह निश्चय करेगा कि जैसे मैं क्षणिक हूँ और मेरा विषय क्षणिक है वैसे वे सब ज्ञान और उनके विषय भी क्षणिक होने चाहिए।

भगवान—तुम्हारा यह कथन भी युक्ति संगत नहीं है क्योंकि तुम्हारे द्वारा मान्य सब वस्तु की क्षणिकता को जानने वाला स्वयं विज्ञान ही अपना जन्म होते ही तत्काल नष्ट हो जाता है अतः वह अपने ही नाश को तथा अपनी ही क्षणिकता को जानने में असमर्थ है। तब अन्य ज्ञानों, उनके विषयों तथा उन सब की क्षणिकता को जानने में उसकी असमर्थता का कहना ही क्या है।

अपि च, वह क्षणिक ज्ञान अपने ही विषय की क्षणिकता को भी नहीं जान सकता क्योंकि ज्ञान और उसका विषय दोनों एक ही काल में नष्ट हो जाते हैं। यदि वह ज्ञान अपने विषय का विनाश होता देखे और इससे उसकी क्षणिकता का निर्णय करे और बाद में वह स्वयं नष्ट हो तो ही वह अपने विषय की क्षणिकता की प्रतिपत्ति कर सकता है। किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि बौद्धों के मत में ज्ञान और विषय दोनों एक ही समय में अपने अन्तर क्षणों को उत्पन्न कर नष्ट हो जाते हैं। वस्तु की क्षणिकता को जानने के लिए अन्य स्व-संवेदन अथवा इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी समर्थ नहीं हैं और उक्त प्रकार का अनुमान भी सिद्ध नहीं होता। अतः बौद्ध मत में सब वस्तु की क्षणिकता अज्ञात ही रहती है। [१६७६]

वायुभूति—पूर्व-पूर्व विज्ञानों द्वारा उत्तर उत्तर विज्ञानों में एक ऐसी वासना उत्पन्न होती है जिससे वह विज्ञान एक ही वस्तु का ग्रहण करते हुए तथा क्षणिक होते हुए भी अन्य विज्ञानों के तथा उनके विषयों के सत्व क्षणिकतादि धर्मों का ज्ञान कर सकता है। इस प्रकार बौद्धों को सभी पदार्थों की क्षणिकता अज्ञात नहीं रहती अतः उसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है।

भगवान—तुम्हारे द्वारा कही गई वासना भी तभी सम्भव है जब वास्य तथा वासक ये दोनों ज्ञान एक ही समय में एक साथ मिलते हों। किन्तु बौद्धों के मतानुसार उक्त दोनों ज्ञान जन्मानन्तर ही नष्ट हो जाने के कारण [illegible] ही समय में विद्यमान नहीं हो सकते। यदि वे दोनों एक ही काल में [illegible] उन ज्ञानों की क्षणिकता नहीं। अतः सभी ज्ञानों और सभी विषयों [illegible] कैसे सकती है?

पुनश्च, यदि वह वासना भी क्षणिक है तो उससे भी ज्ञान के समान सर्वक्षणिकता सिद्ध नहीं हो सकती। और यदि वासना स्वयं अक्षणिक है तो तुम्हारी इस प्रतिज्ञा में बाधा आती है कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं।

इस प्रकार वासना से भी सभी वस्तुओं की क्षणिकता सिद्ध नहीं हो सकती।

[१६७७]

विज्ञान को एकान्त क्षणिक मान कर भी यदि सर्व क्षणिकता का ज्ञान करना हो तो पूर्वोक्त प्रकार से निम्न दोषों की आपत्ति है—

१ एक साथ अनेक विज्ञानों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी और इन सब विज्ञानों की आश्रयभूत एक आत्मा भी स्वीकार करनी पड़ेगी। अथवा

२ यह बात स्वीकार करनी होगी कि एक विज्ञान का एक ही विषय नहीं प्रत्युत एक ही ज्ञान अनेक विषयों का ज्ञान करता है। अथवा

३ विज्ञान को अवस्थित अक्षणिक मानना होगा, जिससे वह सब पदार्थों का क्रमशः ज्ञान कर सके। इस प्रकार के विज्ञान तथा आत्मा में केवल नाम का भेद है अतः वस्तुतः अक्षणिक विज्ञान नहीं अपितु आत्मा ही माननी पड़ेगी।

४ उक्त आत्मा को स्वीकार करने से बौद्ध-सम्मत प्रतीत्य समुत्पादवाद का ही विघात होता है। कारण की अपेक्षा से कार्य की उत्पत्ति होती है, कारण का किसी भी प्रकार से कार्यावस्था में अन्वय नहीं है—प्रतीत्य समुत्पादवाद का यह रूप है। परन्तु इस वाद को स्वीकार करने से स्मरणादि समस्त व्यवहार का उच्छेद मानना पड़ता है। कारण है कि स्मरणादि व्यवहार उसी अवस्था में सम्भव है जब अतीत संकेतादि का आश्रय रूप कोई पदार्थ स्मरणादि ज्ञान रूप परिणाम को प्राप्त हो अर्थात् उत्तर काल में भी उसी का अन्वय विद्यमान रहे। अन्यथा उसकी सम्भावना ही नहीं। ऐसी अन्वयी वस्तु ही आत्मा है। अतः स्मरणादि व्यवहार की उपपत्ति के लिए यदि आत्मा को स्वीकार किया जाए तो प्रतीत्यसमुत्पादवाद का विघात हो जाता है।

विज्ञान को एकान्त-क्षण विनाशी स्वीकार करने पर उक्त तथा अन्य अनेक दोषों की आपत्ति उपस्थित होती है। किन्तु उत्पाद-व्यय ध्रौव्य युक्त विज्ञानमय आत्मा को मानने में एक भी दोष नहीं है। ऐसी आत्मा स्वीकार करने से ही समस्त व्यवहार की भी सिद्धि होती है अतः क्षणिक विज्ञान के स्थान पर शरीर से भिन्न आत्मा ही माननी चाहिए। [१६७८–७९]

वायुभूति—उक्त आत्मा के कौन से ज्ञान होते हैं और वे किससे होते हैं?

ज्ञान के प्रकार

भगवान्— इस आत्मा में मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण तथा मनःपर्ययज्ञानावरण का जब क्षयोपशम होता है तब मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होते हैं तथा केवलज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार विभिन्न आवरणों के क्षय एवं क्षयोपशम से आत्मा में विभिन्न ज्ञान उत्पन्न होते हैं। ये पर्याय रूप से क्षणिक होते हैं तथा द्रव्य रूप से कालातीत-स्थायी नित्य भी होते हैं। [१६८०]

इन सब ज्ञानों की जो सन्तान सामान्य रूप है वह नित्य है उसका कभी भी व्यवच्छेद नहीं होता किन्तु सामग्री के अनुसार उन में अपर प्रकार की विशेषता उत्पन्न होती है। इससे ज्ञान के अनेक व्यवस्थारूप भेद हो जाते हैं— अथवा विशेष बनते हैं।

किन्तु ज्ञानावरण के सर्वथा क्षय से जो केवलज्ञान उत्पन्न होता है उस में भेदों का स्थान नहीं अतः उसे अविकल्प कहते हैं। वह सदा केवल रूप असहाय रूप अनन्तकाल तक विद्यमान रहता है और अनन्त वस्तुओं को ग्रहण करता है अतः उसे अनन्त भी कहते हैं। [१६८१]

वायुभूति—यदि आत्मा शरीर से भिन्न है तो वह शरीर में प्रवेश करते समय अथवा वहाँ से बाहर निकलते समय दिखाई क्यों नहीं देता ?

विद्यमान होने पर भी अनुपलब्धि के कारण

भगवान—किसी भी वस्तु की अनुपलब्धि दो प्रकार की मानी गई है। एक प्रकार तो यह है कि जो वस्तु खरशृंगादि के समान सर्वथा असत् हो वह कभी भी उपलब्ध नहीं होती। दूसरा प्रकार यह है कि वस्तु सत् अर्थात् विद्यमान होने पर भी निम्न लिखित कारणों से अनुपलब्ध होती है—

१ बहुत दूर हो जैसे मेरु आदि।

२ अति निकट हो जैसे आँख की भौंह।

३ अति सूक्ष्म हो जैसे परमाणु।

४ मन के अस्थिर होने पर भी वस्तु का ग्रहण नहीं होता जैसे ध्यानपूर्वक न चलने वाले को।

५ इन्द्रियों में पटुता न हो जैसे किंचित बधिर को।

६ मति की मन्दता के कारण भी गम्भीर अर्थ का ज्ञान नहीं होता।

७ अशक्यता से भी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती जैसे कि अपने कान को, मस्तक को अथवा पीठ को देखना अशक्य है।

८ आवरण के कारण—जैसे आँख को हाथ से ढक दिया जाए तो वह कुछ भी देख नहीं सकती। अथवा दीवार आदि से अन्तरित वस्तु भी दिखाई नहीं देती।

९ अभिभव के कारण—जैसे उत्कट सूर्य तेज से तारागण अभिभूत हो जाते हैं अत दिखाई नहीं देते।

१० सदृशता होने के कारण—बारीकी से ध्यान पूर्वक देखा हुआ उड़द का दाना यदि उड़द के समूह (ढेर) में मिला दिया जाय तो उड़द के सभी दाने एक समान होने के कारण उस दाने को ढूँढना या पहचानना सम्भव नहीं है।

११ अनुपयोग के कारण—जिस मनुष्य का ध्यान उपयोग रूप में न हो वह जैसे गन्धादि को नहीं जानता वैसे।

१२ अनुपाय होने पर—जैसे कोई व्यक्ति सींग देख कर गाय भैंस के दूध के परिमाण को जानना चाहे तो वह नहीं जान सकता, क्योंकि दूध के परिमाण का ज्ञान प्राप्त करने का उपाय सींग नहीं है।

१३ विस्मरण होने पर भी पूर्वोपलब्ध वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता।

१४ दुरागम—मिथ्या उपदेश मिला हो तो सुवर्ण के समान चमकती हुई रेत को सुवर्ण मानने पर भी सुवर्ण की उपलब्धि नहीं होती।

१५ मोह—मूढ़मति या मिथ्यामति के कारण विद्यमान जीवादि तत्त्वों का ज्ञान नहीं होता।

१६ विज्ञान—दर्शन शक्ति के अभाव के कारण—जैसे जन्मान्ध को।

१७ विकार के कारण—वृद्धावस्था आदि विकार के कारण अनेक बार पूर्वोपलब्ध वस्तु की भी उपलब्धि नहीं होती।

१८ अक्रियाभाव—जैसे स्नान की क्रिया न की जाए तो शरीर का मैल दिखाई नहीं देता।

१९ अनधिगम—शास्त्र को न सुनने से उसके अर्थ का ज्ञान नहीं होता।

२० कालविप्रकर्ष के कारण भूत तथा भावी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती।

२१ स्वभावविप्रकर्ष अर्थात् अमूर्त होने के कारण आत्मादि दिखाई नहीं देता।

इन २१ कारणों से विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि होती है। इन में प्रथम के छः कारण स्वरूप से विद्यमान हैं अर्थात् वह आकाश के समान सत्य है, दूसरे

के कारण स्वय असिद्ध वे दोनो एकत्रित हो
नही है। उक्त तीन प्रकारो से जो सिद्ध न
नही हो सकता, क्योकि अन्य प्रकार अनु
र उभय से भिन्न प्रकारेण। किन्तु ससार म
नही क्योकि जो कुछ होगा वह स्व या पर
ने का अर्थ होगा कि वस्तु की सिद्धि अहेतुक
ा है। किन्तु यह बात असम्भव है। कारण
ा सकता। अत अनुभय से भी वस्तु की

उपय मे भी यही बात है। वह व्यवहार
ह्रस्व अथवा दीर्घ नही है। प्रदेशिनी—
की अपेक्षा लम्बी है किन्तु वही मध्यमा
स्वत न तो लम्बी है और न छोटी।
हम कह सकते हैं कि दीर्घत्व ह्रस्वत्व
कारण खर विषाण के समान वे परत
अनुभय प्रकार से भी ह्रस्वत्व दीर्घत्व
ीकार करना पडेगा कि यह समस्त
ा रहा है —

ा जगी कोई चीज नही है ह्रस्व
व है। इन दोनो म भी दीर्घत्व
। असिद्ध शून्य है अत उसका

ा जाती है और ह्रस्व की सिद्धि
सी की भी सिद्धि नहीं है, अत
त कुछ भी नही है।'

कारण शून्य ही है। [१६६२]

निम्न प्रकार से भी उहापोह

तथा फूल भी दिखाए है तथापि यह सब मायिक होने के कारण परमार्थ रूपसे विद्यमान नहीं है। इसी प्रकार संसार के समस्त पदार्थ स्वप्नोपम हैं और मायोपम है। इस तरह जहाँ प्रत्यक्ष भूतों के अस्तित्व में भी सन्देह है वहाँ जीव, पुण्य, पाप आदि परोक्ष पदार्थों की तो बात ही क्या है? अतः तुम्हें भूतादि सभी वस्तुओं की शून्यता ज्ञात होती है और तुम समस्त लोक को मायोपम समझते हो।

अपि च, युक्ति से विचार करने पर भी तुम्हें यही प्रतीति होती है कि यह सब स्वप्न सदृश है। [१६६०-६१]

**समस्त व्यवहार सापेक्ष है**

हे व्यक्त! तुम यह मानते हो कि संसार में सकल व्यवहार ह्रस्व-दीर्घ के समान सापेक्ष है। अतः वस्तु की सिद्धि स्वतः, परतः स्व पर-उभय से अथवा किसी अन्य प्रकार से भी नहीं हो सकती।

संसार में सभी कुछ सापेक्ष है, इस बात का स्पष्टीकरण तुम इस प्रकार करते हो—संसार में जो कुछ है वह सब कार्य अथवा कारण के अन्तर्गत है। कार्य और कारण की सिद्धि परस्पर सापेक्ष है—अर्थात् दोनों एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। यदि संसार में कार्य ही न हो तो किसी को कारण नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार यदि कारण न हो तो किसी को कार्य भी नहीं कहा जा सकता। दूसरे शब्दों में किसी भी पदार्थ के विषय में कार्यत्व का व्यवहार कारणाधीन है और कारणत्व का व्यवहार कार्याधीन है। इस तरह कार्य और कारण दोनों स्वतः सिद्ध नहीं हैं। अतः संसार में कुछ भी स्वतः सिद्ध नहीं है। यदि कोई भी पदार्थ स्वतः सिद्ध न हो तो वह परतः सिद्ध कैसे हो सकता है? कारण यह है कि जैसे खर विषाण स्वतः सिद्ध नहीं तो उसे परतः सिद्ध भी नहीं कह सकते, वैसे ही संसार के सकल पदार्थ यदि स्वतः सिद्ध न हों तो वे परतः सिद्ध भी नहीं हो सकते। स्व पर-उभय से भी वस्तु की सिद्धि अशक्य है, क्योंकि उक्त प्रकारेण यदि स्व और पर पृथक् पृथक् सिद्धि के कारण प्रमाणित न होते हों तो वे दोनों मिल कर भी वस्तु की सिद्धि में असमर्थ रहेंगे। रेत के एक एक कण में तेल नहीं है अतः समस्त कणों को पिराने पर भी तेल की निष्पत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार स्व और पर के अलग अलग असमर्थ होने पर यदि दोनों मिल भी जाएँ तो भी उन में सिद्धि का सामर्थ्य उत्पन्न नहीं होता। अपि च, स्व-पर उभय से सिद्धि स्वीकार करने में परस्पराश्रय दोष भी है क्योंकि जब तक कारण सिद्ध न हो तब तक कार्य नहीं होता और जब तक कि तो कार्य की निष्पत्ति न हुई हो तब तक किसी को कारण नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं एक की सिद्धि दूसरे के बिना नहीं होती।

अत उन मे परस्पराश्रय दोष होने के कारण स्वय असिद्ध वे दोनो एकत्रित हो अन्य किसी की सिद्धि करें यह सम्भव नहीं है। उक्त तीन प्रकारो से जो सिद्ध न हो वह इन से भिन्न प्रकार से भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अन्य प्रकार अनुभयरूप ही हो सकता है। अर्थात स्व पर उभय से भिन्न प्रकारेण। किन्तु ससार मे स्व-पर से भिन्न कोई वस्तु सम्भव ही नहीं, क्योंकि जो कुछ होगा वह स्व या पर होगा। अत अनुभय से निष्पत्ति मानने का अर्थ होगा कि वस्तु की सिद्धि अहेतुक है अर्थात उसका कोई हेतु या कारण नहीं है। किन्तु यह बात असम्भव है। कारण के बिना ससार मे कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता। अत अनुभय से भी वस्तु की सिद्धि नहीं होती।

ह्रस्व-दीर्घत्व के व्यवहार के विषय मे भी यही बात है। वह व्यवहार भी सापेक्ष ही है। अत कोई भी वस्तु स्वत ह्रस्व अथवा दीर्घ नहीं है। प्रदेशिनी—अँगूठे के निकटस्थ पहली अगुली—अगूठे की अपेक्षा लम्बी है किन्तु वही मध्यमा अँगुली की अपेक्षा छोटी है। इसलिए वह स्वत न तो लम्बी है और न छोटी। वह तो अपेक्षा से लम्बी और छोटी है। अत हम कह सकते हैं कि दीर्घत्व ह्रस्वत्व स्वत सिद्ध नहीं हैं। स्वत सिद्ध न होने के कारण खर विषाण के समान वे परत सिद्ध भी नहीं हो सकते। स्व पर-उभय अथवा अनुभय प्रकार से भी ह्रस्वत्व दीर्घत्व की सिद्धि सम्भव नहीं है। फलस्वरूप यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यह समस्त व्यवहार सापेक्ष है। इसीलिए किसी ने ठीक ही कहा है —

"दीर्घ कहलाने वाली वस्तु मे दीर्घत्व जैसी कोई चीज नहीं है ह्रस्व कहलाने वाली वस्तु मे भी दीर्घत्व का अभाव है। इन दोनो मे भी दीर्घत्व नहीं है, अत दीर्घत्व नामक वस्तु ही असिद्ध है। असिद्ध शून्य है अत उसका अस्तित्व कहाँ माना जा सकता है ?[1]

ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ की सिद्धि कही जाती है और ह्रस्व की सिद्धि भी दीर्घ की अपेक्षा से है। किन्तु निरपेक्ष रूप से किसी की भी सिद्धि नहीं है, अत यह समस्त सिद्धि व्यवहार के कारण ही है परमार्थत कुछ भी नहीं है।[2]

इस प्रकार ससार में सब कुछ सापेक्ष होने के कारण शून्य ही है। [१६६२]

सब शून्यता के समर्थन के लिए तुम्हारा मन निम्न प्रकार से भी ऊहापोह करता है—

---

1 न दीर्घेऽस्तीह दीर्घत्व न ह्रस्वे नापि च द्वय।
तस्मादसिद्ध शून्यत्वात सदित्याख्यायते कथ हि ? ॥

2 ह्रस्व प्रतीत्य सिद्ध दीर्घ दीर्घ प्रतीत्य ह्रस्वमपि।
न किंचिदस्ति सिद्ध व्यवहारवशात् कल्प्येवम ॥

ऐसी मान्यता है। किन्तु सामग्री के घटक प्रत्येक हेतु अथवा प्रत्यय मे यदि कार्योत्पादन सामर्थ्य ही न हो तो वह सामग्री मे भी कैसे हो सकता है? जैसे कि रेत के प्रत्येक कण मे तेल का अभाव होने से समग्र कणो मे भी तेल का अभाव ही होता है। अर्थात ससार मे कार्य जैसी कोई वस्तु प्रमाणित न हो, सर्वाभाव हो जाए, तो फिर सामग्री का प्रश्न ही कैसे उत्पन्न होगा? तथा सामग्री के अभाव मे कार्य का भी अभाव हो जायगा। इस तरह सर्व शून्यता की ही सिद्धि होती है। कहा भी है—

हेतु प्रत्यय रूप सामग्री यदि पृथक् हो तो उसमे कार्य का दर्शन नही होता और जब तक घटादि कार्य उत्पन्न न हो तब तक उसमे घटादि सज्ञा की प्रवृत्ति न होने के कारण वह स्वभावत अनभिलाप्य (अवाच्य) है।'[1]

"ससार मे जहाँ कही सज्ञा की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है वह सामग्री मे ही है अत भाव ही नही है। भाव न हो तो सामग्री भी नही होती।[2]" (१६९५)

**अदृश्य होने के कारण शून्यता**

सर्व शून्यता की सिद्धि निम्न प्रकार से भी की जाती है—जो अदृश्य है वह अनुपलब्ध होने के कारण खर विषाण के समान असत् ही है। जिसे दृश्य कहा जाता है उसका भी पिछला भाग अदृश्य होने से तथा निकटतम भाग सूक्ष्म होने से दिखाई नही देता, अत उसे भी सर्वथा अदृश्य मानना चाहिए। इसलिए वह भी खर विषाण के समान शून्य होगा। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि स्तम्भादि बाह्य पदार्थ दिखाई तो देते हैं, फिर उन्हे अदृश्य कैसे कहा सकता है? इसका समाधान यह है कि स्तम्भादि समस्त पदार्थ अखण्ड तो दिखाई नही देते। हम उसके तीन अवयवो की कल्पना करें—अन्तिम भाग, मध्य भाग तथा हमारे सम्मुख उपस्थित अग्र भाग। इनमे अन्तिम और मध्य भाग तो दिखाई ही नही देते, अत वे अदृश्य हैं। सामने का जो भाग हम दिखाई देता है वह भी सावयव है। उसके अन्तिम अवयव तक जाएँ तो वह परमाणु ही होगा। वह भी सूक्ष्म होने के कारण अदृश्य है। इस प्रकार स्तम्भादि पदार्थों का वस्तुत दर्शन ही सम्भव नही। इसलिए वे सब अनुपलब्ध होने के कारण खर विषाण के समान असत् ही हैं। इससे सर्व शून्यता सिद्ध होती है। कहा भी है —

जो कुछ दृश्य है उसका पर (पश्चात) का भाग तो दिखाई नही देता। अत ये सब पदार्थ स्वभाव से अनभिलाप्य (अवाच्य) ही हैं।[3]

---

1 हेतुप्रत्यसामग्रीपृथगादेरदर्शनात्। तेन ते नाभिलाप्या हि भावा सर्वे स्वभावत ॥

2 लोके यावत् सज्ञा सामग्र्यामेव दृश्यते यस्मात्। तस्मात् न सन्ति भावा भावेऽपि च सन्ति सामग्री ॥

3 यद्वत् दृश्य परस्तात्, भाग स च न दृश्यते। तेन ते नाभिलाप्या हि भावा स्वभावत ॥

इस प्रकार युक्ति से विचार करने पर संसार में भूतों की सत्ता ही नहीं है। किन्तु वेद में भूतों का अस्तित्व प्रतिपादित भी किया है। अतः मुझे संशय है कि भूत वस्तुतः हैं या नहीं? [१६९९]

व्यक्त—आपने मेरे संशय का यथार्थ समाधान किया है। कृपया अब उसका निवारण करें।

संशय निवारण

भगवान्—व्यक्त! तुम्हें इस प्रकार का संशय नहीं करना चाहिए। कारण यह है कि यदि संसार में भूतों का अस्तित्व ही न हो तो उनके विषय में आकाश-कुसुम तथा खर-शृंग के समान संशय ही उत्पन्न न हो। जो वस्तु विद्यमान हो उसी के सम्बन्ध में संशय होता है जैसे कि स्थाणु व पुरुष के सम्बन्ध में। [१६९७]

भूतों के विषय में संशय का होना उनकी सत्ता का द्योतक है

ऐसी कौन सी विशेषता है जिसके कारण संशय होने पर भी स्थाणु-पुरुष के विषय में तो संशय होता है किन्तु आकाश-कुसुम खर-शृंग आदि के विषय में वैसा संशय नहीं होता? तुम ही इसका स्पष्ट करो। अथवा ऐसा क्यों नहीं होता कि आकाश-कुसुम आदि के विषय में ही संशय हो तथा स्थाणु-पुरुष के विषय में कभी भी संशय न हो। ऐसा विषय क्यों नहीं होता? अतः यह मानना चाहिए कि खर-शृंग के समान सब कुछ ही समान रूपेण शून्य नहीं है। [१६९८]

व्यक्त—आप ही बताएँ कि किस विशेषता के कारण स्थाणु-पुरुष के सम्बन्ध में सन्देह होता है।

भगवान्—प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम-इन प्रमाणों द्वारा पदार्थ की सिद्धि होती है। अतः इन प्रमाणों के विषयभूत पदार्थों के सम्बन्ध में ही सन्देह उत्पन्न हो सकता है। जो विषय सब प्रमाणातीत हो उसके सम्बन्ध में संशय कैसे हो सकता है? यही कारण है कि स्थाणु आदि पदार्थों के विषय में सन्देह होता है किन्तु आकाश-कुसुम आदि के विषय में नहीं। [१६९९]

अपि च, संशयादि ज्ञान-पर्याय हैं तथा ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञेय से होती है। इससे भी ज्ञात होता है कि यदि ज्ञेय ही नहीं तो संशय भी कैसे हो सकता है? [१७००]

अतः संशय होने के कारण भी ज्ञेय का अस्तित्व अनुमान सिद्ध मानना चाहिए। वह अनुमान यह है—ये सब पदार्थ विद्यमान हैं, क्योंकि उनके विषय में सन्देह होता है। जिसके विषय में सन्देह होता है वह स्थाणु पुरुष के समान विद्यमान होता है। अतः संशय होने के कारण पदार्थों का अस्तित्व मानना चाहिए।

व्यक्त—जब सब कुछ शून्य है तब स्थाणु पुरुष भी असत् ही है अतः वह भी प्रमाण सिद्ध नहीं है। फिर वह दृष्टान्त कैसे बन सकता है?

भगवान—इस तरह तुम्हें संशय का भी अभाव मानना पड़ेगा क्योंकि जब संशय का अभाव है तो संशय का भी अभाव सिद्ध होगा। फिर जब तुम्हें भूतों के विषय में संदेह ही नहीं होगा, तब वे सत्य विद्यमान ही मानने पड़ेंगे। [१७०१]

व्यक्त—ऐसा कोई नियम नहीं है कि यदि संशय का अभाव हो तो संशय होना ही। सोए हुए पुरुष के पास कुछ भी नहीं होता, तथापि वह स्वप्न में संशय करता है कि यह गजराज है अथवा पर्वत? अतः सब वस्तुओं के शून्य होने पर भी संशय सम्भव है।

भगवान—तुम्हारा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्न में जो सन्देह होता है वह भी पूर्वानुभूत वस्तु के स्मरण से होता है। यदि सभी वस्तुओं का सर्वथा अभाव ही हो तो स्वप्न में भी संशय न हो। [१७०२]

व्यक्त—क्या निमित्त के बिना स्वप्न नहीं होता?

भगवान—नहीं, निमित्त के बिना कभी भी स्वप्न नहीं होता।

व्यक्त—स्वप्न के निमित्त कौन से हैं?

**स्वप्न के निमित्त**

भगवान—अनुभव में आए हुए जैसे कि स्नान, भोजन, विलेपन आदि पदार्थों के स्मरण में अनुभव निमित्त है। हस्ति आदि पदार्थ दृष्ट होने के कारण स्वप्न के विषय बनते हैं। चिन्ता भी स्वप्न का निमित्त है। जैसे कि अपनी प्रियतमा के सम्बन्ध में चिन्ता हो तो वह स्वप्न में दिखाई देती है। यदि किसी विषय के सम्बन्ध में कुछ सुन रखा हो तो वह भी स्वप्न में आता है। प्रकृति विकार अर्थात् वात, पित्त, कफ के विकार से भी स्वप्न आते हैं। अनुकूल अथवा प्रतिकूल देवता, सज्जन, प्रदेश, पुण्य तथा पाप भी स्वप्न के निमित्त हैं। किन्तु वस्तु का सर्वथा अभाव कभी भी स्वप्न का निमित्त नहीं बन सकता। अतः स्वप्न भी भावरूप है इसलिए उसे सर्वशून्य कैसे माना जाए? [१७०३]

व्यक्त—आप स्वप्न को भावरूप कैसे मानते हैं?

भगवान्—स्वप्न भावरूप है, क्योंकि घट विज्ञानादि के समान वह भी विज्ञान रूप है। अथवा स्वप्न भावरूप है क्योंकि वह भी उक्त निमित्तों द्वारा उत्पन्न होता है। जैसे घट आदि दण्डादि निमित्तों द्वारा उत्पन्न होने के कारण भावरूप है, वैसे ही स्वप्न भी निमित्तों से उत्पन्न होने के कारण भावरूप है। [१७०४]

**सर्वशून्यता में व्यवहाराभाव**

यदि च सर्वाभाव हो (सर्वशून्य हो) तो लोगों में यह भेद किस कारण से होता है कि अमुक ज्ञान स्वप्न है और अमुक ज्ञान अस्वप्न, यह सत्य है और यह मृषा, यह गन्धर्व नगर है (माया नगर है) और यह पार्थिवपुत्र है, यह तथ्य है (मुख्य है) और यह

औपचारिक है, यह कार्य है और यह कारण है यह साध्य है और यह साधन है यह कर्त्ता है यह वक्ता है यह उसका वचन है यह त्रि अवयव वाला वाक्य है यह पंच अवयव वाला वाक्य है, यह वाच्य अर्थात वचन का अर्थ है यह स्वपक्ष है तथा वह परपक्ष है- ये सम्पूर्ण व्यवहार यदि संसार में सर्वशून्य के हो तो किस लिए प्रवृत्ति हो ? पुनश्च पृथ्वी में स्थिरत्व पानी में द्रवत्व, अग्नि में उष्णत्व, वायु में चलत्व तथा आकाश में अमूर्तत्व यह सब कुछ कैसे नियत हो सकता है ? यह नियम भी कैसे बनेगा कि शब्दादि विषय-ग्राह्य हैं तथा श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ ग्राहक है ? उक्त सभी बातें एकरूप क्यों नहीं हो जाती ? अर्थात जैसा स्वप्न वैसा ही अस्वप्न क्यों नहीं माना जाता ? उक्त बातों में असमानता का क्या कारण है ? अथवा स्वप्न की प्रतीति अस्वप्न रूप में हो ऐसा विपर्यय व्यवहार में क्यों नहीं होता ? तथा यदि सब कुछ शून्य ही है तो फिर सर्वग्रहण क्यों नहीं होता ? अर्थात् किसी भी वस्तु का ग्रहण या ज्ञान ही न हो।

व्यक्त—भ्रान्ति के कारण यह व्यवहार प्रवृत्त होता है कि यह स्वप्न है और यह अस्वप्न।

**सभी ज्ञान भ्रान्त नहीं**

भगवान – सभी ज्ञानों को भ्रान्तिमूलक नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि वे ज्ञान देश काल, स्वभाव आदि के कारण नियत है। फिर भ्रान्ति स्वयं विद्यमान है या अविद्यमान ? यदि भ्रान्ति को विद्यमान माना जाए तो सर्वशून्यता सिद्ध नहीं होती। यदि उसे अविद्यमान मानें तो भावग्राहक ज्ञानों को अभ्रान्त मानना पड़ेगा। अतः सर्वशून्यता नहीं अपितु सर्वसत्ता ही माननी चाहिए।

फिर तुम यह भेद भी कैसे करोगे कि शून्यता का ज्ञान ही सम्यक है तथा भावसत्ता ग्राही ज्ञान मिथ्या है। तुम्हारे मत में तो सब कुछ शून्य ही है अतः ऐसा भेद सम्भव ही नहीं है। [१७०५ ८]

व्यक्त—स्वतः, परतः, उभयतः तथा अनुभयतः इन चारों प्रकारों से वस्तु की सिद्धि नहीं होती, इसलिए तथा सब सापेक्ष होने के कारण सर्वशून्यता को सिद्ध स्वीकार करना चाहिए।

भगवान—यदि सब कुछ शून्य है तो यह बुद्धि भी कैसे उत्पन्न होगी कि यह स्व है और वह पर है। जब स्व-पर आदि विषयक बुद्धि ही नहीं होगी तो स्वतः, परतः इत्यादि विकल्प करके वस्तु की जो परस्पर असिद्धि सिद्ध की जाती है, वह भी कैसे सम्भव होगी ?

अपि च, एक ओर तो यह बात स्वीकार करना कि वस्तु की सिद्धि ह्रस्व दीर्घ के समान सापेक्ष है और दूसरी ओर यह कहना कि वस्तु की सिद्धि स्व पर आदि किसी से भी होती नहीं, परस्पर विरुद्ध कथन करना है।

**सत्तासत्ता मात्र सापेक्ष नहीं**

यह एकान्त भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि वस्तु की सत्ता केवल आपेक्षिक ही है। कारण यह है कि स्व विषयक ज्ञान का उत्पन्न करना और अर्थ क्रिया भी वस्तु सत्ता का लक्षण है। अतः ह्रस्व आदि पदार्थ स्व विषयक ज्ञान को उत्पन्न करने के कारण सत् अथवा विद्यमान हैं इसलिए उन्हें असिद्ध कैसे कहा जाए ?

अपि च, यदि स्वयं असत् स्वरूप अंगुली में ह्रस्वत्वादि अन्य अंगुली सापेक्ष हों तो स्वयं असत् रूप एक शशविषाण में भी अन्य की अपेक्षा से ह्रस्वत्वादि व्यवहार क्यों नहीं होता ? सर्वथा असत्ता समान होने पर भी एक में ही ह्रस्वत्वादि व्यवहार होता है और दूसरे में वह नहीं होता इसका क्या कारण है ? अतः मानना पड़ता कि अंगुली आदि पदार्थ स्वयं सत् हैं और उनमें अनन्त धर्म होने के कारण भिन्न भिन्न सहकारियों के सन्निधान से भिन्न भिन्न धर्म अभिव्यक्त होते हैं तथा उनके विषय में ज्ञान होता है। यदि अंगुली आदि पदार्थ शशविषाण के समान सर्वथा असत् हों तो उनमें अपेक्षाकृत ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि का व्यवहार भी नहीं हो सकता और स्वतः, परतः आदि विकल्प भी सम्भव नहीं हो सकते।

व्यक्त—शून्यवादी के मत में यह भेद-व्यवहार ही नहीं है कि यह स्व है और यह पर है किन्तु परवादी ऐसा व्यवहार करते हैं अतः उनकी अपेक्षा से स्वतः, परतः आदि विकल्पों की सृष्टि समझनी चाहिए।

**शून्यवाद में स्व पर पक्ष का भेद नहीं घटता**

भगवान्—किन्तु जहाँ सब कुछ शून्य है वहाँ स्वमत तथा परमत का भेद भी सम्भव नहीं है। यदि स्वमत और परमत का भेद स्वीकार किया जाए तो शून्यवाद ही बाधित हो जाता है। [१७०९]

व्यक्त—मैं यह तो कह ही चुका हूँ कि समस्त व्यवहार सापेक्ष है।

भगवान—तुम ह्रस्व दीर्घ आदि व्यवहार को सापेक्ष मानते हो किन्तु इस विषय में मेरा प्रश्न यह है कि ह्रस्व दीर्घ का ज्ञान युगपद् होता है अथवा क्रमशः ? यदि युगपद् होता है तो जिस समय मध्यम अंगुली के विषय में दीर्घत्व का प्रतिभास हुआ उसी समय प्रदेशिनी में ह्रस्वत्व का प्रतिभास हुआ यह बात माननी होगी। अर्थात् युगपद् पक्ष में एक ज्ञान में दूसरे ज्ञान की किसी भी अपेक्षा का अवकाश न रहने से यह कैसे कहा जायगा कि ह्रस्वत्व दीर्घत्व आदि व्यवहार सापेक्ष है ? यदि ह्रस्वत्व दीर्घत्व का ज्ञान क्रमशः स्वीकार करते हो तो भी पहले प्रदेशिनी में ह्रस्वत्व का ज्ञान हो चुका है फिर मध्यम अंगुली के दीर्घत्व के ज्ञान की अपेक्षा कहाँ रही ? अतः दोनों पक्षों से यह सिद्ध नहीं होता कि ह्रस्वत्व दीर्घत्व का ज्ञान व्यवहार सापेक्ष

है। इसलिए यह बात स्वत सिद्ध है कि सभी पदार्थ चक्षु आदि सामग्री उपस्थित होने पर अन्य किसी की अपेक्षा रखे बिना स्वज्ञान मे प्रतिभासित होते हैं।

पुनश्च बालक ज म लेने के बाद पहली बार ही आँख खोल कर जो ज्ञान प्राप्त करता है उसम उस किस की अपेक्षा है ? और जो दो पदार्थ दो नेत्रों के समान सदृश हों उनका ज्ञान यदि एक साथ हो तो इसमे भी किसी की अपेक्षा दृष्टिगोचर नहीं होती। अत मानना चाहिए कि अँगुली आदि पदार्थों का स्वरूप सापेक्ष मात्र नहीं है किन्तु व स्वविषयक ज्ञानो म अन्य की अपेक्षा के बिना ही स्वरूप से स्वत प्रतिभासित होते हैं और तदनन्तर अपने प्रतिपक्षी पदार्थ का स्मरण होने से उनमे इस प्रकार का व्यपदेश होता है कि यह अमुक से ह्रस्व है और अमुक से दीर्घ है। अत पदार्थों का स्वत सिद्ध मानना ही चाहिए। [१७१०-११]

इसके अतिरिक्त यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि जब सब कुछ शून्यता के कारण समानरूप स असत है तब प्रदेशिनी आदि ह्रस्व पदार्थों की अपेक्षा से ही मध्यमा अगुली आदि मे दीर्घत्व का व्यवहार क्या होता है ? दीर्घ पदार्थ की अपेक्षा से ही दीर्घ पदार्थों मे दीर्घत्व का व्यवहार क्यो नही होता ? इसके विपरीत दीर्घ पदार्थ की अपेक्षा स ही ह्रस्व द्रव्य म ह्रस्वत्व का व्यवहार क्यो होता है ? और ह्रस्व की अपेक्षा स ही ह्रस्व म ह्रस्वत्व की प्रवृत्ति क्या नही होता ? असत के समानरूप से विद्यमान होने पर भी ह्रस्व आदि पदार्थ की अपेक्षा से ही दीर्घत्व आदि के व्यवहार का क्या कारण है ? यह व्यवहार आकाश कुसुम आदि की अपेक्षा से क्या नही होता ? आकाश कुसुम की अपेक्षा स ही आकाश-कुसुम मे ह्रस्व आदि व्यपदेश और ज्ञान न होने का क्या कारण है ? अत यह बात माननी होगी कि सर्वशून्य नही है किन्तु पदार्थ विद्यमान है। [१७१२]

और जब सर्वशून्य है तब अपेक्षा की भी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि जैसे घटादि सत्व शून्यता के प्रतिकूल है वैसे अपेक्षा भी शून्यता के प्रतिकूल है।

व्यक्त—यह स्वाभाविक बात है कि अपेक्षा के बिना काम नहीं चलता। अर्थात अपेक्षा स ही ह्रस्व दीर्घ व्यवहार की प्रवृत्ति होती है यह स्वभाव है। यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि ऐसा स्वभाव क्यो है ? कहा भी है —

'अग्नि जलती है किन्तु आकाश नहीं जलता इस किससे पूछा जाए[1] ?' अर्थात ऐसे नियत स्वभाव म किसी स यह प्रश्न या आक्षेप नहीं किया जा सकता कि इससे विपरीत क्यो नही होता ?

### शून्यता स्वाभाविक नहीं

भगवान—स्वभाव मानने स भी सर्वशून्यता की हानि ही होती है क्योंकि 'स्व रूप जो भाव है उसे स्वभाव कहते हैं। अत स्व तथा 'पर इन दो भावो की

---

1 अग्निर्दहति नाकाशं कोऽत्र पर्यनुयुज्यताम्।

कल्पना करनी ही पड़ती है। उससे शून्यवाद का स्वतः ही निरास हो जाता है। वंध्या पुत्र जैसे अविद्यमान पदार्थों में स्वभाव की कल्पना नहीं की जा सकती, वे विद्यमान पदार्थों में ही करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में शून्यवाद का निरास स्पष्ट है। [१७१३]

अपेक्षा मानने में मुझे भी आपत्ति नहीं, किन्तु मेरे कथन का भाव इतना ही है कि वस्तु के दीर्घ आदि का विज्ञान तथा व्यवहार कथंचित अपेक्षाजन्य होने पर भी वस्तु की सत्ता अपेक्षाजन्य नहीं है। इसी प्रकार रूप, रस आदि अन्य वस्तु धर्म भी आपेक्षिक नहीं है। अतः वस्तु के अस्तित्व में अन्य किसी की अपेक्षा न होने के कारण उसे असत नहीं कहा जा सकता और फलतः सर्व शून्य भी नहीं माना जा सकता। [१७१४]

व्यक्त – वस्तु सत्ता तथा उसके रसादि धर्मों को अन्य निरपेक्ष क्यों माना जाए?

**वस्तु की अन्य निरपेक्षता**

भगवान – यदि वस्तु सत्तादि अन्यनिरपेक्ष न हो तो ह्रस्व पदार्थों का नाश होने पर दीर्घ पदार्थों का भी सर्वथा नाश हो जाना चाहिए क्योंकि दीर्घ पदार्थों की सत्ता ह्रस्व पदार्थ सापेक्ष है। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः यही फलित होता है कि पदार्थ के ह्रस्व आदि धर्म का ज्ञान और व्यवहार ही पर सापेक्ष है उनके सत्ता आदि धर्म पर सापेक्ष नहीं है। वे अन्य निरपेक्ष ही हैं। अतः यह नियम दूषित है कि 'अन्य कुछ सापेक्ष होने से शून्य है'। फलतः सर्वशून्यता भी असिद्ध ही है। [१७१५]

सर्वशून्यता की सिद्धि के लिए अपेक्षा होने से यह हेतु दिया गया है परन्तु यह विरुद्ध है। क्योंकि यह सर्वशून्यता के स्थान पर वस्तु-सत्ता को ही सिद्ध करता है।

व्यक्त—यह कैसे?

भगवान—अपेक्षणरूप क्रिया अपेक्षकरूप कर्त्ता तथा अपेक्षणीयरूप कर्म इन तीनों में निरपेक्षता अपेक्षा सम्भव ही नहीं है। अर्थात जब क्रिया कर्म और कर्त्ता तीनों विद्यमान हों तब ही अपेक्षा की सम्भावना है। इससे सर्वशून्यता के स्थान पर वस्तु सत्ता ही सिद्ध होती है। अतः उक्त हेतु विरुद्ध है। [१७१६]

**स्वतः परतः आदि पदार्थों की सिद्धि**

ठीक बात तो यह है कि सत्य आदि कुछ पदार्थ अपने कारणभूत द्रव्य के विशेष परिणाम रूप होकर बनना आदि किसी की भी अपेक्षा न रखते हैं, स्वतः सिद्ध कहलाते हैं अर्थात् कुछ पदार्थ कुम्भकारादि कर्त्ता की अपेक्षा रखने से परतः सिद्ध कहलाते हैं पुनश्च कुछ पदार्थ माता-पिता आदि परपदार्थ तथा स्वीकृत कर्म इन स्वपदार्थ की अपेक्षा रखने से उभयतः सिद्ध कहलाते हैं तथा आकाशादि कुछ पदार्थ निरपेक्ष सिद्ध कहलाते हैं। यह सम्पूर्ण व्यवहार दृष्टिकोण-आधारित है [illegible]। [१७१७]

किन्तु निश्चय-नय की अपेक्षा से बाह्य कारण निमित्त मात्र है उनका उपयोग होने पर भी सब पदार्थ स्वतः सिद्ध ही माने जाते हैं। कारण यह है कि बाह्य निमित्तों के होने पर भी खर विषाण आदि पदार्थ यदि स्वतः सिद्ध न हों तो वे कभी भी सिद्ध नहीं हो सकते। अतः निश्चय-नय के मत से सभी पदार्थ स्वतः सिद्ध ही माने जाते हैं। इस प्रकार व्यवहार तथा निश्चय दोनों नयों द्वारा होने वाला वस्तुज्ञान सम्यक् कहलाता है। [१७१८]

व्यक्त—अस्तित्व तथा घट के एकानेकत्व (भेदाभेद) की युक्ति[1] का क्या उत्तर है?

**सर्वशून्यता का निराकरण**

भगवान्—जब पहले यह सिद्ध हो जाए कि 'घट है' तब यह पर्याय विषयक विचारणा हो सकती है कि घट तथा उसका धर्म अस्तित्व—ये दोनों एक हैं अथवा अनेक। इससे यह स्पष्टतः सिद्ध है कि घट अथवा अस्तित्व का अभाव नहीं माना जा सकता। जो वस्तु खर विषाण के समान पहले से ही असिद्ध हो उसके विषय में भेदाभेद का विचार ही उत्पन्न नहीं होता। यदि घट तथा उसका अस्तित्व अविद्यमान हो और फिर भी उनके विषय में एकानेकत्व की विचारणा हो तो खर विषाण के सम्बन्ध में भी यह बात होनी चाहिए। ऐसा नहीं होता। अतः मानना होगा कि घटादि के विषय में यह चर्चा इसीलिए होती है कि खर विषाण के समान उनका सर्वथा अभाव नहीं है। [१७१९]

अपि च, 'घट है' इस पर घट तथा अस्तित्व के विषय में तुमने जो ऊहापोह की वही ऊहापोह तुम्हारे मत में 'घट शून्य है' इस पर घट तथा शून्यता के विषय में भी की जा सकती है। घट तथा शून्यता में भेद है अथवा अभेद? यदि शून्यता घट से भिन्न है तो व्यक्त! तुम ही बताओ कि घट से भिन्न शून्यता कैसी है? यदि घट तथा शून्यता अभिन्न हैं तो घट ही मानना चाहिए, क्योंकि वह प्रत्यक्ष द्वारा उपलब्ध होता है। शून्यता रूप धर्म स्वतन्त्ररूपेण उपलब्ध नहीं होता, अतः उसे मानने की आवश्यकता नहीं रहती। [१७२०]

पुनश्च, तुम्हें जो यह ज्ञान होता है कि ये तीनों लोक शून्य हैं और तुम उक्त वचन का भी जो व्यवहार करते हो वे दोनों तुम से अभिन्न हैं या भिन्न? यदि अभेद हो तो वस्तु का अस्तित्व सिद्ध होता है, क्योंकि जैसे शिंशपा और वृक्षत्व का एकत्व सदभूत है वैसे तुम सब का भी है अतः शून्यता मानी नहीं जा सकती। यदि तुम विज्ञान और वचन से भिन्न हो तो तुम पत्थर के समान अज्ञानी तथा वचन शून्य बन जाओगे। फिर तुम वादी अर्थात् शून्यवादी कैसे बन सकोगे? शून्यवाद की सिद्धि भी कैसे होगी? [१७२१]

---

1 गाथा 1693 देखें।

व्यक्त—'घट तथा उसके अस्तित्व को अभिन्न मानने पर सब कुछ [illegible] हो जाएगा और इससे अघट रूप वस्तु के अभाव में घट भी सम्भव न होगा इस विचारणा का क्या स्पष्टीकरण है ?

भगवान— घटसत्ता (घट का अस्तित्व) घट का धर्म होने के कारण [illegible] अभिन्न है परन्तु वह पटादि से तो भिन्न है। अतः 'घट है' अर्थात् घट को अभि[illegible] कथन में ही 'घट ही है' अन्य कुछ भी नहीं ऐसा नियम कैसे फलित हो सक[illegible] कारण यह है कि घट के समान पटादि की सत्ता पटादि में है ही, अतः घट [illegible] समान अघटरूप पटादि सभी पदार्थ भी विद्यमान हैं। इस प्रकार अघट का अस्ति[illegible] [illegible] के कारण उसे [illegible] घट कहा जा सकता है। [१०२२]

व्यक्त— यदि घट और अस्तित्व एक ही हों तो यह नियम निश्चित न[illegible] हो सकता कि जो जो अस्तित्व है वह सब घट ही है ? अथवा 'घट है' यह कहा [illegible] [illegible] समस्त वस्तु रूप क्यों नहीं होगा ?

भगवान—ऐसा फलित नहीं होता कि घट का अस्तित्व पटादि के अस्तित्व [illegible] से भिन्न है। घट का अस्तित्व घट में ही है, पटादि में नहीं। अतः घट और उसके अस्तित्व को अभिन्न मान कर भी उक्त नियम नहीं बन सकता तथा घट को भी [illegible] कहने से केवल उसका ही अस्तित्व का ज्ञान होता है, अतः उसे सर्वात्मक कैसे कहा जा सकता है ? [१०२३]

[illegible] यह है कि 'अस्ति' अर्थात् 'है', केवल यह शब्द कहने से किसी [illegible] [illegible] सब का बोध होगा। अर्थात् घट और अघट सब [illegible] किन्तु घट कहने से तो इतना ही बोध होगा कि घट है। कारण यह है कि घट [illegible] घट [illegible] ही मानित है। [illegible] कि वस्तु कहने से [illegible] [illegible] है क्योंकि इन सब में वस्तुत्व समान रूप से है कि [illegible] [१०२४]

[illegible] विचारणा के विषय में आप क्या कहते हैं ?

[illegible]

भगवान—इस विषय में मैं यहाँ इतना ही सूचित करता हूँ कि [illegible]

[illegible]

उसे अज्ञात कैसे कहा जा सकता है ? एक ही वस्तु ज्ञात तथा अज्ञात दोनों नहीं हो सकती। इसमें स्ववचन विरोध है। यदि ज्ञात सर्वथा असत् है तो ज्ञातादि विकल्प निरर्थक है। यदि अज्ञात पदार्थ के विषय में भी ज्ञातादि का विचार हो सकता है तो आकाश कुसुम के विषय में ऐसी विचारणा क्यों नहीं की जाती? वह भी असत् ही है, अतः सर्वशून्य नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त मैं पूछता हूँ कि यदि सब कुछ शून्य है तो स्वप्न अस्वप्न इत्यादि सब एक समान हो जाने चाहिए अथवा अस्वप्न स्वप्न इत्यादि हो जाने चाहिए आदि। उसी प्रकार यहाँ भी उन सब दोषों का पुनरावर्तन किया जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि यदि सब कुछ शून्य ही है तो ज्ञात और अज्ञात दोनों समान होने चाहिए अथवा अज्ञात ज्ञात हो जाने चाहिए इत्यादि। [१७२५]

यदि यह शून्यवादी का मत हो कि पदार्थ वस्तु किसी भी प्रकार उत्पन्न ही नहीं होती तो मैं यह प्रश्न करता हूँ कि जो घड़ा पहले मिट्टी के पिण्ड में उपलब्ध न था वह कुम्भकार दण्ड चक्रादि सामग्री से उत्पन्न होने के पश्चात उपलब्ध कैसे हुआ ? इस सामग्री के अभाव में यह उपलब्ध क्यों नहीं होता था ? फिर उत्पत्ति के बाद यह दृष्टिगोचर हुआ किन्तु तत्पश्चात मुद्गर आदि से नष्ट हो जाने के बाद पदार्थान्तर में यह दिखाई क्यों नहीं देता ? जो वस्तु सर्वथा अज्ञात हो वह खर शृंग के समान सर्वदा अनुपलब्ध रहता है। अतः जिसकी उपलब्धि कादाचित्क हो, उस वस्तु को ज्ञात मानना चाहिए। [१७२६]

पुनश्च ज्ञात अज्ञात आदि विकल्पों द्वारा यह सब कुछ शून्य है ऐसा ज्ञान और वचन भी अज्ञात सिद्ध किया जा सकता है। फिर भी उस ज्ञान और वचन को किसी न किसी प्रकार ज्ञात माने बिना तुम्हारा छुटकारा नहीं हो सकता। उसी प्रकार सब भावों को तुम्हें ज्ञात मानना चाहिए चाहे उनके विषय में ज्ञात अज्ञात आदि विकल्प घटित न होते हों। अतः सब भावों के ज्ञात होने के कारण शून्य नहीं माना जा सकता।

व्यक्त—उस शून्यता विषयक विज्ञान और वचन को भी मैं ज्ञात होने पर भी अज्ञात ही मानता हूँ।

भगवान्—ऐसी स्थिति में अज्ञात विज्ञान तथा वचन द्वारा शून्य का प्रकाशन नहीं होगा। फिर शून्यता का प्रकाश उसके बिना कैसे होगा ? अर्थात् यह बात मानने से शून्यता ही असिद्ध हो जायेगी। [१७२७]

व्यक्त—किन्तु ज्ञातादि विकल्पों से वस्तु की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होगी इस विषय में आप क्या कहते हैं ?

---

1 गा० 1708

व्यक्त—वस्तु न हो और फिर भी अविद्याजन्य भ्रान्ति से वह दिखाई दे तो इससे वस्तु की सत्ता सिद्ध नहीं हो जाती। कहा भी है—

'कामवासना स्वप्न भय, उन्माद तथा अविद्याजन्य भ्रान्ति से मनुष्य अविद्यमान अर्थ को भी कशाण्डुक के समान देखता है।'

भगवान—यदि ऐसा ही है तो शून्यता के समानभाव से होने पर भी कछुआ के बाल की सामग्री किसलिए दिखाई नहीं देती? वचन की ही सामग्री क्यों दिखाई देती है? या तो दोनों की दिखाई देनी चाहिए अथवा किसी की भी नहीं। कारण यह है कि तुम्हारे मत में दोनों समान रूप से शून्य हैं। [१७३२]

पुनश्च, छाती, मस्तक, कण्ठ, ओष्ठ तालु जीभ आदि सामग्री रूप वक्ता तथा उसका वचन सत् है या नहीं? यदि वे सत् हैं तो सर्वशून्य नहीं कहा जा सकता। यदि वक्ता और वचन असत् हैं तो यह बात किसने कही कि सब कुछ शून्य है? किस ने सुनी? सर्वशून्य मानने से न कोई वक्ता रहेगा और न कोई श्रोता। [१७३३]

व्यक्त—ठीक तो है वक्ता भी नहीं है वचन भी नहीं है अतः वचनीय पदार्थ भी नहीं है। इसीलिए तो सर्वशून्य सिद्ध होता है।

भगवान—किन्तु मैं तुम से पूछता हूँ कि तुम ने जो यह बात कही कि वक्ता, वचन तथा वचनीय का अभाव होने से सर्वशून्य ही है वह (तुम्हारी बात) सत्य है या मिथ्या? [१७३४]

यदि तुम अपने इस वचन को सत्य मानते हो तो वचन का सद्भाव सिद्ध होने से सर्ववस्तु का अभाव सिद्ध नहीं होता। यदि तुम अपने इस वचन को मिथ्या मानते हो तो वह अप्रमाण होने के कारण सर्वशून्यता को सिद्ध करने में असमर्थ है।

व्यक्त—चाहे यह वचन शून्यता को सिद्ध न कर सके फिर भी हम तो शून्यता को मानते ही हैं।

भगवान—तो भी यह प्रश्न हो सकता है कि तुम्हारा यह अभ्युपगम (मान्यता) सत्य है या मिथ्या? उत्तर से यही फलित होगा कि शून्यता नहीं माननी चाहिए। अपि च अभ्युपगम भी तभी घटित हो सकता है जब तुम अभ्युपगन्ता (स्वीकार करने वाला) अभ्युपगम (स्वीकार) तथा अभ्युपगमनीय (स्वीकरणीय वस्तु) इन तीनों वस्तुओं का सद्भाव मानो। किन्तु सर्वशून्यता मानने पर अभ्युपगम भी घटित नहीं होता अतः सर्वशून्यता का आग्रह छोड़ देना चाहिए। [१७३५]

---

1 कामस्वप्नभयोन्मादैरविद्योपप्लवात्तथा। पश्यन्त्यसन्तमप्यर्थं जनः कशाण्डुकादिवत्।

2 आकाश में कुछ भी न हो फिर भी बाल के गुच्छे जैसा दिखाई देता है उसे कशाण्डुक कहते हैं।

[illegible] तब क्या नहीं होगा ? [illegible] सब कुछ सिद्ध क्या नहीं [illegible] ? [illegible] किन्तु [illegible] का [illegible] कारण [illegible] ? [illegible] [illegible] । [१३३]

यह भी [illegible] सामग्री से ही उत्पन्न [illegible] । [illegible] परमाणु सामग्री से उत्पन्न [illegible] । किन्तु निरवयव परमाणु किसी से भी उत्पन्न नहीं होता फिर उसे सामग्री जन्य कैसे कहा जा सकता है ?

व्यक्त—परमाणु भी सप्रदेश (सावयव) होते हैं अतः वह भी सामग्री जन्य है।

भगवान—किन्तु उस परमाणु के [illegible] अवयव होंगे अथवा उन अवयवों के भी जो अवयव होंगे और इस प्रकार [illegible] निरवयव (अप्रदेशी अवयव) हुआ उसे तो सामग्री द्वारा जन्य नहीं माना जाएगा। अतः यह एकान्त नियम नहीं है कि सभी कुछ सामग्रीजन्य है।

व्यक्त—यदि ऐसा कोई परमाणु नहीं मानें तो ?

भगवान् परमाणु का सर्वथा अभाव तो माना नहीं जा सकता। कारण यह है कि उसका कार्य दिखाई देता है। अतः कार्य द्वारा कारण का अनुमान हो सकता है। कहा भी है कि—

'मूर्त वस्तु द्वारा परमाणु का अनुमान किया जा सकता है। वह परमाणु अप्रदेश है, निरवयव है अन्त्य कारण है नित्य है और उसमें एक रस, एक वर्ण एक गन्ध तथा दो स्पर्श है। कार्य द्वारा उसका अनुमान हो सकता है।'[1] [१३३७]

व्यक्त—किन्तु इस परमाणु का अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि वह सामग्री से उत्पन्न नहीं होता।

भगवान—एक ओर तुम कहते हो कि सब कुछ सामग्रीजन्य है और दूसरी ओर कहते हो कि परमाणु नहीं है यह कथन तो परस्पर विरुद्ध कहलाएगा। जैसे कोई कहे सभी वचन झूठ हैं तो उसका यह कथन स्ववचन विरुद्ध है वैसे तुम्हारे कथन में भी विरोध है। कारण यह है कि यदि परमाणु ही नहीं है तो उससे इतर कौनसी ऐसी सामग्री है जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है ? क्या यह सब आकाश

---

1 मूर्तेरणुरप्रदेशः कारणमन्त्यं भवेत् तथा नित्यः ।
एकरसवर्णगन्धो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥

अनुभव से उत्पन्न होता है। अतः यदि सब कुछ सामग्रीजन्य मानना हो तो परमाणु रूप सामग्री का अभाव नहीं माना जा सकता। [१७३८]

दृष्टान्त—किन्तु परभाग का अदर्शन तो है तथा विकल्प्य भाग भी सूक्ष्म होने से अदृश्य है इत्यादि तर्क द्वारा जो सर्वशून्यता की सिद्धि की थी उस विषय में आप क्या कहते हैं?

सब कुछ अदृश्य नहीं

भगवान्—यह तो विरोध है। दृश्य वस्तु के अग्र भाग का तुम्हें ग्रहण होता है फिर भी तुम कहते हो कि यह नहीं है। इससे विरोध नहीं तो और क्या है?

दृष्टान्त—वस्तुतः सर्वाभाव होने से अग्रभाग का ग्रहण भी भ्रान्ति ही है।

भगवान्—यदि अग्रभाग का ग्रहण भ्रान्ति मात्र है तो फिर शून्य रूप से समान होने पर भी दूर शृंग का अग्रभाग क्या गृहीत नहीं होता? दोनों का ग्रहण समान रूप से होना चाहिए अथवा नहीं होना चाहिए। समान होने पर यह नहीं हो सकता कि एक का तो ग्रहण हो किन्तु दूसरे का नहीं। अपि च विषय क्या नहीं होता? स्तम्भादि के अग्रभाग की जगह दूर शृंग का ही अग्रभाग दिखाई दे तथा स्तम्भादि का अग्रभाग दिखाई न दे यह बात क्या नहीं होता? अतः सर्वशून्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। [१७३९]

पुनश्च 'परभाग दिखाई नहीं देता अतः अग्रभाग भी नहीं होना चाहिए, तुम्हारा यह अनुमान कितना विचित्र है[1] अग्रभाग तो अबाधित प्रत्यक्ष से सिद्ध है। अतः उक्त अनुमान से अग्नि की उष्णता के समान अग्रभाग बाधित नहीं हो सकता किन्तु अग्रभाग ग्राहक इस प्रत्यक्ष से ही तुम्हारा अनुमान बाधित हो जाता है। तुम ही बताओ कि अग्रभाग के ग्रहण से परभाग की सिद्धि कैसे नहीं होगी? कारण यह है कि अग्रभाग आपेक्षिक है अतः यदि कोई परभाग हो तो अग्रभाग भी सम्भव है अन्यथा नहीं। इस प्रकार अग्रभाग के अस्तित्व के बल पर परभाग का अनुमान सहज है।

अदर्शन अभाव साधक नहीं होता

पुनश्च केवल अदर्शन से वस्तु का निह्नव(उत्थापन)नहीं किया जा सकता। देशादि से विप्रकृष्ट वस्तुओं के विद्यमान होने पर भी उनका दर्शन नहीं होता फिर भी उनका अभाव नहीं माना जा सकता। सारांश यह है कि परभाग के अदर्शन मात्र से अग्रभाग का निषेध नहीं हो सकता। अग्रभाग का दर्शन होने के कारण अवश्य रूप परभाग का अस्तित्व भी अनुमान से सिद्ध किया जा सकता है। जैसे कि दृश्य वस्तु का परभाग भी है क्योंकि तत्सम्बद्ध अग्रभाग का ग्रहण होता है। जैसे

1 गाथा 1696

आकाश के पूर्वभाग का ग्रहण होने से तत्सम्बन्धी परभाग भी है ही। इसी प्रकार दृश्यवस्तु का भी परभाग है।

अग्रभाग का भी एक भाग अग्र है और उसका भी एक भाग अग्र है इस प्रकार जो सर्वाग्र भाग है वह सूक्ष्म है और अदृश्य है, अतः अग्रभाग का सर्वथा अभाव[1] है, इत्यादि, तुम्हारी विचारणा भी अयुक्त है। क्योंकि यहाँ भी यदि परभाग न मानें तो अग्रभाग सम्भव ही न होगा। अतः परभाग अदृश्य होने पर भी मानना ही चाहिए। [१७४०]

फिर यदि सर्वशून्य हो तो अग्रभाग, मध्यभाग तथा परभाग जैसे भेद भी कैसे हो सकते हैं?

व्यक्त—ये भेद परमत की अपेक्षा से किए गए हैं।

भगवान्—किन्तु जहाँ सर्वाभाव हो वहाँ स्वमत तथा परमत का भेद भी कैसे हो सकता है? [१७४१]

यदि शून्यता न मानी जाए तो अग्रभाग, मध्यभाग, परभाग जैसे भेद माने जा सकते हैं और यदि इन भेदों को ही न माना जाए तो खर विषाण के समान इस विकल्प करना व्यर्थ है। [१७४२]

जब सर्वशून्य है तब ऐसा क्योंकर होता है कि अग्रभाग तो दिखाई दे किन्तु परभाग अदृश्य रहे। वस्तुतः कुछ भी दिखाई नहीं देना चाहिए। फिर ग्रहण में विपर्यास क्यों नहीं हो जाता? अर्थात् परभाग ही दिखाई दे अग्रभाग नहीं ऐसा क्यों नहीं होता? अतः सर्वशून्यता असिद्ध है। [१७४३]

यदि ऐसा नियम है कि परभाग दिखाई न देने से वस्तु शून्य है तो भी स्फटिक को सत्ता माननी ही पड़ेगी, क्योंकि उसका परभाग भी दिखाई देता है।

व्यक्त—स्फटिकादि भी वस्तुतः शून्य ही हैं।

भगवान्—तो परभाग के अज्ञान से वस्तु का अभाव सिद्ध नहीं होगा। परभाग का अज्ञान अहेतु हो जायेगा। फिर ऐसा क्यों नहीं कहते कि 'कुछ भी दिखाई नहीं देता' अतः सर्वशून्य है।

व्यक्त—हाँ सच्ची बात यही है कि 'कुछ भी दिखाई नहीं देता', इसीलिए सब का अभाव है—सर्वशून्य है।

भगवान्—ऐसा बात मानने पर तुम जिस पहले स्वीकार कर चुके हो वह खण्डित हो जायेगा। पहले तुमने यह कहा था कि परभाग का अज्ञान है और अब तुम यह कहते हो कि किसी का भी ज्ञान नहीं है। इन दोनों बातों में परस्पर विरोध है। फिर परभाग के विषय में तुम्हारा कथन सब का प्रश्न है। अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि

---

1

[illegible] नहीं [illegible] है। अतः उपर्युक्त हेतु से शून्यता सिद्ध नहीं कर सकते।

व्यक्त—सब सपक्ष में हेतु विद्यमान रहता तथापि यदि वह सब विपक्ष में व्यावृत्त हो अर्थात् किसी भी विपक्ष में विद्यमान न हो तो उस सद् हेतु कहते हैं। जैसे कि शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रयत्न से उत्पन्न होता है। यह हेतु सभी अनित्य पदार्थों में विद्यमान रहता है, क्योंकि बिजली बादल आदि एक अनित्य पदार्थ हैं जो प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखते। फिर भी यह हेतु किसी भी विपक्ष में नहीं पाया जाता। अर्थात् ऐसा एक भी नित्य पदार्थ नहीं है जो स्वोत्पत्ति में प्रयत्न की अपेक्षा रखता हो। कारण यह है कि नित्य पदार्थ की उत्पत्ति ही नहीं होती, वहाँ प्रयत्न से क्या प्रयोजन? अतः उक्त हेतु सब सपक्षव्यापी न होने पर भी सर्वविपक्ष से व्यावृत्ति के कारण स्वसाध्य अनित्यता को सिद्ध करता है। उसी प्रकार परभाग का अदर्शन' चाहे स्वलक्षणादि शून्य पदार्थों में न हो—अर्थात् सब सपक्ष में न हो तो भी सपक्ष के अधिकांश भाग में है ही। अतः यह स्वसाध्य को सिद्ध कर सकता है।

भगवान्—परभाग का अदर्शन इस हेतु में उक्त हेतु के समान व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता। उक्त हेतु का निम्न व्यतिरेक सिद्ध है—जो अनित्य नहीं होता वह प्रयत्न से उत्पन्न भी नहीं होता जैसे आकाश। किन्तु यहाँ ऐसा व्यतिरेक कैसे सिद्ध करोगे कि 'जहाँ शून्यता नहीं, वहाँ परभाग का अदर्शन भी नहीं'। ऐसा व्यतिरेक किसी सद्भूत वस्तु में ही सिद्ध हो सकता है। तुम सर्वाभाव मानते हो अतः किसी भी सद्भूत वस्तु को स्वीकार नहीं कर सकते। अतः परभाग का अदर्शन अहेतु ही रहेगा। [१६४४-४५]

व्यक्त—पर तथा मध्यभाग नहीं है क्योंकि खर विषाण के समान वे अप्रत्यक्ष हैं। जब पर तथा मध्यभाग ही नहीं है तो अग्रभाग कहाँ से होगा? क्योंकि अग्रभाग भी पर मध्य भाग की अपेक्षा से है। इस प्रकार सर्वशून्यता की सिद्धि होगी।

भगवान्—जो पदार्थ भिन्न भिन्न इन्द्रियों का विषय बनता है वह अर्थ प्रत्यक्ष कहलाता है। अतः जब तुम यह कहते हो कि अप्रत्यक्ष है तब तुम कम से कम इतना तो मानोगे ही कि इन्द्रियाँ और अर्थ विद्यमान हैं। कारण यह है कि विद्यमान का ही विषय होता है। उन दोनों को स्वीकार करने से शून्यता की हानि होती है। अतः शायद तुम इन्द्रियों और अर्थ को न मानोगे तथा शून्य को ही स्वीकार करोगे तो भी तुम यह नहीं कह सकते कि अप्रत्यक्ष होने से। कारण यह है कि इन्द्रियों और अर्थ के अभाव में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का व्यवहार नहीं हो सकता। [१७४६]

अप्रत्यक्ष होने से यह हेतु व्यभिचारी भी है, क्योंकि ऐसा नियम नहीं है कि जो अप्रत्यक्ष हो वह अविद्यमान ही हो। तुम्हारे अपने ही मतानुसार तथा अन्य लोगों को बहुत से लोग प्रत्यक्ष नहीं करते, फिर भी वे विद्यमान हैं ही। इसी प्रकार

अन्य पदार्थ भी ऐसे हो सकते हैं जो अप्रत्यक्ष होकर भी विद्यमान हों। इसी तरह पर मध्यभाग भी अप्रत्यक्ष होकर विद्यमान हो सकते हैं।

व्यक्त—'अप्रत्यक्ष होने से संशयादि ज्ञान भी विद्यमान नहीं है,' यदि मैं यह बात कहूँ तो ?

भगवान—तो फिर यही हुआ न कि तुम्हें भूतों की शून्यता के विषय में संशय नहीं है। तो फिर वह किस को है ? और वह क्या है ? तथा शून्यता को किसने पहिचाना है ?

सारांश यह है कि किसी दूसरे को भूतों के विषय में सन्देह हो नहीं है। यह सन्देह तुम्हें ही था। अब तुम कहते हो कि मुझे भी सन्देह नहीं है। फिर तो यह चर्चा यहीं समाप्त हो जानी चाहिए, क्योंकि दूसरे लोगों को इन ग्राम, नगर आदि की सत्ता के विषय में लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। अतः सर्वशून्यता का प्रश्न ही नहीं रहता। [१७८७]

### पृथ्वी आदि भूत प्रत्यक्ष हैं

अतः हे व्यक्त ! पृथिवी जल अग्नि आदि जो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, उनके विषय में तुम्हें भी सन्देह नहीं करना चाहिए। जैसे कि तुम अपने स्वरूप के विषय में सन्देह नहीं करते। वायु तथा आकाश प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते, उनके विषय में कदाचित् संशय हो सकता है, किन्तु उस संशय का निवारण अनुमान से हो सकता है। [१७८८]

व्यक्त—वायु की सिद्धि के लिए कौन सा अनुमान है ?

### वायु का अस्तित्व

भगवान—[illegible] गुणों का आश्रय होने पर भी विद्यमान होना चाहिए [illegible] गुण का गुणी पर है। अब [illegible] का जो गुण [illegible] है, वह वायु है। इस प्रकार वायु का अस्तित्व सिद्ध है। [illegible] अनुमान से [illegible]। [१७८९]

व्यक्त—[illegible] अनुमान कौन-सा है ?

### [illegible] की सिद्धि

[illegible]

व्यक्त—पृथ्वी आदि भूतों का आधार साध्य है, अतः दृष्टान्त में जल का आधार रूप जिस व्यवस्था पृथ्वी का कथन किया गया है उसे अभी साधारण में सिद्ध करना है। इसलिए वह आधारभूत अन्य में साध्य ही है। अतः साधारण में अब तक असिद्ध पृथ्वी को दृष्टान्त में कैसे सम्मिलित किया जा सकता है?

भगवान्—पहली अवस्था में उक्त अनुमान के स्थान पर निम्न अनुमान से भूतों का आधार सिद्ध करना चाहिए: पृथ्वी आधार वाली है, भूत होने से, घड़े के समान। इस प्रकार पानी के आधार की सिद्धि के लिए अग्नि, अग्नि के आधार की सिद्धि के लिए वायु तथा वायु के आधार की सिद्धि के लिए पृथ्वी का दृष्टान्त देकर पृथक्-पृथक् भूतों का आधार सिद्ध करना चाहिए। इसमें उक्त दोष की निवृत्ति हो जाएगी। इस प्रकार चार भूतों के आधार रूप आकाश की सिद्धि हो जाने के कारण उसके अस्तित्व में सन्देह का स्थान नहीं रहता। [१७८०]

हे गौतम! इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध भूतों की सत्ता स्वीकार करनी ही चाहिए। जब तक शरीर में उत्पन्न न हुआ हो तब तक ये भूत सचेतन अथवा सजीव हैं। शरीर के आधारभूत हैं और विविध प्रकार से जीव के उपभोग में आते हैं। [१७८१]

व्यक्त—आप ने भूतों को सजीव कैसे कहा?

भूत सजीव हैं

भगवान्—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चारों ही सचेतन हैं, क्योंकि उनमें जीव के लक्षण दिखाई देते हैं। किन्तु आकाश अमूर्त है और वह केवल जीव का आधार ही बनता है। वह सजीव नहीं है। [१७८२]

व्यक्त—पृथ्वी के सचेतन होने में क्या हेतु है?

भगवान्—सुनो पृथ्वी सचेतन है क्योंकि उसमें स्त्री में दृष्टिगोचर होने वाले जन्म, जरा, जीवन, मरण, लवणरहित आहार, दोहद, रोग, चिकित्सा इत्यादि लक्षण पाये जाते हैं।

व्यक्त—अचेतन में भी जन्म आदि दिखाई देते हैं जैसे दही उत्पन्न हुआ। जीवित विष, निश्चित कसुम्भा जैसे प्रयोग से लता आदि में भी जन्म इत्यादि है, फिर भी वह सजीव नहीं।

भगवान्—दही आदि अचेतन वस्तु में ऐसा प्रयोग औपचारिक है, क्योंकि उसमें जरादि सभी धर्म मनुष्य के समान दिखाई नहीं देते। किन्तु लता में तो ये जन्मादि सभी भाव निरुपचरित हैं अतः उन्हें सचेतन मानना चाहिए।

[illegible] (राजवल्ली) [illegible] होता है। [illegible] यह भी सिद्ध है कि [illegible] [१७१२-१५]

पुनश्च, जैसे मनुष्य आदि जीवों में अंश से मांस का अंकुर फूटता है, अर्थात एक बार अंश का काटने के बाद फिर उसमें मांस के अंकुर उत्पन्न होते हैं, वैसे वृक्ष समूह, विद्रुम, लवण तथा उपल में भी जब तक वे स्वाध्यस्थान में होते हैं तब तक एक बार छिन्न होने के बाद पुनः स्वजातीय अंकुरों का प्रादुर्भाव होता है और वे बढ़ते हैं। अतः उनमें जीव है।

व्यक्त- पृथ्वी आदि भूतों का सचेतन सिद्ध करने का प्रसंग है अतः सर्वप्रथम पृथ्वी को ही सजीव सिद्ध करना चाहिए था। उसके स्थान पर प्रवाल वनस्पति में तथा तत्पश्चात विद्रुम (प्रवाल) लवणादि रूप पृथ्वी में सजीवता सिद्ध करने का क्या कारण है?

भगवान—लौकिक प्रसिद्धि के अनुसार वनस्पति भी पृथिवीभूत का विकार है अतः पृथ्वीभूत में उसका समावेश है। वह कोई स्वतन्त्र भूत नहीं है। इसके अतिरिक्त वनस्पति में जैसे स्पष्ट चेतन के लक्षण दिखाई देते हैं वैसे विद्रुम आदि में नहीं है। इन कारणों से पहले वृक्ष में ही सचेतनता सिद्ध की है। [१७१८]

व्यक्त -जल को सचेतन कैसे सिद्ध किया जा सकता है?

भगवान—जमीन खोदने से जमीन से सजातीय-स्वरूप स्वाभाविक रूप से पानी निकलने के कारण वह मेढक के समान सजीव है। अथवा मेढकों के समान बादलों से गिरने के कारण आकाश का पानी सजीव है। [१७१७]

व्यक्त— वायु की सजीवता कैसे मानी जाए?

भगवान— जैसे गाय, घोड़े की प्रेरणा के बिना ही अनियमित रूप से तिरछे गमन करती है वैसे वायु भी गति करती है अतः वह सजीव है।

व्यक्त अग्नि की सजीवता का क्या कारण है?

भगवान्—जैसे मनुष्य में आहार आदि से वृद्धि और विकार दृष्टिगोचर होते हैं वैसे ही अग्नि में भी काष्ठ के आहार से वृद्धि और विकार दिखाई देते हैं। अतः वह मनुष्य के समान सजीव है। [१७१८]

पृथ्वी आदि चारों भूत जीव द्वारा उत्पन्न तथा जीव के आधारभूत शरीर हैं। कारण यह है कि वे अभ्रविकार से भिन्न प्रकार की भूत जाति के द्रव्य हैं जैसे कि गाय आदि का शरीर। ये शरीर जब तक शस्त्रोपहत न हों तब तक सजीव हैं तथा शस्त्रोपहत होने के बाद वे निर्जीव हो जाते हैं। [१७५९]

हे सौम्य! यदि संसार में पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीव न हों तो संसार का ही विच्छेद हो जाए। कारण यह है कि संसार में से अनेक जीव मोक्ष में जाते रहते हैं तथा नए जीव उत्पन्न नहीं होते। लोक भी अति परिमित है अतः उसमें स्थूल जीव तो थोड़े में ही रह सकते हैं इसलिए संसार जीव रहित हो जाएगा। किन्तु यह बात कोई भी स्वीकार नहीं करता कि संसार जीव रहित हो जाता है। अतः पार्थिव आदि एकेन्द्रिय जीवों की अनन्त संख्या माननी चाहिए। ये जीव भूतों को अपना आधारभूत शरीर बनाकर उनमें उत्पन्न होते हैं। [१७६०-६१]

व्यक्त यदि पृथ्वी आदि भूतों में आपके कथनानुसार अनन्त जीव हों तो साधु को भी आहारादि लेने के कारण अनन्त जीवों की हिंसा का दोष लगेगा। इससे अहिंसा का अभाव हो जाएगा।

### भूतों के सजीव होने पर भी अहिंसा का सद्भाव

भगवान—अहिंसा का अभाव नहीं होता क्योंकि मैं पहले ही कह चुका हूँ कि शस्त्रोपहत पृथ्वी आदि भूतों में जीव नहीं होता। वे सभी भूत निर्जीव होते हैं।

तुम्हें हिंसा और अहिंसा का विवेक करना चाहिए। लोक जीवों से परिपूर्ण है, केवल इतने से ही हिंसा हो जाती है यह बात नहीं है। [१७६२]

अपि च यह भी ठीक नहीं है कि कोई व्यक्ति जीव का घातक बना और इसी से वह हिंसक हो गया। यह भी असंगत है कि एक व्यक्ति किसी जीव का घातक नहीं, अतः वह निश्चयपूर्वक अहिंसक है। यह बात भी नहीं है कि थोड़े जीव हों तो हिंसा नहीं होती और अधिक जीव हों तो हिंसा होती है। [१७ ]

व्यक्त—फिर किसी को हिंसक या अहिंसक कैसे समझना चाहिए?

### हिंसा अहिंसा का विवेक

भगवान—जीव की हत्या न करने पर भी दुष्ट भावों के कारण कसाई के समान हिंसक कहलाता है तथा जीव का घातक होने पर भी शुद्ध भावों के कारण सुवैद्य के समान अहिंसक कहलाता है। इस प्रकार अनुक्रम से शुद्ध तथा दुष्ट भावों के कारण जीव को मारने पर भी अहिंसक तथा न मारने पर भी हिंसक कहलाता है। [१७६४]

व्यक्त किसी के मन के भावों को कैसे जाना जाए ?

भगवान—पांच समिति तथा तीन गुप्ति सम्पन्न साधु सावधान होता है किन्तु इसके विपरीत जो असंयमी है वह हिंसक है। उक्त संयमी से जीव का घात हो या न हो किन्तु उससे वह हिंसक नहीं कहलाता, क्योंकि हिंसक होने का आधार आत्मा के अध्यवसाय पर है। बाह्य निमित्त रूप जीवघात तो अनिवार्य है। [१७६५]

व्यक्त—यह कैसे ?

भगवान—वस्तुतः निश्चय नय से अशुभ परिणाम का नाम ही हिंसा है। यह अशुभ परिणाम बाह्य जीवघात को अपना रूप भी सकता है और नहीं भी रखता। साराश यह है कि अशुभ परिणाम ही हिंसा है। बाह्य जीव का घात हुआ हो या न हुआ हो अशुभ परिणाम वाला जीव हिंसक है। [१७६६]

व्यक्त—तो क्या बाह्य जीव का घात हिंसा नहीं कहलाती ?

भगवान—जो जीव-वध अशुभ परिणामजन्य हो अथवा अशुभ परिणाम का जनक हो वह जीव-वध तो हिंसा ही है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जीव-वध सर्वथा हिंसा है ही नहीं। जो जीव-वध अशुभ परिणाम से जन्य नहीं अथवा अशुभ परिणाम का जनक नहीं, वह हिंसा की कोटि में नहीं आता। [१७६७]

जैसे इन्द्रियों के विषय रूप, शब्दादि वीतराग पुरुष के लिए राग के जनक नहीं होते, क्योंकि वीतराग पुरुष के भाव शुद्ध हैं वैसे ही संयमी का जीव-वध भी हिंसा नहीं है। कारण यह है कि उसका मन शुद्ध है।

अतः हे व्यक्त ! यह कहना ठीक नहीं कि लोक-जीव संकुल है, अतः संयमी को भी हिंसा का दोष लगेगा और अहिंसा का अभाव हो जाएगा।

इस तरह यह बात सिद्ध हो गई कि संसार में पांच भूत हैं, उनमें पहले चार—पृथ्वी, जल, तेज, वायु सजीव हैं और पांचवां आकाश निर्जीव है।

व्यक्त—प्रमाण से पांच भूतों की सिद्धि हुई, किन्तु वेद-वचन के विरोध के विषय में आप क्या कहते हैं ?

**वेद-वचन का समन्वय**

भगवान्—वेद में संसार के सभी पदार्थों को स्वप्न-सदृश कहा है इसका अर्थ यह नहीं है कि उनका सर्वथा अभाव है। किन्तु अन्य जीव इन पदार्थों में अनुरक्त होकर मूढ़ न हो जाएं उनमें आसक्त न हो जाएं इस उद्देश्य से उन्हें स्वप्नोपम अथवा असार बताया गया है। मनुष्य संसार के परिग्रह से मुक्त हो कर

सुधर्मा—हाँ, भगवन्! आपका मेरे मन की बात ठीक-ठीक कह दी है किन्तु मेरी भावना अयुक्त क्यों है?

**सत्य निर्धारण—कारण से विलक्षण कार्य**

भगवान—यह कोई सार्वत्रिक नियम नहीं है कि कार्य कारण के सदृश ही होता है। मृग के सींग नामक वनस्पति उत्पन्न होती है और उसी पर यदि सरसों का वपन किया जाए तो पुनः उसी में से अमुक प्रकार का धान उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त गाय तथा बकरी के बालों से दूर्वा उत्पन्न होती है। इस प्रकार नाना प्रकार के द्रव्यों के संयोग से विलक्षण वनस्पति की उत्पत्ति का वर्णन वनायुर्वेद में है। इससे सिद्ध होता है कि यह कोई नियम नहीं है कि कार्य कारणानुरूप ही होता है। कार्य कारण से विलक्षण भी हो सकता है। योनिप्राभृत के योनि-वर्णन से भी सिद्ध होता है कि नाना द्रव्यों के संमिश्रण से सर्प सिंहादि प्राणियों की तथा सुवर्ण व मणि की उत्पत्ति होती है। अतः यह मानना चाहिए कि कार्य कारण से विलक्षण भी उत्पन्न हो सकता है। यह एकान्त नहीं है कि कार्य कारणानुरूप ही होना चाहिए। [१७३४-७५]

**कारण वैचित्र्य से कार्य वैचित्र्य**

कारणानुरूप कार्य मानने पर भी भवान्तर में विचित्रता की सम्भावना है। अर्थात् कारणानुरूप कार्य स्वीकार करके भी यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि मनुष्य मरकर मनुष्य ही बनता है।

सुधर्मा—यह कैसे?

भगवान्—यदि तुम बीज के अर्थात् कारण के अनुरूप ही अंकुर अर्थात् कार्य की उत्पत्ति मानते हो तो भी तुम्हें परजन्म में जीव में वैचित्र्य मानना ही पड़ेगा। कारण यह है कि भवांकुर का बीज मनुष्य नहीं किन्तु उसका कर्म है और वह विचित्र होता है। अतः इसमें कोई नई बात नहीं कि मनुष्य का परभव विचित्र हो। जब कारण ही विचित्र है तो कार्य भी विचित्र होगा ही।

सुधर्मा—कर्म की विचित्रता का क्या कारण है?

भगवान—कर्म के हेतुओं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग में विचित्रता है अतः कर्म भी विचित्र है। कर्म के विचित्र होने के कारण जीव का भवांकुर भी विचित्र ही होगा। यह बात तुम्हें माननी ही चाहिए। अतः मनुष्य मर कर अपने कर्मों के अनुसार नारक, देव, अथवा तिर्यंच रूप में भी जन्म ले सकता है। [१७३६-७८]

# पंचम गणधर सुधर्मा

## इस भव तथा परभव के सादृश्य की चर्चा

### (कार्य-कारण के सादृश्य की चर्चा)

उन सब के दीक्षित होने का समाचार सुनकर सुधर्मा भी यह विचार कर भगवान् के पास आया कि उनके निकट जाकर उन्हें नमस्कार करूँ तथा उनकी सेवा करूँ। [१७३०]

जन्म-जरा-मरण से मुक्त भगवान सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी थे, अतः उन्होंने उस नाम गोत्र-पूर्वक सम्बोधित करते हुए कहा 'सुधर्मा अग्निवैश्यायन'। [१७३१]

**इह-परलोक के सादृश्य असादृश्य का संशय**

फिर भगवान ने उससे कहा वेद में कहा है 'पुरुषो वै पुरुषत्वमेवाश्नुते, पशवः पशुत्वम्'[1] अन्य स्थान पर कहा है 'शृगालो वै एष जायते यः स पुरीषो दह्यते'। अतः तुम्हें यह संशय है कि जीव जैसा इस भव में है वैसा ही परभव में भी होता है या नहीं? कारण यह है कि तुम प्रथम वाक्य का यह तात्पर्य समझे हो कि जीव भवान्तर में भी मनुष्य ही रहता है तथा दूसरे वाक्य का तात्पर्य तुम यह समझते हो कि भवान्तर में जीव के अमानुष्य की सम्भावना है। अतः वेद-वाक्यों में परस्पर विरोध प्रतीत होने से तुम्हें संशय हुआ है किन्तु यह संशय सार नहीं है। उन वाक्यों का तुम जो अर्थ समझते हो वह यथार्थ नहीं है। मैं तुम्हें उनका वास्तविक अर्थ बताऊँगा तब तुम्हारा संशय दूर हो जायगा। [१७३२]

**कारण-सदृश कार्य**

पहले तुम्हारे भ्रम का निवारण करना आवश्यक है। तुम यह समझते हो कि कारण जैसा ही कार्य होता है। जैसे कि मिट्टी, घट आदि का कारण है। इस से तुम यह स्वीकार करते हो कि यह निश्चित है कि परभव में भी जीव के अनुरूप ही होता है। कि इस तुम्हारी यह धारणा अयुक्त है। [१७३३]

---

1. पुरुष पुरुष ही प्राप्त करता है। पशु पशु ही प्राप्त करता है।
2. जिस शरीर को जलाया जाता है वह शृगाल का जन्म धारण करता है।

[illegible]

[illegible]

[illegible] [१७७४-७५]

कारण व कार्य [illegible]

कारणानुरूप कार्य [illegible] की महत्ता है। यद्यपि कारणानुरूप कार्य [illegible] नहीं किया जा सकता कि मनुष्य मरकर मनुष्य ही बनता है।

सुधर्मा — [illegible]?

भगवान् — [illegible] के अनुरूप ही अंकुर [illegible] कार्य की उत्पत्ति मानते हो तो तुम्हें परभव में भी [illegible] मानना ही चाहिए। कारण यह है कि भवांकुर का बीज मनुष्य नहीं किन्तु उसका कर्म है, और वह विचित्र होता है। अतः [illegible] नहीं कि मनुष्य का परभव विचित्र हो। जब कारण ही विचित्र है तो कार्य भी विचित्र होगा ही।

सुधर्मा — कर्म की विचित्रता का क्या कारण है?

भगवान् — कर्म [illegible] मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग [illegible] विचित्रता है, अतः कर्म भी विचित्र है। कर्म के विचित्र होने के कारण [illegible] भवांकुर भी विचित्र ही होगा। यह बात तुम्हें माननी ही चाहिए। अतः मनुष्य मर कर अपने कर्मों के अनुसार नारक, देव, अथवा तिर्यंच रूप में भी [illegible] है। [१७७६-७८]

उक्त वस्तु को सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रमाण भी है। वह यह है—जीवों की सांसारिक अवस्था नारकादि रूप में विचित्र है, क्योंकि वह विचित्र कर्म का फल अथवा कार्य है। जो विचित्र हेतु का फल होता है वह विचित्र होता है जैसे कृषि आदि विचित्र कर्म का फल लोक में विचित्र दृष्टिगोचर होता है। [१७९]

सुधर्मा—कर्म की विचित्रता का क्या प्रमाण है ?

भगवान्—कर्म पुद्गल का परिणाम है अतः उसमें बाह्य अभ्रादि विकार के समान अथवा पृथ्वी आदि के विकार के समान विचित्रता है। जो विचित्र परिणति वाला नहीं होता वह आकाश के समान पुद्गल का परिणाम भी नहीं होता। यद्यपि पुद्गल के परिणाम के रूप में कर्म के सभी परिणाम समान हैं तथापि कर्म की आवरण रूप से जो विशेषता है वह मिथ्यात्व आदि सामान्य हेतुओं तथा ज्ञानी के प्रद्वेष आदि विशेष हेतुओं की विचित्रता के कारण है। [१७०]

सुधर्मा—क्या इस भव के समान परभव कभी सम्भव ही नहीं है ?

**इस भव की तरह पर भव विचित्र है**

भगवान्—यदि इस भव के अनुरूप परभव मानना हो तो भी जैसे इस भव में कर्मफल की विचित्रता दृश्य है वैसे परभव में भी माननी चाहिए। अर्थात् इस भव में जीव शुभाशुभ विचित्र क्रिया करते हैं, विचित्र कर्म करते हैं उनके अनुरूप ही परभव में भी विचित्र फल मानना चाहिए। [१७१]

सुधर्मा—कृपया आप इसे स्पष्टतापूर्वक समझाएँ।

भगवान्—इस संसार में जीव नाना प्रकार से कर्म बांधते हैं, कुछ नारक योग्य कर्मबंध करते हैं तथा कुछ देव आदि योनि के योग्य। यह बात सभी को प्रत्यक्ष है। अब यदि परलोक में इन कर्मों का फल उन्हें मिलना ही हो तो हम कह सकते हैं कि इस लोक में उन के कर्म या उन की क्रिया की जैसी विचित्रता है वैसी ही परलोक में उन जीवों की विचित्रता होगी। अतः एक अपेक्षा से तुम्हारा कथन ठीक ही है कि इस भव में जो जैसा होता है वह परलोक में भी वैसा ही होता है। अर्थात् जो इस भव में अशुभ कर्म बांधता है वह परभव में भी अशुभ कर्मों को भोगने वाला होता है। इस प्रकार जैसे को तैसा इस अर्थ की अपेक्षा से तुम्हारा न्याय भी युक्त हो जाता है। [१७२]

**कर्म का फल परभव में भी होता है**

सुधर्मा—इस भव में ही जिसका फल मिलता है ऐसा कृषि आदि कर्म ही संभव है किन्तु परभव के लिए जो दानादि कर्म किए जाते हैं उनका कुछ भी फल नहीं मिलता। अतः परभव में विचित्रता का कोई कारण नहीं रहेगा। वैसे इस

भव में जीव मनुष्यादि के रूप में जन्मा होगा, वैसा ही वह पर भव में भी रहेगा उसमें वैसादृश्य का अवकाश नहीं रहता।

भगवान्—ऐसी बात मानने से तो पर भव में जीव का तुम्हें जो इष्ट है वह सदृश सादृश्य घटित ही नहीं होता। पर भव में जीव की उत्पत्ति का कारण कर्म है किन्तु तुम उस कर्म या कर्म के फल को परलोक में मानते ही नहीं।

सुधर्मा—कर्म के बिना भी जीव परलोक में सदृश ही होता है।

भगवान्—इस में तो निष्कारण की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, क्योंकि परलोक में सादृश्य के किसी भी कारण के अभाव में उसकी उत्पत्ति हुई किन्तु उत्पत्ति निष्कारण नहीं होती। अतः यह मानना पड़ेगा कि जो कर्म नहीं किया, उसका फल मिला, तथा परलोक के लिए जो दानादि क्रिया की थी वह निष्फल सिद्ध हुई। इस प्रकार कृत का नाश स्वीकार करना होगा। [१७९]

अपि च यदि दानादि क्रिया परलोक में निष्फल होगी तो वस्तुतः कर्म का ही अभाव हो जाएगा। कर्म के अभाव में परलोक की ही सत्ता नहीं रहेगी। फिर सादृश्य का प्रश्न ही कैसे उत्पन्न होगा?

सुधर्मा—कर्म के अभाव में भी भव मानने में क्या आपत्ति है?

### कर्म के अभाव में संसार नहीं

भगवान्—ऐसी स्थिति में भव का नाश भी निष्कारण मानना पड़ेगा। अतः मोक्ष के लिए तपस्या आदि अनुष्ठान भी व्यर्थ ही सिद्ध होंगे। फिर यदि भव निष्कारण हो सकता है तो जीव के वैसादृश्य को भी निष्कारण ही क्यों न मान लिया जाए? [१७८४]

सुधर्मा—कर्म के अभाव में स्वभाव से ही परभव मानने में क्या हानि है? जैसे कर्म के बिना भी मिट्टी के पिण्ड से उसके अनुरूप घट का निर्माण स्वभावतः होता है, वैसे ही जीव की सदृश जन्म परम्परा स्वभाव से ही होती है।

### परभव स्वभाव जन्य नहीं

भगवान्—घट भी केवल स्वभाव से ही उत्पन्न नहीं होता, किन्तु वह कर्त्ता, करण आदि की भी अपेक्षा रखता है। इसी प्रकार जीव के विषय में भी जीव का तथा उसके परभव के शरीर आदि के निर्माण में करण की अपेक्षा है। संसार में जो करण होता है वह कर्ता से तथा कार्य से कुम्भकार और घट से—चक्र के समान भिन्न होता है। इसलिए जीवरूप कर्ता से तथा पारभविक शरीर रूप कार्य से प्रस्तुत में भी करण पृथक् होना चाहिए। वही कर्म है।

सुधर्मा— घटादि कार्य में कुम्भकार, चक्र आदि रूप कर्त्ता और करण रूप सिद्ध हैं, अतः उन्हें मानने में आपत्ति नहीं है किन्तु शरीरादि कार्य तो वृक्ष के विकार के समान स्वाभाविक ही है इसलिए उसके निर्माण में कर्म रूप कारण की आवश्यकता नहीं है।

भगवान् तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि शरीर आदि है तथा प्रतिनियत (निश्चित) आकार वाला भी है, अतः घट के समान उसका कोई कर्त्ता और करण होना चाहिए। तुमने कारणानुरूप कार्य का जो सिद्धान्त स्वीकार किया है वह भी वृक्ष के विकार रूप दृष्टान्त में घटित नहीं होता होता। कारण यह है कि वृक्ष के विकार अपने कारण रूप द्रव्य पुद्गल से अति विलक्षण दिखाई देते हैं। सारांश यह है कि शरीर आदि कार्य को स्वाभाविक नहीं माना जा सकता। [१७८८]

अपि च स्वभाव[1] क्या है? वस्तु है? निष्कारणता है? अथवा वस्तु धर्म है? यदि तुम उसे वस्तु मानते हो तो उसकी उपलब्धि होनी चाहिए, किन्तु आकाश कुसुम के समान उसकी उपलब्धि नहीं होती। अतः स्वभाव कोई वस्तु नहीं है। [१७८९]

**स्वभाववाद का निराकरण**

यदि आकाश कुसुम के समान अत्यन्त अनुपलब्ध होने पर भी स्वभाव के अस्तित्व स्वीकार करते हो तो फिर अनुपलब्ध होने पर कर्म का अस्तित्व क्यों नहीं स्वीकार करते? जिस कारण के आधार पर स्वभाव का अस्तित्व मानते हो उसी कारण से कर्म का अस्तित्व भी मान लेना चाहिए। [१७९०]

कल्पना करो कि मैं स्वभाव का ही दूसरा नाम कर्म रख देता हूँ तब तुम्हें क्या बाधा उत्पन्न होती है? अपि च, यदि स्वभाव हमेशा मनुष्य ही रहता है तो मनुष्य एकरूप कार्य वाले अर्थात् मनुष्य मर कर मनुष्य हो। किन्तु मैं पूछता हूँ कि स्वभाव अनेक रूप वाला क्यों बनता है? यदि तुम यह कहो कि स्वभाव का स्वभाव ही ऐसा है कि वह अनेक रूप बनता है, अतः उसमें संशय भय नहीं होता है तो मेरे कर्म के उत्तर में यह भी कहा जा सकता है कि स्वभाव का स्वभाव ही ऐसा है कि जिससे विचित्र भव उत्पन्न होता है। [१७९८]

पुनश्च स्वभाव मूर्त है अथवा अमूर्त? यदि स्वभाव मूर्त है तो [illegible] कर्म के बराबर [illegible] है? तो मूर्त होने से समान ही है। तुम जिस स्वभाव को [illegible]

---

1. [illegible] स्वभाव [illegible] के विषय में [illegible] की गई है। उन्हें देखने से [illegible] [illegible] 1793 का [illegible] 1643 के [illegible] [illegible] है।

उसे ही मैं कम कहता हूँ। इनमें केवल नामका भेद है। स्वभाव परिणामी होने के कारण दूध के समान सदा एक जैसा भी नहीं रह सकता। अथवा बादल के समान मूर्त होने के कारण भी स्वभाव एक जैसा नहीं रह सकता।

सुधर्मा—स्वभाव मूर्त नहीं परंतु अमूर्त है।

भगवान्—यदि स्वभाव अमूर्त है तो उपकरण रहित होने से वह शरीर आदि कार्यों का उत्पादक नहीं हो सकता। जैसे कुम्भकार दण्डादि उपकरण के बिना घट का निर्माण नहीं कर सकता वैसे स्वभाव भी उपकरण के अभाव में शरीर आदि का निर्माण नहीं कर सकता अथवा अमूर्त होने से आकाश के समान वह कुछ भी नहीं कर सकता।

पुनश्च, शरीर आदि कार्य मूर्त है तो भी हे सुधर्मन! अमूर्त स्वभाव से उसका निष्पादन सम्भव नहीं है जैसे अमूर्त आकाश से मूर्त कार्य नहीं होता। मूर्त कर्म को माने बिना सुख संवेदन आदि भी घटित[1] नहीं होता। इसकी विशेष चर्चा अग्निभूति के साथ की ही गई है। अतः स्वभाव को अमूर्त भी नहीं माना जा सकता। [१७८९–९०]

सुधर्मा- ऐसी स्थिति में दूसरे विकल्प के अनुसार स्वभाव अर्थात निष्कारणता यह उपयुक्त प्रतीत होता है।

भगवान्—स्वभाव को निष्कारणता मान कर भी परभव में सादृश्य कैसे घटित होगा? यदि सादृश्य का कोई कारण नहीं है तो वैसादृश्य का कारण भी क्या माना जाए? अर्थात सादृश्य के समान वैसादृश्य भी कारण रहित हो जाएगा। फिर कारण न होने से भव का विच्छेद ही क्यों नहीं हो जाता? अर्थात मोक्ष भी निष्कारण मानना चाहिए। यदि शरीरादि की उत्पत्ति कारण विहीन है तो खर विषाण की उत्पत्ति क्यों नहीं हो जाती? कारण के बिना शरीरादि का प्रतिनियत आकार भी कैसे होगा? बादलों के समान अनियत आकार वाला शरीर क्यों उत्पन्न नहीं होता? स्वभाव को निष्कारणता मानने से इन समस्त प्रश्नों का समाधान नहीं होता। अतः अकारणता को स्वभाव नहीं माना जा सकता। [१७९१]

सुधर्मा—फिर स्वभाव को वस्तु धर्म मानना चाहिए।

भगवान्—यदि स्वभाव वस्तु धर्म हो तो वह सदा एक जैसा नहीं रह सकता ऐसी दशा में वह सदृश शरीरादि को किस प्रकार उत्पन्न कर सकेगा?

सुधर्मा—किन्तु वस्तु धर्मरूप स्वभाव सदा सदृश क्यों नहीं रह सकता?

भगवान्—कारण यह है कि वस्तु की पर्याय उत्पाद स्थिति भंगरूप विचित्र होती हैं, अतः वे सदा सदृश नहीं रह सकतीं। वस्तु के नीलादि धर्मों का अन्य रूप

---

1 गाथा 1625 1626

एक जीव प्रथम मनुष्य है, किन्तु मरकर जब वह देव बनता है तब सत्यादि धर्मों के कारण अपनी पूर्वावस्था के साथ तथा समस्त विश्व के साथ उसकी समानता होने पर भी देवत्वादि धर्मों के कारण पूर्वावस्था से असमानता है। उसी प्रकार वही मनुष्य जीव रूप से नित्य है किन्तु मनुष्यादि पर्याय-रूप से अनित्य है। जीव जैसे समान और असमान धर्मों वाला है वैसे ही वह नित्य और अनित्य भी है। उसमें इसी प्रकार अन्य अनेक विरोधी धर्मों की भी सिद्धि होती है। अतः परभव में जीव में सर्वथा सादृश्य नहीं है।

सुधर्मा—मेरे मतानुसार भी कारण के साथ कार्य का सर्वथा सादृश्य नहीं है। किन्तु अब मैं यह कहता हूँ कि 'पुरुष मरकर पुरुष होता है' तब मेरा तात्पर्य केवल जाति के अन्वय से है। अर्थात् जाति नहीं बदलती, यही कथन करना मुझे इष्ट है।

**पर भव में वही जाति नहीं**

भगवान—किन्तु यदि तुम पर भव को कर्मजन्य मानते हो तो कर्म के हेतु की विचित्रता के कारण कर्म को भी विचित्र ही मानना पड़ेगा। फलतः कर्म का फल भी विचित्र स्वीकार करना होगा। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि पर भव में उसी जाति का अन्वय रहता है। [१७९८]

अपि च, यदि जाति समान ही रहती है तो समान जाति में भी जो उत्कर्ष अपकर्ष दिखाई देता है, वह घटित नहीं होता। जो पुरुष इस भव में सम्पत्तिशाली हो उसे पर भव में भी वैसा ही रहना चाहिए। जो इस भव में दरिद्र हो उसे पर भव में भी दरिद्र होना चाहिए। फलतः पर भव में उत्कर्ष तथा अपकर्ष का अवकाश नहीं रहेगा। यदि यही बात हो तो दानादि का फल वृथा सिद्ध होगा उसे निष्फल मानना पड़ेगा। किन्तु दानादि को निष्फल नहीं मान सकते। कारण यह है कि लोग इसी भावना से दानादि सत्कार्य में प्रवृत्त होते हैं कि परलोक में उन्हें देवताओं की समृद्धि मिले जिससे उनका उत्कर्ष हो। यदि सत्कार्य का कोई फल ही नहीं होता तो लोग दानादि में क्यों प्रवृत्त होंगे? [१७९९]

**वेद वाक्यों का समन्वय**

अपि च जाति सादृश्य का यदि एकान्त आग्रह रखा जाए तो वेद के निम्नलिखित वाक्य का विरोध होगा—'शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते।' अर्थात् 'जिसे मल मूत्र सहित जलाया है वह शृगाल बनता है।' उक्त वेद-वाक्य से यह सिद्ध होता है कि पुरुष मरकर शृगाल हो सकता है। इसके अतिरिक्त 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' अर्थात् स्वर्ग का इच्छुक अग्निहोत्र करे तथा 'अग्निष्टोमेन यमराज्यमभिजयति' अर्थात् 'अग्निष्टोम से यमराज्य पर विजय प्राप्त करता है'

इत्यादि वाक्यों में मनुष्य की स्वर्ग प्राप्ति तथा देवत्व प्राप्ति का उल्लेख है, यह भी बाधित हो जाएगा। अतः परलोक में जाति-सादृश्य का आग्रह नहीं रखना चाहिए।

सुधर्मा—फिर वेद में यह कथन किसलिए किया है कि 'पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते पशव पशुत्वम्। अर्थात् पुरुष मर कर पुरुष होता है तथा पशु मर कर पशु होते हैं आदि।

भगवान—तुम इस वाक्य का यथार्थ अर्थ नहीं जानते, इसीलिए तुम्हें भ्रम होता है। इसका अर्थ यह है—जो मनुष्य इस भव में सज्जन प्रकृति का होता है विनयी दयालु तथा अमत्सरी होता है वह मनुष्य-नाम-कर्म तथा मनुष्य गोत्रकर्म का बन्धन करता है। तत्पश्चात् वह मर कर उस कर्म के कारण पुनः मनुष्यरूप जन्म ग्रहण करता है। सभी मनुष्य उक्त कर्म का बन्धन नहीं करते अतः अन्य पुरुष निम्न प्रकार के कर्म-बन्धन के कारण अन्यान्य योनि में जन्म लेते हैं। इसी प्रकार कर्म में जो पशु माया के कारण पशु-नाम-कर्म तथा पशु-गोत्र-कर्म का उपार्जन करते हैं वे पर भव में भी पुनः पशुरूप में उत्पन्न होते हैं। सभी पशु उक्त कर्म का बन्धन नहीं करते, अतः सभी पशुरूप में अवतरित नहीं होते। इस प्रकार जीव की गति कर्मानुसारी है। [१८००]

उक्त प्रकार से जरा मरण से रहित भगवान ने जब उसके संशय का निवारण किया तब सुधर्मा ने अपने ५०० शिष्यों के साथ जिन दीक्षा अंगीकार की। [१८०१]

# छठे गणधर मण्डिक

## बन्ध मोक्ष-चर्चा

उन सब के दीक्षित होने का समाचार पाकर मण्डिक ने विचार किया कि मैं भगवान् के पास जाऊँ, उन्हें नमस्कार करूँ तथा उनकी सेवा करूँ। यह विचार कर वह भगवान् के पास गया। [१८०२]

जाति-जरा-मरण से रहित भगवान् ने 'सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होने के कारण उस 'मण्डिक वशिष्ठ! कह कर सम्बोधित किया। [१८०३]

**बन्ध मोक्ष का संशय**

तथा उसे कहा—वेद में एक वाक्य है "स एष विगुणो विभुर्न बध्यते संसरति वा, न मुच्यते मोचयति वा, न वा एष बाह्यमभ्यन्तरं वा वेद इससे तुम्हें यह प्रतीत होता है कि जीव के बन्ध और मोक्ष नहीं होते। किन्तु एक दूसरा वाक्य यह है—न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रियोरपहतिरस्ति अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः[2]। इससे तुम यह समझते हो कि जीव सशरीर और अशरीर इन दो अवस्थाओं को प्राप्त होता है अर्थात जीव के बन्ध व मोक्ष है। इस प्रकार वेद वाक्यों का कथन परस्पर विरोधी होने से तुम्हारे मन में सन्देह है कि वस्तुतः जीव के बन्ध व मोक्ष होते हैं या नहीं।

किन्तु तुम उक्त वाक्यों का यथार्थ अर्थ नहीं जानते, इसीलिए तुम्हें यह संदेह है मैं तुम्हें उनका ठीक-ठीक अर्थ बताऊँगा। [१८०४]

अपि च तुम युक्ति से भी बन्ध मोक्ष का अभाव सिद्ध करते हो, किन्तु वेद में उनका सद्भाव प्रतिपादित किया है। इसलिए भी तुम्हें संशय होता है कि बन्ध मोक्ष की सत्ता है या नहीं। बन्ध मोक्ष के विरोध में तुम ये युक्तियाँ देते हो—

यदि जीव का कर्म के साथ संयोग ही बन्ध है तो वह बन्ध सादि है या अनादि? यदि वह सादि है तो प्रश्न होता है कि १ प्रथम जीव तथा तत्पश्चात कर्म

---

1 अर्थात यह आत्मा सत्वादि गुणरहित विभु है। उसे पुण्य पाप का बन्ध नहीं होता अथवा उसका संसार नहीं है। वह कर्म से मुक्त नहीं होता कर्म को मुक्त नहीं करता, अर्थात वह अकर्ता है। वह बाह्य या आभ्यन्तर कुछ भी नहीं जानता क्योंकि ज्ञान प्रकृति का धर्म है।

2 अर्थात सशरीर जीव के प्रियाप्रिय का [सुख दुःख का नाश नहीं होता किन्तु अशरीर अमूर्त जीव को प्रियाप्रिय का सुख दुःख का स्पर्श भी नहीं होता।

उत्पन्न होता है ? अथवा २ प्रथम कर्म और तदुपरान्त जीव उत्पन्न हो
अथवा ३ वे दोनों साथ ही उत्पन्न होते हैं ? [१८०५]

इस प्रकार तुम सादि बन्ध के विषय में तीन विकल्पों की कल्पना करते
मानते हो कि इन तीनों अपेक्षाओं से सादि बन्ध की सिद्धि नहीं होती। इस मत
में तुम ये युक्तियाँ देते हो।

**जीव कर्म से पूर्व नहीं हो सकता**

१ कर्म से पहले आत्मा की उत्पत्ति शक्य नहीं हो सकती। कारण यही
कि खर शृंग के समान उसका कोई हेतु नहीं है। यदि आत्मा की उत्पत्ति बिना
मानी जाए तो उसका विनाश भी निर्हेतुक मानना होगा। [१८०६]

यदि कोई कहे कि जीव तो अनादि सिद्ध है अतः उसकी उत्पत्ति का विचार
ही क्या ? तो तुम उसका समाधान ऐसे करते हो कि जीव के अनादि सिद्ध होने
पर उसका कर्म के संयोग ही नहीं होगा क्योंकि वह संयोग कारण शून्य होगा।
यदि कारण के अभाव में भी जीव का कर्म संयोग माना जाए तो मुक्त जीव को
पुनः भी पुनः बद्ध होने का तो नाम ही मुक्ति में विश्वास ही क्या रहेगा ? इस
प्रकार का बन्ध अनुचित नहीं हो सकता। [१८०७]

तथा यदि जीव का बन्ध भी न माना जाएगा तो उसे नित्य मुक्त ही मानना
पड़ेगा अथवा कर्म के अभाव में उसे मुक्त भी कैसे कह सकते हैं ? क्योंकि बन्ध
के बिना मोक्ष का होना ही नहीं है। जैसे आकाश में बन्ध नहीं है तो मोक्ष भी नहीं
है वैसे जीव में भी बन्ध के अभाव में मोक्ष का भी अभाव होगा। इस प्रकार बन्ध
मानने से ही जीव का कर्म से पहले स्वीकार करने पर बन्ध मोक्ष का अभाव
होता है। [१८०८]

**कर्म जीव से पहले सम्भव नहीं**

२ तुम्हारे मतानुसार जीव से पहले कर्म की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं है।
कारण यह है कि जीव कर्म का कर्ता माना जाता है। यदि कर्ता हो तो ही कर्म
का होना माना है ? तथा जीव के समान ही कर्म की निर्हेतुक उत्पत्ति स्वीकार
करनी। यदि कर्म की उत्पत्ति बिना किसी के कर्म में माना जाएगा तो उसे
कर्म में ही विनाश मानना पड़ेगा। उत्पत्ति या विनाश निर्हेतुक होने
से। इस कर्म का जीव से पहले नहीं माना जा सकता।

**तथा कर्म समकाल में भी नहीं है**

३ यदि जीव और कर्म दोनों साथ उत्पन्न होते हैं तो जीव को कर्म का
कर्ता नहीं कहा जा सकता। जैसे सींग में एक साथ उत्पन्न

वाले गाय के सींगों में एक को कर्त्ता तथा दूसरे को कार्य नहीं कहा जा सकता वैसे ही यदि जीव व कर्म एक साथ उत्पन्न हों तो उनमें भी कर्त्ता कर्म का व्यपदेश (व्यवहार) घटित नहीं हो सकता। इस प्रकार तुम यह मानते हो कि जीव व कर्म का संयोग सादि मानने में अनुपपत्ति है। [१८०९-१०]

तुम्हें जीव व कर्म का अनादि सम्बन्ध भी अयुक्त प्रतीत होता है। कारण यह है कि उन्हें अनादि मानने पर जीव का मोक्ष कभी भी सम्भव नहीं हो सकता। जो वस्तु अनादि होती है वह अनन्त भी होती है जैसे कि जीव तथा आकाश का सम्बन्ध अनादि भी है और अनन्त भी। इसी प्रकार जीव व कर्म का सम्बन्ध भी अनादि होने पर अनन्त मानना पड़ेगा। अनन्त होने पर मोक्ष की सम्भावना ही नहीं रहती, क्योंकि कर्म संयोग का अस्तित्व हमेशा बना रहेगा। [१८११]

इस प्रकार पूर्वोक्त वेदवाक्यों के अतिरिक्त तुम युक्ति के आधार पर भी यही मानते हो कि जीव में बन्ध व मोक्ष घटित नहीं होते किन्तु वेदवाक्यों में इन दोनों के अस्तित्व का भी प्रतिपादन है। अतः तुम्हें बन्ध मोक्ष की वास्तविक सत्ता में सन्देह है किन्तु तुम्हें ऐसा संशय नहीं करना चाहिए। मैं तुम्हें इसका कारण बताता हूँ तुम ध्यानपूर्वक सुनो। [१८१२]

मण्डिक—कृपया मेरे संशय का निवारण कर तथा बताएं कि मेरी युक्ति में क्या दोष है? तथा जीव के बन्ध मोक्ष कैसे सम्भव हैं?

**संशय निवारण—कर्म-सन्तान अनादि है**

भगवान—तुम्हारे द्वारा उपस्थित की गई युक्ति का सार यह है कि जीव व कर्म का सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता। इस विषय का स्पष्टीकरण यह है कि शरीर तथा कर्म की सन्तान अनादि है क्योंकि इन दोनों में परस्पर कार्यकारण भाव है—बीजांकुर के समान। जैसे बीज से अंकुर तथा अंकुर से बीज होता है और यह क्रम अनादि काल से चलता आ रहा है अतः इन दोनों की सन्तान अनादि है उसी प्रकार देह से कर्म और कर्म से देह की उत्पत्ति का क्रम अनादि काल से चला आ रहा है इसलिए इन दोनों की सन्तान अनादि है।

अतः तुम्हारे इन विकल्पों का कोई अवकाश नहीं रहता कि जीव पहले या कर्म पहले। कारण यह है कि उनकी सन्तान अनादि है। कर्म की अनादि सन्तान की सिद्धि निम्न प्रकार से होती है—

शरीर से कर्म उत्पन्न होता है—अर्थात् कर्म शरीर का कार्य है। किन्तु यदि शरीर ने कर्म को उत्पन्न किया है तो शरीर भी पूर्व कर्म का कार्य है अर्थात् वह भी कर्म से उत्पन्न होता है। पूर्व में जिन कर्मों ने कर्मोत्पादक शरीर को उत्पन्न किया वे कर्म भी पूर्व शरीर से उत्पन्न हुए होते हैं। अतः कर्म और देह परस्पर कार्य

**भव्यों का मोक्ष मानने से भी संसार खाली नहीं होता**

भगवान्– ऐसा नहीं हो सकता। अनागत काल तथा आकाश के समान भव्य भी अनन्त हैं अतः संसार कभी भी भव्यों से शून्य नहीं हो सकता। अनागत काल की समय राशि में प्रत्येक क्षण कमी होती रहती है किन्तु वह अनन्त समय प्रमाण है, अतः उसका कभी भी उच्छेद सम्भव नहीं है। अथवा आकाश के अनन्त प्रदेशों में से कल्पना द्वारा प्रति समय एक-एक प्रदेश अलग किया जाए तो भी आकाश के प्रदेशों का उच्छेद नहीं होता। इसी प्रकार भव्य जीव भी अनन्त हैं प्रत्येक समय उनमें से कुछ के मोक्ष जाने पर भी भव्य राशि का कभी उच्छेद नहीं होता। [१८२७]

अपि च अतीत काल तथा अनागत काल का परिणाम समान होता है। अतीत काल में भव्यों का अनन्तवाँ भाग ही सिद्ध हुआ है और वह निगोद के जीवों का अनन्तवाँ भाग है। अतः अनागत काल में भी उतना भाग ही सिद्ध हो सकेगा। कारण यह है कि उसका परिमाण अतीत काल जितना ही है। अतः संसार से कभी भी भव्य जीवों का उच्छेद सम्भव नहीं है, सम्पूर्ण काल में भी भव्य जीवों के उच्छेद का प्रसंग नहीं आएगा।

मण्डिक—किन्तु आप यह कैसे सिद्ध करते हैं कि भव्य अनन्त हैं तथा सर्वकाल में उनका अनन्तवाँ भाग ही मुक्त होता है?

भगवान—आकाश तथा काल के समान भव्य जीव भी अनन्त हैं। जैसे इन दोनों का उच्छेद नहीं होता वैसे भव्य जीवों का भी उच्छेद नहीं होता। अतः यह बात स्वीकार करनी चाहिए कि भव्य जीवों का अनन्तवाँ भाग ही मुक्त होता है। अथवा इस युक्ति की आवश्यकता ही नहीं है। यह बात मैं कहता हूँ इसलिए भी तुम्हें मान लेनी चाहिए। [१८२८–३०]

मण्डिक—मैं आपके कथन को सत्य क्यों मानूँ?

**सर्वज्ञ के वचन को प्रमाण मानो**

भगवान—इतनी चर्चा से तुम्हें यह तो विश्वास हो गया होगा कि मैंने तुम्हारे संशय से लेकर अब तक जो कुछ कहा है, वह सत्य ही है। उसी आधार पर मेरा यह कथन भी तुम्हें यथार्थ मानना चाहिए। अथवा यह समझो कि मैं सर्वज्ञ हूँ (वीतराग हूँ), इस कारण भी तुम्हें मेरी बात मध्यस्थ ज्ञाता की बात के समान सच्ची माननी चाहिए। [१८३१]

तुम्हारे मन में यह विचार उत्पन्न होगा कि मैं यह कैसे मानूँ कि आप सर्वज्ञ हैं। किन्तु तुम्हारा यह संशय अयुक्त है। कारण यह है कि तुम जानते हो कि मैं सब के सभी संशयों का निवारण करता हूँ। यदि मैं सर्वज्ञ न होऊँ तो सब संशय का निवारण न कर सकूँ। अतः तुम्हें मेरी सर्वज्ञता के विषय में संदेह नहीं करना चाहिए।

[illegible]—[illegible] और [illegible] का निर्णय [illegible]। [illegible] अभाव में [illegible] कैसे माना जाए ?

भगवान—[illegible] ? यह बात सिद्ध है कि ज्ञान के बिना संशय का निवारण [illegible] नहीं सकता। तुम में से किसी को [illegible] है, वह तुम मेरे सामने [illegible] और [illegible] कि मैं उस संशय का निवारण करता हूँ या नहीं? सब-संशय का निवारण सर्वज्ञ के बिना सम्भव [illegible]। जब मैं सब संशयों का निवारण करता हूँ तो [illegible] ? [१८३२]

संशय [illegible] कि भव्यों का सब [illegible] भाग ही मुक्त हो सकता है अर्थात् कुछ भव्य [illegible] जो कभी मुक्त [illegible]। ऐसी स्थिति में उन्हें अभव्य ही कहना चाहिए। आप [illegible] ? [१८३ ]

**मोक्ष में न जाने वाले भव्य क्या ?**

भगवान—भव्य का अर्थ योग्य है – अर्थात् उस जीव में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता है। जिनमें योग्यता है [illegible] ही [illegible], यह बात नहीं कही जा सकती। जिन भव्य जीवों को मोक्ष जाने के लिए सम्पूर्ण सामग्री प्राप्त हो जाती है वही मोक्ष जाते हैं। अतः भव्य जीव के मुक्त न होने का कारण सामग्री का अभाव है योग्यता का अभाव नहीं। सुवर्ण, रजत, पाषाण [illegible] इन सबमें प्रतिमा बनने की योग्यता है फिर भी ये सभी द्रव्य प्रतिमा नहीं बनते किन्तु जिनमें इनमें से ही मूर्ति का निर्माण कर सकता है अर्थात् उक्त जिन द्रव्यों में से प्रतिमा का निर्माण न हुआ हो अथवा न होना हो, उन्हें प्रतिमा के अयोग्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जिन भव्य जीवों का कभी मोक्ष नहीं जाना है उन्हें अभव्य नहीं कहा जा सकता। सारांश यह है कि ऐसा नियम बनाया जा सकता है कि जो द्रव्य प्रतिमा योग्य है उनकी ही प्रतिमा बनती है दूसरों की नहीं, तथा जो जीव भव्य हैं वही मोक्ष जाते हैं अन्य नहीं। किन्तु यह नियम नहीं बनाया जा सकता कि जो द्रव्य प्रतिमा योग्य हैं, उनकी प्रतिमा अवश्य बनती ही है और जो जीव भव्य हैं वे मोक्ष जाते ही हैं। [१८३४]

अथवा इस बात का स्पष्टीकरण इस प्रकार भी हो सकता है—कनक तथा कनक पाषाण के संयोग में वियोग की योग्यता है—अर्थात् कनक को कनक पाषाण से पृथक् किया जा सकता है किन्तु यह बात नहीं होती कि सभी कनक पाषाणों से कनक अलग होता हो। जिसे वियोग की सामग्री मिलती है, उससे ही कनक पृथक् होता है तथा सामग्री होने पर भी कनक सब प्रकार के पाषाण से नहीं प्रत्युत कनक पाषाण से ही अलग होता है। अतः यह कनक पाषाण की ही विशेषता समझी जाती है सब पाषाणों की नहीं। इसी प्रकार चाहे सभी भव्य मोक्ष न जाएँ तथापि भव्य ही मुक्त होते हैं इस आधार पर भव्यों में ही मोक्ष की योग्यता मानी जाती है।

[illegible] का [illegible] नहीं जाता अतः समस्या में उस मान्यता का अभाव माना जाता है। [१८१६-२६]

**मोक्ष कृतक होने पर भी नित्य है**

मण्डिक—यदि मोक्ष की उत्पत्ति उपाय से होती हो तो उसे कृतक (अनित्य) मानना चाहिए और जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, नित्य नहीं। अतः घटादि के समान कृतक होने के कारण मोक्ष को भी अनित्य मानना चाहिए।

भगवान—यह नियम व्यभिचारी है कि जो कृतक होता है वह अनित्य ही होता है। घटादि का प्रध्वंसाभाव कृतक होने पर भी नित्य है। यदि प्रध्वंसाभाव को अनित्य माना जाएगा तो प्रध्वंसाभाव का अभाव हो जाने के कारण घटादि पदार्थ पुनः उपस्थित हो जाएँगे। अतः प्रध्वंसाभाव कृतक होने पर भी नित्य है। इसी प्रकार कृतक होने पर भी मोक्ष को नित्य मानने में क्या आपत्ति हो सकती है? [१८ ७]

मण्डिक—प्रध्वंसाभाव अभावस्वरूप होने से अवस्तु है, अतः उसके उदाहरण से उक्त नियम बाधित नहीं होता।

भगवान—प्रध्वंसाभाव केवल अभावस्वरूप नहीं है किन्तु वह घट विनाश से विशिष्ट एक भावस्वरूप है अतः वह भावरूप वस्तु है। इसलिए उसका उदाहरण दिया जा सकता है। [१८ ८]

**मोक्ष एकान्ततः कृतक नहीं**

अथवा इस बात को जाने दो। मैं तुम्हारे प्रश्न का समाधान अन्य प्रकार से करता हूँ। तुमने मोक्ष को कृतक कहा है और यह अनुमान किया है कि कृतक होने से उसे अनित्य होना चाहिए। किन्तु मोक्ष का अर्थ इतना ही है कि कर्म जीव से अलग हो जाते हैं। अतः मैं तुमसे पूछता हूँ कि कर्म पुद्गलों के जीव से मात्र पृथक् होने पर जीव में एकान्त रूप से कौन सी विशिष्टता आई कि जिससे तुम मोक्ष को कृतक मानते हो। जैसे आकाश में विद्यमान घट को मुद्गर से फोड़ने पर आकाश में कोई विशेषता नहीं आती वैसे ही कर्म को तपस्यादि उपायों से नष्ट करने पर जीव में किसी नई वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः मोक्ष को एकान्तरूप से कृतक कैसे माना जा सकता है?

मण्डिक—आप कर्म के विनाश को मोक्ष कहते हैं। जैसे मुद्गर से घट का नाश होने पर उसे विनाश को कृतक माना जाता है, वैसे ही तपस्यादि से किया गया कर्म विनाश भी कृतक होगा। अतः मोक्ष भी कृतक और अनित्य सिद्ध होगा।

भगवान—तुम घट विनाश और कर्म विनाश को कृतक मानते हो, किन्तु तुम इन दोनों के स्वरूप को नहीं जानते, इसीलिए उन्हें कृतक कहते हो। वस्तुतः घट विनाश केवल घट रहित आकाश ही है, अन्य कुछ नहीं। आकाश सदा अवस्थित

[illegible]

होने के कारण नित्य ही है [illegible] ? मुक्त [illegible]
होने से आकाश में कोई [illegible] नहीं आई। [illegible]
कैसे कहा जा सकता ? [illegible] कर्म [illegible]
केवल आत्मा ही है। [illegible] से [illegible] नहीं [illegible]
हुई क्योंकि आकाश के समान [illegible] होने से आत्मा [illegible] है।
मान को अनित्य अथवा [illegible] नहीं माना जा सकता। यदि तुम [illegible]
पर्याय दृष्टि से कथंचित् अनित्य मानते हो तो इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है [illegible]
मैं यह मानता हूँ कि [illegible] द्रव्य तथा पर्याय [illegible] की अपेक्षा
नित्य और अनित्य है। अतः आत्मा नित्य भी है तथा अनित्य भी। [१८३९]

मण्डिक—घर के टूट जाने पर उसके [illegible] के साथ आकाश का संबंध
बना रहता है इसी प्रकार जीव ने जिन कर्मों को [illegible] किया था, उनके साथ
उसका संयोग बना रहता चाहिए, क्योंकि कर्म और जीव लोक में ही रहते हैं। फिर
जीव व कर्म का बंध क्यों नहीं होता ?

भगवान्—जब निरपराधी को कैद नहीं मिलती, वैसे ही आत्मा में
मन-वचन-काय का योग न होने से उसका पुनः बंध
अतः कर्म-बंध के कारणभूत मन-वचन-काय का योग न होने से उसका पुनः बंध
नहीं होता। केवल कर्म वर्गणा के पुद्गलों का आत्मा के साथ संयोग मात्र होने
से कर्म बंध नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में सभी जीवों का समान
भाव से कर्म बंध होना चाहिए। कारण यह है कि कर्म वर्गणा के पुद्गल सर्वत्र
विद्यमान हैं। इस प्रकार अनिष्टप्रसंगादि दोष होने के कारण जीव कर्म-पुद्गलों का
केवल संयोग ही कर्म बंध का कारण नहीं माना जा सकता। जीव के मिथ्यात्वादि
दोष तथा योग के कारण बंध होता है। [१८४०]

मण्डिक—सौगत मानते हैं कि आत्मा बार-बार संसार में आती है इस
विषय में आपका क्या मत है ?
मुक्त पुनः संसार में नहीं आते

भगवान्—मुक्त जीव संसार में पुनः जन्म नहीं लेता क्योंकि उनमें जन्म के
कारण का अभाव है। जैसे बीज के अभाव में अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती वैसे ही
जन्म के बीज (कर्म) मुक्तावस्था में नहीं होते अतः मुक्त जीव सदा मुक्त ही रहते हैं।
[१८४१]

पुनश्च मुक्तात्मा नित्य है क्योंकि वह द्रव्य होने पर भी अमूर्त है जैसे
आकाश।

मण्डिक—अमूर्त द्रव्य होने के कारण आप आत्मा को आकाश के समान
नित्य मानते हैं। इसी हेतु के आधार पर उसे आकाश के समान ही सर्वव्यापी भी
मानना चाहिए।

### आत्मा व्यापक नहीं है

भगवान—आत्मा को सर्वव्यापी नहीं माना जा सकता क्योंकि अनुमान बाधक है। बाधक अनुमान यह है—आत्मा असर्वगत है क्योंकि व है, कुम्भकार के समान। आत्मा में कर्तृत्व धर्म सिद्ध है। यदि आत्मा को माना जाए तो वह भोक्ता अथवा द्रष्टा भी नहीं हो सकता अतः उसे कर्त्ता ही चाहिए। [१८४२]

मण्डिक—क्या आप आत्मा को एकान्त नित्य मानते हैं ?

### आत्मा नित्य अनित्य है

भगवान—नहीं। जो लोग आत्मा को बौद्धों के समान एकान्त कहते हैं उनके निराकरण के लिए आत्मा का नित्यत्व सिद्ध किया है। आत्मा के नित्यत्व के सम्बन्ध में मुझे एकान्त आग्रह नहीं है। मेरी मान्यत तो सभी पदार्थ उत्पाद स्थिति भंग इन तीनों धर्मों से युक्त होने के कारण नित्य हैं। जब केवल पर्याय की विवक्षा हो तो पदार्थ अनित्य कहलाता है की अपेक्षा से उसे नित्य कहते हैं। जैसे कि घट के विषय में कहा जाता है कि का पिण्ड नष्ट होता है तथा मिट्टी का घड़ा उत्पन्न होता है किन्तु मिट्टी तो वि ही रहती है। इसी प्रकार मुक्त जीव के विषय में कह सकते हैं कि वह संसारी के रूप में नष्ट हुआ मुक्त आत्मा के रूप में उत्पन्न हुआ तथा जीवत्व (मापयोग धर्मों की अपेक्षा से जीव रूप में स्थिर रहा। उस मुक्त जीव के विषय में भी कह सकते हैं कि वह प्रथम समय के सिद्ध रूप में नष्ट हुआ द्वितीय समय के सि में उत्पन्न हुआ, किन्तु द्रव्यत्व, जीवत्वादि धर्मों की अपेक्षा से अवस्थित ही है पर्याय की अपेक्षा से पदार्थ अनित्य है और द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है। [१८

मण्डिक—यदि आत्मा सर्वगत नहीं तो मुक्तात्मा कहाँ रहता है ?

भगवान्—सौम्य ! मुक्तात्मा लोक के अग्रभाग में रहता है।

मण्डिक—मुक्त जीव में विहायोगति नाम कर्म का अभाव है। ऐसी में वह लोक के अग्रभाग में कैसे गमन करता है ?

### मुक्त लोक के अग्रभाग में रहते हैं

भगवान—जब जीव के सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं और वह कर्म भार से हो जाता है तब कर्म के बिना भी वह अपने ऊर्ध्वगति रूप स्वाभाविक परि कारण एक ही समय में ऊर्ध्व लोकान्त तक पहुँच जाता है। सकल कर्म के वि जैसे जीव को सिद्धत्व पर्याय की प्राप्ति होती है वैसे ही उक्त ऊर्ध्वगति प की भी। अतः वह एक ही समय में लोक के अग्रभाग में पहुँच जाता है।

अपि च मुक्त जीव की ऊर्ध्व गति के समर्थन के लिए शास्त्र में अनेक दृष्टान्त भी दिए गए हैं। वे ये हैं—तूम्बडा एरण्ड के बीज, अग्नि, धूम तथा धनुष से छोड़े गए बाण में जैसे पूर्व प्रयोग से गति होती है वैसे ही सिद्ध की गति समझनी चाहिए।

इस विषय को समझने के लिए कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है। तूम्बड़ पर मिट्टी के अनेक लेप कर यदि उसे पानी में डुबा दिया जाए तो क्रमशः उन लेपों के उतर जाने पर जैसे तूम्बडा पानी के ऊपर आ जाता है वैसे जीव भी कर्म-लेप से मुक्त होकर ऊर्ध्वगति करता है, कोष में विद्यमान एरण्ड बीज-कोष के टूट जाने पर जैसे ऊपर उड़ता है वैसे ही जीव भी कर्म-कोष से बाहर निकलता है और स्वाभाविक रूप से ऊर्ध्वगमन करता है जैसे अग्नि और धूम स्वभावतः ही ऊपर जाते हैं वैसे ही जीव भी स्वभावतः तथा गति-परिणाम से ऊर्ध्व-गमन करता है। जैसे धनुष से खींच कर बाण चलाने से अथवा कुम्भार के चक्र की पूर्व प्रयोग से गति होती है वैसे जीव भी ऊर्ध्वगति करता है। [१८८४]

मण्डिक—क्या अरूपी द्रव्य भी सक्रिय होता है? आकाशादि अरूपी पदार्थ निष्क्रिय होते हैं तो आप आत्मा को सक्रिय क्यों मानते हैं?

**आत्मा अरूपी होकर भी सक्रिय**

भगवान्—मैं तुमसे पूछता हूँ कि जब अरूपी आकाश अचेतन है तो अरूपी आत्मा चेतन क्यों है? अरूपी होने पर भी जैसे चैतन्य आत्मा का विशेष धर्म है वैसे ही सक्रियत्व भी आत्मा का विशेष धर्म है। इसमें विरोध कहाँ है? [१८८५]

पुनश्च अनुमान से भी आत्मा का सक्रियत्व सिद्ध होता है। वह इस प्रकार है—आत्मा सक्रिय है, कर्ता होने से कुम्भकार के समान। अथवा भोक्ता होने से आत्मा सक्रिय होनी चाहिए। जैसे चक्षु पुरुष में परिस्पन्द के प्रत्यक्ष होने से आत्मा सक्रिय होती है इसलिए वह सक्रिय है वैसे ही इस प्रकार आत्मा में भी स्पन्दपरिस्पन्द प्रत्यक्ष होने से वह भी सक्रिय है। [१८८६]

मण्डिक—परिस्पन्द कर्म में है अतः उसे सक्रिय मानना चाहिए, आत्मा को नहीं।

भगवान्—कर्म के परिस्पन्द में आत्मा का प्रयत्न कारण रूप है अतः आत्मा को सक्रिय माना गया है।

मण्डिक—किन्तु प्रयत्न तो किया नहीं है अतः प्रवृत्ति के कारण आत्मा को सक्रिय न मानने का मतलब।

---

1. [illegible]

भगवान्—प्रयत्न को चाहे क्रिया न मानें, किन्तु जो पदार्थ आकाश के समान निष्क्रिय होता है उसमें प्रयत्न की सम्भावना नहीं है, अतः आत्मा को सक्रिय मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रयत्न भी वस्तुतः क्रिया ही है। यदि यह कल्पना की जाए कि प्रयत्न क्रिया नहीं है तो प्रश्न होता है कि अमूर्तरूप प्रयत्न देह के परिस्पन्द में कैसे कारण बनता है?

मण्डिक—प्रयत्न को किसी अन्य हेतु की अपेक्षा नहीं है, वह स्वतः ही देह के परिस्पन्द का हेतु बनता है।

भगवान—तो फिर यही मानलो कि स्वतः आत्मा से ही देह-परिस्पन्द होता है। व्यर्थ प्रयत्न को मानने की क्या आवश्यकता है?

मण्डिक—देह परिस्पन्द का कारण किसी अदृष्ट को ही मान लेना चाहिए। आत्मा निष्क्रिय होने से कारण नहीं बन सकती।

भगवान—वह अदृष्ट कारण मूर्त है या अमूर्त? यदि अमूर्त है तो आत्मा स्वयमेव देह-परिस्पन्द का कारण क्यों नहीं बनती? आत्मा भी अमूर्त है। यदि अदृष्ट रूप कारण मूर्त है तो वह कार्मण देह ही हो सकता है, अन्य नहीं। उस कार्मण शरीर में भी यदि परिस्पन्द हो तो ही वह बाह्य शरीर के परिस्पन्द का कारण बन सकता है अन्यथा नहीं। अतः प्रश्न होता है कि उस कार्मण शरीर के परिस्पन्द का क्या कारण है? यदि उसका कोई कारण है तो उसके परिस्पन्द का भी कोई अन्य कारण होना चाहिए। इस प्रकार अनवस्था दोष का प्रसंग आता है। यदि कार्मण देह में स्वभावतः ही परिस्पन्द माना जाए तो बाह्य शरीर में भी स्वभावतः परिस्पन्द मानना चाहिए। अदृष्ट मूर्त कार्मण शरीर को परिस्पन्द का कारण मानने की क्या जरूरत है?

मण्डिक—हाँ, यह ठीक है। बाह्य शरीर में स्वभावतः ही परिस्पन्द होता है अतः आत्मा को सक्रिय मानने की आवश्यकता नहीं है।

भगवान्—किन्तु शरीर में जिस प्रकार का प्रतिनियत विशिष्ट परिस्पन्द दिखाई देता है उसे स्वाभाविक नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि शरीर जड़ है। जो वस्तु स्वाभाविक होती है—अर्थात् किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखता—वह वस्तु सदैव होती है अथवा कभी नहीं होती[1]। इस न्याय से यदि शरीर में परिस्पन्द स्वाभाविक हो तो उसे हमेशा एक जैसा ही रहना चाहिए, किन्तु वस्तुतः शरीर की चेष्टाएँ नाना प्रकार की होने पर भी अमुक अवसर से नियत ही दिखाई देती हैं अतः उन्हें स्वाभाविक नहीं मान सकते। परन्तु कर्म-सहित आत्मा

---

1 नित्यं सत्सदसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात्।

का ही शरीर की प्रतिनियत विशिष्ट क्रिया में व्यापार रूप मानना चाहिए। इस से आत्मा सक्रिय ही सिद्ध होती है। [१८७७-४८]

मण्डिक—सकर्म होने से संसारी जीव सक्रिय सिद्ध हुआ, किन्तु मुक्तात्मा में तो कर्म का अभाव है अतः वह निष्क्रिय ही होगा। फिर भी आप यदि उसे सक्रिय स्वीकार करें तो इसका क्या कारण है?

भगवान्—मैंने तुम्हें बताया है कि मुक्तात्मा की गति क्रिया स्वाभाविक तथा गति-परिणाम के कारण होती है। मैं यह भी कथन कर चुका हूँ कि कर्म-विनाश से जीव जब सिद्धत्व रूप धर्म को प्राप्त करता है वैसे तथाविध गति-परिणाम को भी प्राप्त करता है। [१८४९]

मण्डिक—आपका यह कथन युक्तियुक्त है कि मुक्तात्मा में गति है किन्तु अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मुक्तात्मा सिद्धालय से भी आगे क्यों गति नहीं करती?

भगवान—क्योंकि उससे आगे गति सहायक द्रव्य धर्मास्तिकाय का अभाव है।

मण्डिक—धर्मास्तिकाय उससे आगे क्यों नहीं है?

भगवान—गति सहायक धर्मास्तिकाय लोक में ही है, अलोक में नहीं। सिद्धालय से आगे अलोक है, अतः उसमें धर्मास्तिकाय नहीं है। इसलिए उससे आगे जीव की गति नहीं होती। [१८५०]

मण्डिक—इस बात में क्या प्रमाण है कि लोक से भिन्न रूप अलोक का अस्तित्व है?

**अलोक के अस्तित्व में प्रमाण**

भगवान्—लोक का विपक्ष होना चाहिए क्योंकि यह व्युत्पत्ति युक्त शुद्ध पद का अभिधेय है। जो व्युत्पत्ति युक्त शुद्ध पद का अभिधेय होता है उसका विपक्ष अवश्य होता है। जैसे पट का विपक्ष अपट है। इसी प्रकार लोक का विपक्ष अलोक होना चाहिए।

मण्डिक—जो लोक नहीं वह अलोक है। अर्थात् धर्मादि पदार्थों में से किसी का भी अभाव कहा जा सकता है। उन सब में स्वतन्त्र अभाव मानने की क्या आवश्यकता है?

भगवान्—अलोक को धर्मादि पदार्थों से स्वतन्त्र मानने की आवश्यकता इसलिए है कि दोनों परस्पर विरुद्ध अभिधेय हैं। अतः विपक्ष निषेध के अनुरूप ही होना चाहिए। प्रस्तुत में लोक निषेध है और वह आकाश-विशेष है। इस अलोक का स्वतन्त्र अस्तित्व ही होना चाहिए। जैसे कि 'घट अनस्तित्व है' इस कथन में घट

अभाव अभिप्रेत नहीं होता अथवा इससे किसी अचेतन घटादि वस्तु का भी बोध नहीं होता। किन्तु हमें इस कथन से विशिष्ट ज्ञान रहित किसी चेतन पुरुष विशेष का ही ज्ञान होता है। इसी प्रकार यहाँ भी वस्तु भूत आकाश विशेष का ही बोध अलोक शब्द से होना चाहिए। कहा भी है - जिस वाक्य को 'नञ्' युक्त अथवा 'इव' युक्त कहा जाता है उससे समान किन्तु अन्य ऐसे अधिकरण (पदार्थ) का लोक के प्रसंग में बोध कराता है[1]।'

नञ् तथा इव युक्त पद का अर्थ अन्य किन्तु सदृशरूप अधिकरण (वस्तु) समझा जाता है।[2]

साराश यह है कि लोक का विपक्ष अलोक भी मानना चाहिए।

**धर्माधर्मास्तिकायों की सिद्धि**

इस प्रकार लोक तथा अलोक दोनों वस्तुभूत हैं। अतः लोक से अलोक का भिन्न सिद्ध करने वाले किसी तत्त्व की भी सिद्ध होना है तथा वे धर्म और अधर्मास्तिकाय हैं। अर्थात् जितने आकाश-क्षेत्र में धर्म और अधर्म हैं, वह लोक है। इस रीति से यदि ये दोनों अस्तिकाय लोक का परिच्छेद न करते हों तो आकाश के सर्वत्र समानरूपेण व्याप्त होने के कारण यह भेद कैसे होगा कि 'यह लोक है और 'वह अलोक है'। [१८५१-५२]

यदि उक्त प्रकारेण इन दोनों अस्तिकायों द्वारा अलोकाकाश में लोकाकाश का विभाग न हो तो जीव और पुद्गल गति में किसी प्रकार का प्रतिघात न होने से अप्रतिहतगति वाले हो जाएँ। अलोक अनन्त है अतः उनकी गति का कहीं अन्त ही न होगा। यदि उनकी गति का अन्त ही न होगा तो जीव और पुद्गल का सम्बन्ध ही न हो सकेगा। सम्बन्धाभाव में पुद्गल स्कन्धों की औदारिक आदि विचित्र रचना भी असम्भव होगी। फलतः बन्ध, मोक्ष, सुख-दुःख आदि सांसारिक व्यवहार का अभाव हो जाएगा। इसलिए लोकालोक का विभाग मानना चाहिए तथा उस विभाग को करने वाले धर्माधर्मास्तिकाय मानने चाहिएँ। [१८५३]

जैसे पानी के बिना मछली की गति नहीं होती, वैसे ही लोक से परे अलोक में गति-सहायक द्रव्य के न होने से जीव तथा पुद्गल की गति अलोक में नहीं होती। अतः लोक में गति सहायक रूप धर्मास्तिकाय द्रव्य मानना चाहिए जो कि लोक परिमाण है। [१८५४]

---

1 नञ्युक्तमिवयुक्तं वा यदि कार्यं विधीयते।
तुल्याधिकरणद्रव्यस्मिल्लोकेऽप्यन्यगतिस्तथा॥

2 नञ् इवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यन्यगतिः।

पुनश्च, 'स एष विगुणो विभुर्न बध्यते' आदि वाक्य का अर्थ तुम यह समझो कि संसारी जीव के बन्ध मोक्ष नहीं है, किन्तु वस्तुतः यह वाक्य मुक्त जीव के स्वरूप का प्रतिपादक है। मैं भी तुम्हें बता चुका हूँ कि मुक्त के बन्धादि नहीं होते। इस युक्ति का समर्थन वेद-वाक्य से भी हो जाता है, अतः तुम्हें बन्ध-मोक्ष के सम्बन्ध में शंका नहीं करनी चाहिए। [१८६१-६२]

इस प्रकार जब जरा मरणरहित भगवान् ने मण्डिक के संशय का निवारण किया, तब उसने अपने साढ़े तीन सौ शिष्यों सहित दीक्षा ली। [१८६३]

---

# सातवें गणधर मौर्यपुत्र

## देव चर्चा

मण्डिक के दीक्षित होने का समाचार ज्ञात कर मौर्यपुत्र ने भी विचार किया कि मैं भी भगवान के पास जाऊं, वन्दना करूं तथा उनकी सेवा करूं। यह विचार कर वह भगवान् के पास आ गया। [१८६४]

### देवों के विषय में सन्देह

*आदि कर्म मरण से मुक्त भगवान् सर्वज्ञ सर्वदर्शी थे अतः उन्होंने उस नाम गोत्र से बुलाते हुए कहा 'मौर्यपुत्र काश्यप!'* [१८६५]

तत्पश्चात् उन्होंने कहना प्रारम्भ किया 'तुम्हारे मन में यह संदेह है कि देव हैं अथवा नहीं। तुमने वेद के परस्पर विरोधी अर्थ वाले वाक्य सुने हैं जैसे कि 'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोकं गच्छति'[1] इत्यादि तथा 'अपामसोमममृता अभूम, अगन्म ज्योतिरविदाम देवान्, किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य'[2] आदि। इन वाक्यों से तुम्हें यह प्रतीत होता है कि स्वर्ग में जाने वाले देवों का अस्तित्व है। किन्तु तुमने इसके विरोधी अर्थ के प्रतिपादक वेद वाक्य भी सुने हैं जैसे कि 'को जानाति मायोपमान् सौर्यानिन्द्रयमवरुणकुबेरादीन्'[3] आदि। अतः तुम समझते हो कि देव तो हैं ही नहीं।

वस्तुतः तुम इन वाक्यों का तात्पर्य नहीं जानते इसलिए तुम्हें संशय है। मैं तुम्हें वास्तविक अर्थ बताऊंगा। उससे तुम्हारे संशय का निवारण हो जाएगा। [१८६६]

---

1 यज्ञरूप शस्त्र वाला यजमान निश्चितरूपेण स्वर्ग में जाता है।

2 मुनि गणधरवाद में शुद्ध पाठ नहीं है। ऊपर दिए गए शुद्ध पाठानुसार अर्थ यह है— हे अमर सोम! हमने तुम्हें पीया और हम अमर हो गए। हमने प्रकाश प्राप्त किया देवों का ज्ञान प्राप्त किया। अब शत्रु हमारा क्या कर सकते हैं? मरणशील मानव की धूर्तता क्या कर सकती है?'

सायण कृत अर्थ की अपेक्षा विल्सन द्वारा किया गया अर्थ अधिक संगत प्रतीत होने से यहीं दिया गया है। देखें 8 48 Hymns of The Rigveda Vol II

3 माया सदृश इन्द्र वरुण यम कुबेर आदि देवों को कौन जानता है?

[illegible] के अभाव का [illegible] प्रकार से युक्ति द्वारा भी कहते हैं — तुम समझते हो कि [illegible] हैं [illegible] हैं। अतः वे हमारे समक्ष उपस्थित होने में असमर्थ हैं। [illegible], तो भी दूसरों के वचन को प्रमाण मान कर [illegible] अस्तित्व [illegible] का विषय [illegible] जाता है। [१८९७]

किन्तु [illegible] विषयी है अर्थात् उसे यहाँ आने से कोई भी रोक नहीं सकता। वे [illegible] प्रभाव वाले भी हैं। फिर भी वे कभी दिखाई नहीं देते। श्रुति-स्मृति में यद्यपि उनका अस्तित्व बताया है तथापि उनके सम्बन्ध में सन्देह होना अयुक्त नहीं है। [१८९८]

**संशय का निवारण देव प्रत्यक्ष हैं**

किन्तु हे मौर्यपुत्र! तुम देवों की सत्ता के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए। श्रुति-स्मृति के आधार पर [illegible], अपितु प्रत्यक्ष प्रमाण से भी तुम उनकी सत्ता मान लो। यहीं पर मेरे इस समवसरण में ही मनुष्य से भिन्न-जातीय भवन पति, व्यंतर ज्योतिष्क, वैमानिक इन चारों प्रकार के देव उपस्थित हैं। तुम उनके प्रत्यक्ष दर्शन कर अपने संशय का निवारण कर लो। [१८९९]

मौर्यपुत्र—किन्तु यहाँ दर्शन से पूर्व मुझे जो संशय था, वह तो युक्तियुक्त था न?

भगवान—नहीं, क्योंकि मेरे समवसरण में आने से पहले तुम यदि दूसरे देवों को नहीं तो कम से कम सूर्य चन्द्र आदि ज्योतिष्क देवों को तो प्रत्यक्ष देखते ही थे। अतः यह नहीं माना जा सकता कि देव कभी देखे नहीं गए, इसलिए उनके विषय में अस्तित्व विषयक सन्देह युक्त है। तुम्हें इस समय से पूर्व ही देवों के एक देश का प्रत्यक्ष था ही इसलिए समस्त देवों सम्बन्धी शंका अयुक्त थी।

**अनुमान से सिद्धि**

पुनश्च, लोक में देवकृत अनुग्रह और पीड़ा देखी ही है। इस कारण भी देवों का अस्तित्व मानना चाहिए, जैसे लोक का हित या अहित करने वाले राजा का अस्तित्व माना जाता है वैसे ही देवों का अस्तित्व भी मानना चाहिए, क्योंकि वे भी किसी को वैभव प्रदान करते हैं तथा किसी के वैभव का नाश करते हैं। [१८७०]

मौर्यपुत्र—चन्द्र विमान, सूर्य विमान आदि निवास स्थान शून्य नगर के सदृश दिखाई देते हैं। उनमें निवास करने वाला कोई भी नहीं है। अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि सूर्य चन्द्र का प्रत्यक्ष होने से देवों का भी प्रत्यक्ष हो गया?

भगवान—यदि तुम सूर्य व चन्द्र को आलय(स्थान) मानते हो तो उसमें रहने वाला कोई होना ही चाहिए, अन्यथा उसे आलय नहीं कहा जा सकता। जैसे

वसन्तपुर के आलयों में देवदत्तादि रहते हैं इसीलिए उन्हें आलय कहा जाता है वैसे ही सूर्य चन्द्र भी यदि आलय हों तो उनमें निवास करने वाले भी होने चाहिए। जो वहाँ रहते हैं वही देव कहलाते हैं।

मौर्यपुत्र—आलय होने से उनमें देवदत्त जैसे मनुष्य रहते होंगे। आप यह कैसे कहते हैं कि वे देव हैं?

भगवान—तुम स्वयं प्रत्यक्ष देखते हो कि इस देवदत्त के आलय की अपेक्षा वे आलय विशिष्ट हैं। अतः उनमें निवास करने वाले भी देवदत्त की अपेक्षा विशिष्ट होने चाहिएँ। अतः उन्हें देव मानना चाहिए।

मौर्यपुत्र—आपने यह नियम बनाया है कि वे आलय हैं अतः उनमें रहने वाला कोई न कोई होना चाहिए किन्तु यह नियम अयुक्त है। कारण यह है कि शून्य घर आलय कहलाते हैं, किन्तु उनमें रहने वाला कोई नहीं होता।

भगवान—कहने का भाव यह है कि जो आलय होता है वह सर्वथा शून्य नहीं हो सकता। उसमें कभी न कभी कोई रहता ही है। अतः चन्द्रादि में निवास करने वाले देवों की सिद्धि होती है। [१८७१]

मौर्यपुत्र—आप जिन्हें आलय कहते हैं वे वस्तुतः आलय हैं या नहीं, अभी इसी बात का निर्णय नहीं हुआ। ऐसी अवस्था में यह कहना ही निर्मूल है कि वे निवास स्थान हैं अतः उनमें रहने वाले होने चाहिए। सम्भव है कि जिसे आप सूर्य कहते हैं वह एक अग्नि का गोला ही हो और जिसे चन्द्र कहते हैं वह स्वभावतः स्वच्छ जल ही हो। यह भी सम्भव है कि वे ज्योतिष्क विमान प्रकाशमान रत्नों के गोले ही हों।

भगवान—वे देवों के रहने के ही विमान हैं, क्योंकि वे विद्याधरों के विमानों के समान रत्न निर्मित हैं तथा आकाश में भी गमन करते हैं। बादल तथा वायु भी आकाश में गमन करते हैं फिर भी उन्हें विमान नहीं कहा जा सकता, कारण यह है कि वे रत्न निर्मित नहीं हैं। [१८७२]

मौर्यपुत्र—सूर्य चन्द्र विमानों को मायावी की माया क्यों न माना जाए?

भगवान्—वस्तुतः ये मायिक नहीं हैं। इन्हें मायिक मान लें भी इस माया को करने वाले देव तो मानने ही पड़ेंगे। मायावी के बिना माया कैसे सम्भव है? मनुष्य ऐसी विक्रिया नहीं कर सकते अतः विवश होकर देव ही मानने पड़ते हैं। अपि च, सूर्य चन्द्र विमानों को मायिक कहना भी अयुक्त है। कारण यह है कि माया तो क्षण पश्चात नष्ट हो जाती है किन्तु उक्त विमान सदा सर्व द्वारा उपलब्ध होने के कारण शाश्वत हैं जैसे चम्पा अथवा पाटलिपुत्र सत्य हैं वैसे ये भी सत्य हैं। [१८७३]

पुनश्च इस लोक में जो प्रकृष्ट पाप करते हैं, उनके लिए उस पाप के फल भोग के निमित्त परलोक में नारकों का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। जैसे

प्रकार इस लोक में प्रकृष्ट पुण्य करने वालों के फल भोग के लिए अन्यत्र देवों का अस्तित्व भी स्वीकार करना चाहिए।

मौर्यपुत्र—इसी संसार में ही अपने प्रकृष्ट पाप का फल भोगने वाले अत्यन्त दुःखी मनुष्य तथा तिर्यंच हैं तथा अपने प्रकृष्ट पुण्य का फल भोगने वाले अति सुखी मनुष्य भी हैं। अगर हम यह बात मान लें तो अदृष्ट नारक तथा देवों का पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

भगवान्—इस संसार में दुःखी मनुष्यों व तिर्यंचों तथा सुखी मनुष्यों के होने पर भी नारक तथा देव-योनि को पृथक् मानने का कारण यह है कि प्रकृष्ट पाप का फल केवल दुःख ही होना चाहिए तथा प्रकृष्ट पुण्य का फल केवल सुख ही, इस संसार में ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो मात्र दुःखी हो और जिसे सुख का कुछ भी अंश प्राप्त न हो। ऐसा भी कोई प्राणी नहीं है जो मात्र सुखी हो और जिसे लेश मात्र भी दुःख प्राप्त न हो। मनुष्य कितना भी सुखी क्यों न हो, फिर भी रोग जरा इष्ट वियोग आदि से थोड़ा दुःख होता ही है। अतः कोई ऐसी योनि भी होनी चाहिए जहाँ प्रकृष्ट पाप का फल केवल दुःख ही हो तथा प्रकृष्ट पुण्य का फल केवल सुख ही हो। ऐसी योनियाँ क्रमशः नारक व देव हैं। अतः उनका पृथक् अस्तित्व मानना चाहिए। [१८७८]

मौर्यपुत्र—किन्तु आप के कथनानुसार यदि देव हैं तो वे स्वरविहारी होते हुए भी मनुष्य लोक में क्यों नहीं आते?

**देव इस लोक में क्यों नहीं आते?**

भगवान्—वे यहाँ आते ही नहीं हैं ऐसी बात नहीं है। कारण यह है कि तुम उन्हें समवसरण में बैठे देख रहे हो। हाँ, सामान्यतः वे नहीं आते, यह बात सत्य है किन्तु इसका कारण देवों का अभाव नहीं है। वास्तविक कारण यह है कि वे स्वर्ग में दिव्य पदार्थों में आसक्त हो जाते हैं, वहाँ के विषय भोग में लिप्त हो जाते हैं। वर्षों का [illegible] समाप्त नहीं होता। उनके यहाँ आगमन का विशेष प्रयोजन भी नहीं है और [illegible] के दुर्गन्ध के कारण भी वे यहाँ नहीं आते। [१८७९]

वे

[illegible] न आने के [illegible] वे किसी समय इस लोक में
[illegible] न, दो [illegible] इन सब महात्माओं के [illegible]
[illegible]। [illegible] स्वयं भक्ति-पूर्वक आते
[illegible] संशय के निवारणार्थ
[illegible] कारण है—जैसे कि पूर्व भव के
[illegible] के लिए पूर्व [illegible] का अस्तित्व तपस्या पुण्य

से आत्मपण, पूर्वभव के वैरी को पीडा देना, मित्र का उपकार करना तथा काम क्रीडा। कभी-कभी किसी साधु की परीक्षा के निमित्त भी वे इस लोक मे आते है। [१८७६-७७]

मौर्यपुत्र—देवो की सिद्धि के लिए क्या और भी कोई प्रमाण है ?

### देव-साधक अन्य अनुमान

भगवान—हाँ, अनुमान प्रमाण हैं। वे ये हैं—देवो के अस्तित्व मे श्रद्धा रखना चाहिए, क्योंकि (१) जातिस्मरणज्ञानी आप्त पुरुष अपने पूर्वभव का ज्ञान प्राप्त कर ये बताते हैं कि वे देव थे (२) कुछ तपस्वियो को देव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं (३) कुछ व्यक्ति विद्या, मन्त्र, उपयाचन द्वारा देवो से अपने कार्य की सिद्धि करवाते हैं, (४) कुछ मनुष्यो मे ग्रह विकार अर्थात भूत पिशाच-कृत विक्रिया दिखाई देती है (५) तप दानादि क्रिया द्वारा उपार्जित प्रकृष्ट पुण्य का फल होना ही चाहिए और (६) देव यह एक अभिधान है। अत इन सब हेतुओ से देवो की सिद्धि होती है। फिर सभी शास्त्रो मे देवो का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। इस कारण भी उनके विषय मे शका नही करनी चाहिए।

मौर्यपुत्र—आपने कहा है कि ग्रह विकार के कारण देवो का अस्तित्व मानना चाहिए, किन्तु यह कैसे ज्ञात होगा कि मनुष्य शरीर की अमुक क्रिया ग्रह विकार है ?

### ग्रह विकार की सिद्धि

भगवान्—जैसे यन्त्र पुरुष मे चलने की शक्ति नही है, किन्तु यदि उसमे कोई पुरुष प्रविष्ट हो तो यन्त्र मे गति आ जाती है वैसे ही शरीर मे अमुक कार्य करने की शक्ति का अभाव होने पर भी शरीर वह काम करता दिखाई दे तो उसमे शरीराधिष्ठाता जीव से भिन्न किसी अदृश्य जीव का अधिष्ठान मानना पड़ेगा। ऐसा अधिष्ठाता देव है। उसी के कारण मनुष्य अपने शरीर से अपनी शक्ति का अतिक्रमण कर काम करता है। [१८७८-७९]

मौर्यपुत्र—देवत्व की सिद्धि के लिए आपने एक हेतु यह दिया है कि देव एक अभिधान है। कृपया इसका स्पष्टीकरण करें।

### देव पद की सार्थकता

भगवान्—देव एक सार्थक पद है उसका कोई अर्थ होना चाहिए, क्योंकि यह व्युत्पत्ति वाला शुद्ध पद है जैसे कि घट।

मौर्यपुत्र—यदि देव कामरूप धारण कर सकते हैं तो फिर कुछ महान् ऋद्धि-सम्पन्न तथा ऋद्धि सम्पन्न चक्रवर्ती आदि। ये मनुष्य हैं या देव रूपधारी हैं, इस की परीक्षा कैसे की जाए ?

भगवान्—मनुष्य चक्रवर्ती आदि को भी उपचार से देव कहा जाता है। जैसे यदि कोई पुरुष सिंह न हो तो भी उपचार से सिंह कहा जाता है, वैसे ही यदि देव न हों तो चक्रवर्ती आदि को उपचार से भी देव न कहा जाता। अतः [illegible] को मनुष्य से भिन्न रूप में मानना चाहिए। [१८८०-८१]

मौर्यपुत्र—श्रुति में देवों की सिद्धि होने पर भी वेद में परस्पर विरोधी वचन क्यों हैं ?

## वेद-वाक्यों का समन्वय

भगवान्—वेद-वाक्यों का यथार्थ अर्थ जान लेने पर तुम्हें विरोध के स्थान में संगति प्रतीत होगी। देवों का यदि सर्वथा ही अस्तित्व मान्य न हो तो वेद में अनेक स्थलों पर प्रतिपादित अग्निहोत्रादि का स्वर्ग-रूप फल असंगत सिद्ध होगा[1]। यदि देवों का ही अस्तित्व न हो तो स्वर्ग किसे मिलेगा ? अतः मानना पड़ेगा कि वेद को भी देवों का अस्तित्व मान्य है।

अपि च, यह लोक-मान्यता है कि दानादि का फल भी स्वर्ग में मिलता है। देवों के अभाव में यह मान्यता भी निराधार हो जाती है। तुम यह बात तो पहले ही मान चुके हो कि 'स एष यज्ञायुधी' इत्यादि वेद-वाक्य स्पष्टतः देवों की सत्ता के द्योतक हैं।

मौर्यपुत्र—यह सब तो ठीक है, किन्तु 'को जानाति मायोपमान् गीर्वाणान् इन्द्रयमवरुणकुबेरादीन्' इत्यादि वाक्य में देवों को मायोपम क्यों कहा है ?

भगवान्—इस वाक्य का तात्पर्य देवों का अभाव बताना नहीं है। इसका भाव तो यह है कि स्वयं देव भी अनित्य हैं। ऐसी अवस्था में अन्य ऋद्धि तो अत्यन्त निःसार तथा अनित्य हो, इसमें आश्चर्य नहीं। इसी अर्थ को सम्मुख रखकर ही इन्द्रादि देवों को मायोपम या मायिक कहा है। ऐसा न हो तो देवों के अस्तित्व-द्योतक वाक्य तथा श्रुति मंत्र के पदों से देवों का आवाहन आदि असंगत हो जाते हैं। [१८८२]

---

[1] जैसे कि 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'—स्वर्ग का इच्छुक अग्निहोत्र करे।

[illegible]

[illegible] [१८१६]

[illegible]

[illegible]

पुनश्च, [illegible] [१८१८]

[illegible]

[illegible] [१८१७]

इस [illegible], [illegible] तथा [illegible] के अतिरिक्त [illegible] सभी ज्ञान अनुमान के समान [illegible] हो [illegible]। ये तीन ज्ञान केवल आत्मसापेक्ष होने के

**अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय समस्त है**

भगवान—इन्द्रियाँ जिस आत्मा की सहायक नहीं हैं अर्थात जो केवलज्ञानी आत्मा है वह अत्यधिक तो क्या परन्तु सब कुछ जान सकता है। जैसे घर में बैठ कर देवदत्त झरोखा द्वारा जितने पदार्थ देखता है उनसे कुछ अधिक खुले आकाश में रह कर जान सकता है वैसे ही जीव के जब ज्ञान दर्शन के समस्त आवरण दूर हो जाते हैं तब वह इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान की अपेक्षा बहुत अधिक जान सकता है, देख सकता है। यहाँ नहीं अपितु कोई ऐसी वस्तु शेष नहीं रहती जो उस ज्ञान से न हो। [१८९५]

अकम्पित—संसार में सभी लोग इन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और उसे परोक्ष क्यों मानते हैं ?

**इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष क्यों ?**

भगवान—वस्तु में अनन्त धर्म हैं किन्तु इन्द्रिय द्वारा किसी एक व्याप्ति धर्म का ही ज्ञान होता है तथा उस ज्ञान से व्याप्ति किसी एक धर्म से विशिष्ट वस्तु का ज्ञान होता है। अतः वह अनुमान ज्ञान के समान परोक्ष ही है। जैसे अनुमान ज्ञान द्वारा किसी एक कृतकत्वादि धर्म से किसी एक अनित्यत्वादि धर्म विशिष्ट घट की सिद्धि होती है, वैसे ही इन्द्रिय ज्ञान में भी इन्द्रिय द्वारा किसी एक धर्म के ग्रहण से उस धर्म से विशिष्ट वस्तु की सिद्धि होती है। [१८९६]

पुनश्च, जैसे पूर्वोपलब्ध सम्बन्ध के स्मरण के सहयोग से धूमज्ञान द्वारा होने वाला अग्नि का ज्ञान परोक्ष है वैसे ही इन्द्रिय ज्ञान भी परोक्ष है। कारण यह है कि इसमें भी पूर्वगृहीत संकेत स्मरण आवश्यक है। अभ्यास आदि के कारण यह संकेत स्मरण प्रायः शीघ्र होता है इसलिए हमारे ध्यान में नहीं आता। फिर भी यह अनिवार्य है अन्यथा जिस मनुष्य ने संकेत ग्रहण न किया हो उसे भी धूम देख कर यह ज्ञान हो जाना चाहिए कि यह धूम है। ऐसा नहीं होता अतः संकेत-स्मरण आवश्यक है। इस प्रकार अनुमान तथा इन्द्रिय ज्ञान दोनों में स्मरण समान रूप से सहायक है इसलिए ये दोनों परोक्ष हैं।

और फिर जिस ज्ञान में आत्मा को निमित्त की अपेक्षा हो वह परोक्ष ही कहलाता है। जैसे वह्निज्ञान में धूमज्ञान के निमित्त रूप होने से वह ज्ञान अनुमानात्मक परोक्ष है, वैसे ही इन्द्रिय ज्ञान में भी अर्थात आत्मा को इन्द्रिय की अपेक्षा होने से इन्द्रिय निमित्त है इसलिए इन्द्रिय ज्ञान भी परोक्ष है। जो प्रत्यक्ष होता है वह केवलज्ञान के समान किसी भी निमित्त की अपेक्षा नहीं रखता, वह साक्षात् सब को जानता है। [१८९७]

इस लिए केवलज्ञान मनःपर्ययज्ञान तथा अवधिज्ञान के अतिरिक्त सभी ज्ञान अनुमान के समान परोक्ष ही हैं। ये सभी ज्ञान केवल आत्मा से न होकर

कारण प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाते हैं। इस प्रत्यक्ष से नारकों की सिद्धि होती है, अतः उनका सद्भाव मानना चाहिए। वे अनुमान से भी सिद्ध होते हैं। [१८९८]

अकम्पित– कौन से अनुमान से नारकों की सिद्धि होती है ?

## अनुमान से नारक सिद्धि

भगवान—प्रकृष्ट पाप फल का भोक्ता कोई न कोई होना ही चाहिए, क्योंकि वह भी जघन्य मध्यम कर्मफल के समान कर्मफल है। जघन्य मध्यम कर्मफल के भोक्ता तिर्यंच तथा मनुष्य हैं। इसी प्रकार प्रकृष्ट पाप फल के जो भोक्ता हैं, उन्हें नारक मानना चाहिए।

अकम्पित—जो तिर्यंच मनुष्य अत्यन्त दुःखी हों, उन्हें ही प्रकृष्ट पाप फल के भोक्ता मानने में क्या आपत्ति हो सकती है ?

भगवान—देवों में जैसा सुख का प्रकर्ष दृग्गोचर होता है, वैसा दुःख का प्रकर्ष तिर्यंच मनुष्यों में दिखाई नहीं देता, अतः उन्हें नारक नहीं कह सकते। ऐसा एक भी तिर्यंच या मनुष्य नहीं जो केवल दुःखी ही हो। अतः प्रकृष्ट पाप कर्म फल के भोक्ता रूप में तिर्यंच मनुष्यों से भिन्न नारक मानने चाहिएँ। कहा भी है—'नारकों में तीव्र परिणाम वाला सतत दुःख लगा ही रहता है। तिर्यंचों में उष्ण ताप, भय, भूख तथा इन सबका दुःख होता है तथा अल्प सुख भी होता है।'

'मनुष्य को नाना प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक सुख और दुःख होते हैं किन्तु देवों को तो शारीरिक सुख ही होता है अल्प मात्रा में ही मानसिक दुःख होता है[1]। [१८९९-१९००]

## सर्वज्ञ के वचन से सिद्धि

अपि च हे अकम्पित ! मेरे दूसरे वचनों के समान नारक का अस्तित्व बताने वाला वचन भी सत्य ही है क्योंकि मैं सर्वज्ञ हूँ। अतः तुम्हें स्वयं जननी आदि अन्य सर्वज्ञ के वचन के समान मेरा वचन भी प्रमाण मानना चाहिए। [१९०१]

अकम्पित—सर्वज्ञ होते हुए भी आप झूठ क्यों नहीं बोलते ?

---

1 सव्वमणुवड्ढमुक्कं दुक्खं नरएसु तीव्रपरिणामं।
तिरियाणमवयणलहादिदुक्खं सुहं थोवं॥
मणुसाणं णाणाणं मणसारीराणि दुक्खाणि।
सुहदरं तु देवाणमणं दुक्खं तु मणसिभवं॥
यह उद्धरण आचारांग टीका में भी है पृ 25

भगवान—मेरा वचन सत्यरूप तथा अहिंसक ही है क्योंकि असत्य और हिंसक वचन के कारण रूप, राग, द्वेष भय मोह का मुझ मे अभाव है। अत ज्ञाता तथा मध्यस्थ पुरुष के वचन के सदृश तुम्हे मेरा वचन सत्य और अहिंसक ही मानना चाहिए[1]। [१६०२]

अकम्पित—किन्तु आप सर्वज्ञ हैं, इसका क्या प्रमाण है ?

भगवान—तुम प्रत्यक्ष देखते हो कि मैं सभी संशयों का निवारण करता हूं। क्या सर्वज्ञ के बिना ऐसा निराकरण कोई कर सकता है ? अत तुम्हे मुझे सर्वज्ञ मानना चाहिए। पुनश्च भय राग द्वेष के कारण मनुष्य अज्ञानी बनता है। मुझ मे इनमें से कोई भी दोष नहीं है। तुम उन का कोई भी बाह्य चिह्न मेरे में नहीं देख रहे हो। अत भयादि दोष से रहित होने के कारण मुझे सर्वज्ञ मान कर तुम्हे मेरा वचन प्रमाण मानना चाहिए।

अकम्पित—युक्ति तथा आपके वचनों से नारकों का सद्भाव मानने के लिए मैं तैयार हूँ, किन्तु पहले कहे गए वेद-वाक्य के विषय में आपका क्या विचार है ? 'न ह व प्रेत्य नारका' इस वाक्य में नारकों का स्पष्ट रूप से अभाव बताया है।

**वेद-वाक्यों का समन्वय**

भगवान—इस वाक्य का तात्पर्य नारकों का अभाव नहीं है। इसका भाव यह है कि परलोक में मेरु आदि के समान नारक शाश्वत नहीं हैं किन्तु जो यहाँ प्रकृष्ट पाप करते हैं, वे मर कर नारक बनते हैं। अत ऐसा पाप नहीं करना चाहिए जिससे नारक बनना पड़े। [१६०३]

इस प्रकार जब जरा मरण से रहित भगवान ने अकम्पित के संशय का निवारण किया तब उसने अपने ३५० शिष्यों के साथ दीक्षा अंगीकार की। [१६०४]

---

1 यह गाथा पहले भी आई है 1573

# नवम गणधर अचलभ्राता

## पुण्य पाप-चर्चा

उन सब को दीक्षित हुए सुन कर अचलभ्राता ने भी विचार कि भगवान के पास जाऊँ उन्हें नमस्कार करूँ तथा उनकी सेवा करूँ। तत्पश्चात् भगवान के पास आ पहुंचा। [१६०५]

जन्म जरा मरण से मुक्त भगवान ने सर्वज्ञ सर्वदर्शी होने के कारण अचलभ्राता हारित! इस नाम मात्र से बुलाया। [१६०६]

### पुण्य पाप के विषय में सन्देह

और भगवान् ने उसे कहा— पुरुष एवेदं सर्वम् इत्यादि वाक्यानुसार तुम्हें यह प्रतीत होता है कि इस संसार में पुरुष के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं है। अतः पुण्य-पाप जैसी वस्तु का भी मानने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु तुम यह जानते हो कि अधिकतर लोग पुण्य पाप का सद्भाव मानते हैं। अतः तुम्हें संशय है कि पुण्य पाप का सद्भाव है या नहीं? किन्तु तुम उक्त वेद वाक्य का यथार्थ अर्थ नहीं जानते इसलिए ऐसा संशय करते हो। मैं तुम्हें इसका यथार्थ अर्थ बताऊंगा उससे तुम्हारा संशय दूर हो जाएगा। [१६०७]

अपि च पुण्य-पाप के सम्बन्ध में तुम्हारे सामने भिन्न भिन्न मत उपस्थित हैं। इसलिए भी तुम यह निश्चय नहीं कर सकते कि सच्चा पथ कौनसा है। तुम्हारा मन अस्थिर रहता है। तुम्हारे समक्ष पुण्य-पाप के सम्बन्ध में निम्नलिखित मत उपस्थित हैं—

१ केवल पुण्य ही है, पाप नहीं।

२ केवल पाप ही है पुण्य नहीं।

३ पुण्य और पाप दोनों ही साधारण वस्तु हैं। जैसे [illegible] वैसे ही पुण्य भी साधारण वस्तु है। [illegible] पुण्य तथा दुःख का फल [illegible] है।

४ [illegible] पुण्य तथा पाप का फल [illegible] है।

५ [illegible] है।

[illegible]

पुण्यवाद

१ केवल पुण्य ही है पाप का सर्वथा अभाव है। पुण्य का क्रमशः उत्कर्ष होता है, वह शुभ है। अर्थात् जैसे जैसे पुण्य थोड़ा-थोड़ा बढ़ता है वैसे-वैसे क्रमशः सुख की भी वृद्धि होती है। अन्त में पुण्य का परम उत्कर्ष होने पर स्वर्ग का उत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है। किन्तु यदि पुण्य की क्रमशः हानि होती जाए तो सुख की भी क्रमिक हानि होती है। अर्थात् उसी परिमाण में दुःख बढ़ता जाता है और निदान जब पुण्य न्यूनतम रह जाता है तब नरक में उत्कृष्ट दुःख मिलता है। किन्तु पुण्य का सर्वथा क्षय होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार केवल पुण्य का स्वीकार करने से सुख-दुःख होना घटित हो जाते हैं तो फिर पाप को पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है? जैसे पथ्याहार की क्रमिक वृद्धि से आरोग्य-वृद्धि होती है, वैसे ही पुण्य वृद्धि से सुख-वृद्धि होती है जैसे पथ्याहार के कम होने पर आरोग्य की हानि होती है अर्थात् रोग बढ़ता है वैसे ही पुण्य की हानि से दुःख बढ़ता है। सर्वथा पथ्याहार का त्याग करने पर मरण होता है और सर्वथा पुण्य का क्षय होने पर मोक्ष होता है। इस तरह केवल पुण्य से सुख-दुःख की उपपत्ति हो जाती है अतः पाप को पृथक् क्यों माना जाए? [१९०८-९]

पापवाद

२ इसके विपरीत केवल पाप का अस्तित्व मानने वाले तथा पुण्य का निषेध करने वाले लोगों का कथन है कि जैसे अपथ्याहार की वृद्धि से रोग की वृद्धि होती है वैसे ही पाप की वृद्धि से अधमता अथवा दुःख की वृद्धि होती है। जब पाप का परम प्रकर्ष होता है तब नारकों में उत्कृष्ट दुःख मिलता है। पुनश्च, जैसे अपथ्याहार का कम करने से आरोग्य लाभ की वृद्धि होती है वैसे ही पाप का अपकर्ष होने पर शुभ अथवा सुख की वृद्धि होती है और न्यूनतम पाप होने पर देवों को उत्कृष्ट सुख मिलता है। अपथ्याहार के सर्वथा त्याग से परम आरोग्य की प्राप्ति होती है तथा पाप के सर्वथा नाश से मोक्ष का लाभ होता है। इस प्रकार केवल पाप को मानने से सुख-दुःख की उपपत्ति हो जाती है अतः पुण्य को पृथक् मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। [१९१०]

पुण्य-पाप दोनों संकीर्ण हैं

३ पुण्य या पाप ये दोनों ही स्वतन्त्र नहीं हैं किन्तु उभय साधारण एक ही वस्तु हैं। ऐसा मानने वालों का कथन है कि जैसे अनेक रंगों के सम्मिश्रण से एक साधारण संकीर्ण वर्ण की उत्पत्ति होती है, अथवा विविध वर्णयुक्त मेचक मणि एक ही है, अथवा सिंह और नर का रूप धारण करने वाला नरसिंह एक ही है वैसे ही पाप और पुण्य की संज्ञा प्राप्त करने वाली एक ही साधारण वस्तु है। इस साधारण वस्तु में जब पुण्य की एक मात्रा बढ़ जाती है तब उसे पुण्य कहते हैं। तथा जब पाप की एक मात्रा बढ़ जाती है तब उसे पाप कहते हैं। अर्थात् पुण्यांश

इन ४२ प्रकृतियों को छोड़ कर शेष ८२ कर्म प्रकृतियाँ अशुभ अर्थात् पाप प्रकृतियाँ हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—न्यग्रोधपरिमण्डल-आदि पुण्य-आदि दुःख के पाँच संस्थान, अशुभ संहनन, अशुभ वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श, कालिका-नीलकृष्ण ये पाँच वर्ण, तिर्यग्गति, तिर्यग् आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, नरक गति नरकानुपूर्वी, नरकायु, स्थावर, सूक्ष्म अपर्याप्त, साधारण अस्थिर, अशुभ दुर्भग दुःस्वर, अशुभ अयशःकीर्ति अशुभगन्ध अशुभरस अशुभस्पर्श केवल ज्ञानावरण केवल दर्शनावरण निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला प्रचलाप्रचला स्त्यानर्द्धि अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान अनन्तानुबन्धी माया अनन्तानुबन्धी लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध अप्रत्याख्यानावरण मान अप्रत्याख्यानावरण माया, अप्रत्याख्यानावरण लोभ प्रत्याख्यानावरण क्रोध प्रत्याख्यानावरण मान प्रत्याख्यानावरण माया प्रत्याख्यानावरण लोभ मिथ्यात्व मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण चक्षुदर्शनावरण अचक्षुदर्शनावरण अवधिदर्शनावरण सम्यक्त्व क्रोध सम्यक्त्व मान सम्यक्त्व माया, सम्यक्त्व लोभ हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुष नपुंसक वेद दानान्तराय लाभान्तराय भोगान्तराय उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय। ये सब मिल कर ८२ प्रकृतियाँ हैं।

अन्तःप्रश्न—मिथ्यात्व के प्रभेदों में सम्यक्त्व भी है। उसे शुभ या पाप प्रकृति क्यों कहा है? यदि यह पाप प्रकृति है तो उसे सम्यक्त्व किसलिए कहा जाता है?

भगवान्—जीव की रुचि के रूप जो सम्यक्त्व होता है वह तो शुभ होता है किन्तु यहाँ उसका विचार नहीं किया गया है। यहाँ मिथ्यात्व के शुद्ध किए गए पुद्गलों को सम्यक्त्व कहा गया है और वे तो संशय आदि उदय में निमित्त भूत होने के कारण अशुभ या पाप ही हैं। इन पुद्गलों को उपचार से सम्यक्त्व इसलिए कहते हैं कि ये जीव की रुचि को आवृत्त नहीं करते। वस्तुतः ये पुद्गल मिथ्यात्व के ही हैं।

उक्त पुण्य तथा पाप के सविपाक और अविपाक भेद भी हैं। जो प्रकृति जिस रूप में बाँधी गई हो उसी रूप में उसका विपाक हो तो उसे सविपाक प्रकृति कहते हैं तथा यदि उसके रस को मन्द कर अथवा नीरस कर उसके प्रदेशों का उदय भोगने में आए तो वह अविपाकी कहलाती है।

### पुण्य-पाप के स्वातन्त्र्य का समर्थन

इतनी चर्चा से यह बात तो सिद्ध हो गई है कि पुण्य और पाप संकीर्ण नहीं प्रत्युत स्वतन्त्र हैं। यदि वे संकीर्ण हों तो सभी जीवों को उनका फल मिश्ररूप

में अनुभूत होना चाहिए—अर्थात केवल दुःख या सुख का कभी भी अनुभव नहीं होना चाहिए, दुःख और सुख हमेशा मिश्रित रूप में ही अनुभव में आना चाहिए। किन्तु ऐसी बात नहीं है। देवों में विशेषतः केवल सुख का अनुभव है तथा नारकादि में विशेषतः केवल दुःख का। संकीर्ण कारण से उत्पन्न कार्य में भी संकीर्णता ही होनी चाहिए। ऐसा नहीं हो सकता कि जिनका संकर हो उनमें से कोई एक ही उत्कट रूप में कार्य में उत्पन्न हो और दूसरे का कोई भी कार्य उत्पन्न न हो। अतः सुख के अतिशय के निमित्त को दुःख के अतिशय के निमित्त से भिन्न ही मानना चाहिए।

अचलभ्राता—पाप पुण्य संकीर्ण होने से चाहे एक रूप माना जाए, किन्तु जब पुण्यांश बढ़ जाए और पापांश की हानि हो तब सुखातिशय का अनुभव हो सकता है तथा जब पापांश की वृद्धि से पुण्यांश की हानि हो तब दुःखातिशय का भी अनुभव हो सकता है। इस प्रकार पुण्य-पाप को संकीर्ण मान कर भी स्वर्ग में सुखातिशय तथा नारकादि में दुःखातिशय का अनुभव संभव है। फिर पुण्य व पाप को स्वतन्त्र क्यों माना जाए?

भगवान—यदि पुण्य व पाप सर्वथा एक रूप हों तो एक की वृद्धि होने पर दूसरे की भी वृद्धि होनी चाहिए। तुम्हारे कथनानुसार ऐसा तो होता नहीं है, क्योंकि पाप की वृद्धि होने पर पुण्य की हानि होती है तथा पुण्य की वृद्धि के समय पाप की हानि होती है। अतः पुण्य व पाप को एकरूप न मान कर भिन्न रूप ही मानना चाहिए। जैसे स्वर्ण की वृद्धि होने पर रजत की वृद्धि नहीं होती अतः वे दोनों भिन्न हैं वैसे ही पाप की वृद्धि के समय पुण्य की वृद्धि नहीं होती इसलिए ये दोनों को स्वतन्त्र मानने चाहिए। वस्तुतः ये दोनों यद्यपि पुण्य व पाप के रूप में भिन्न हैं तथापि कर्म रूप में दोनों अभिन्न हैं। यदि तुम यह बात स्वीकार करते हो तो मेरा कथन आपत्ति रहित है। इस प्रकार पुण्य पाप सम्बन्धी संशय का भी निराकरण हो जाता है। अतः पुण्य व पाप दोनों स्वतन्त्र हैं यह चौथा पद ही युक्तियुक्त सिद्ध होता है। इसलिए स्वभाववाद को भी नहीं माना जा सकता। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा अभिभूति के साथ की जाती है। अतः पुण्य व पाप को स्वतन्त्र मानना चाहिए और तुम्हें इस विषय में संशय नहीं करना चाहिए। [१६८]

अचलभ्राता—तो फिर वेद में पुण्य-पाप का निषेध क्यों किया गया है?

**वेद वाक्यों का अर्थ**

भगवान—इसका [illegible] (स्तुति) [illegible] है। वेद के [illegible] इस वाक्य का [illegible] करना नहीं है। [illegible]

**भूत आत्मा का सतरूप नहीं होता**

पुनश्च, यदि प्रतिपिण्ड में भिन्न-स्वरूप अनेक चैतन्य धर्मों को न मानकर मात्र सकल चैतन्याधार रूप एक ही सर्वव्यापी तथा निष्क्रिय ऐसी आत्मा मानी जाए जिसके विषय में कहा गया है कि 'प्रत्येक भूत में अवस्थित एक ही भूतात्मा है और वह एक होकर भी एकरूप में तथा बहुरूप में जल में चन्द्र बिम्ब के समान दिखाई देती है'[1] तो भी परलोक की सिद्धि नहीं हो सकती। कारण यह है कि वह सर्वगत और निष्क्रिय होने से आकाश के समान प्रत्येक पिण्ड में व्याप्त है, अतः उसका संसरण सम्भव नहीं है। संसरण के अभाव में परलोक-गमन कैसे सम्भव हो सकता है? [१६५४]

और भी इस मनुष्य जन्म की अपेक्षा से देव व नारक का भव परलोक कहलाता है किन्तु वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिए भी परलोक की सत्ता नहीं है। इस प्रकार युक्ति पूर्वक विचार करने पर तुम्हें परलोक का अभाव ज्ञात होता है, किन्तु वेद वाक्यों में जन्म का प्रतिपादन भी है। अतः तुम्हें सन्देह है कि परलोक है या नहीं? [१६५५]

मेतार्य—आप ने मेरे संशय का ठीक-ठीक प्रतिपादन किया है। कृपया अब उसका निवारण करें।

**संशय निवारण—परलोक सिद्धि, आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है**

भगवान्—भूत(इन्द्रिय) इत्यादि से भिन्न-स्वरूप आत्मा का धर्म चैतन्य है तथा यह आत्मा जातिस्मरण आदि हेतुओं द्वारा द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य सिद्ध होती है। इस विषय की विशेष चर्चा वायुभूति में की जा चुकी है। अतः तुम्हें भी उसके समान आत्मा को स्वीकार करनी चाहिए। [१६५६]

मेतार्य—अनेक आत्माओं के स्थान पर एक ही सर्वगत व निष्क्रिय आत्मा क्यों न मानी जाए?

**आत्मा अनेक हैं**

भगवान्—आत्म द्रव्य को एक, सर्वगत और निष्क्रिय नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि उसमें घटादि के समान लक्षण भेद हैं। अतः अनेक घटादि के सदृश आत्मा को भी अनेक मानना चाहिए। इस सम्बन्ध में विशेष विचारणा इन्द्रभूति के साथ हो चुकी है। अतः तुम भी उसकी तरह आत्मा को अनेक मान लो।

---

1 एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ ब्रह्मबिन्दूपनिषद्-12।

# दसवें गणधर मेतार्य

## परलोक चर्चा

यह सुनकर कि वे सब दीक्षित हो चुके हैं, मेतार्य ने विचार किया, "मैं भी भगवान के पास जाऊं, उन्हें वन्दन करूं तथा उनकी सेवा करूं।" तत्पश्चात वह भगवान के पास आ गया। [१९४९]

जाति-जरा मरण से मुक्त भगवान् ने सर्वज्ञ सर्वदर्शी होने के कारण उस मेतार्य कौण्डिन्य। इस नाम-मात्र से बुलाया और कहा। [१९५०]

### परलोक विषयक सन्देह

तुम्हें संशय है कि परलोक है या नहीं? तुमने 'विज्ञानघन एवतेभ्यो भूतेभ्य' इत्यादि परस्पर विरोधी वेद वाक्य सुने हैं। अतः तुम्हें संशय होना स्वाभाविक है। किन्तु तुम उन वेद-वाक्यों का यथार्थ अर्थ नहीं जानते इसीलिए सन्देह में पड़े हो। मैं तुम्हें उनका सच्चा अर्थ बताऊंगा, उससे तुम्हारे संशय का निवारण हो जाएगा। [१९५१]

### अतः धर्म चैतन्य का भूतों के साथ नाश

तुम्हें यह प्रतीत होता है कि गुड़, धावड़ी आदि मद्य के अंगों या कारणों से जैसे मद धर्म भिन्न नहीं होता, वैसे ही पृथ्वी आदि भूतों से यदि चैतन्य धर्म भिन्न न हो तो परलोक मानने का कोई भी आधार नहीं रह जाता। कारण यह है कि भूतों के नाश के साथ चैतन्य का भी नाश हो जाता है फिर परलोक किसलिए और किसका मानना? जो धर्म जिससे अभिन्न हो वह उसके नाश के साथ ही नष्ट हो जाता है। जैसे पट का शुक्लत्व धर्म पट से अभिन्न है, पट का नाश होने पर उसका भी नाश हो जाता है वैसे ही यदि भूतों का धर्म चैतन्य भूतों से अभिन्न हो तो भूतों के नाश के साथ उसका भी नाश हो जाएगा। ऐसी दशा में परलोक मानने की आवश्यकता नहीं रहती। [१९५२]

### भूतों से उत्पन्न चैतन्य अनित्य है

यदि चैतन्य को भूतों से भिन्न माना जाए तो भी परलोक स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रहती। कारण यह है कि भूतों से उत्पन्न होने के कारण वह अनित्य है। जैसे अरणी नामक काष्ठ से उत्पन्न होने वाली अग्नि विनाशी है, वैसे ही भूतों से उत्पन्न होने वाला चैतन्य भी विनाशी होना चाहिए। अतः भूतों से भिन्न होने पर भी वह नष्ट हो जाएगा। फिर परलोक किसका मानना? [१९५३]

**अद्वैत आत्मा का संसरण नहीं होता**

पुनश्च, यदि प्रतिपिण्ड में भिन्न-स्वरूप अनेक चैतन्य धर्मों को न मानकर मात्र सर्वत्र चैतन्याश्रय रूप एक ही सर्वव्यापी तथा निष्क्रिय ऐसा आत्मा मानी जाए जिसके विषय में कहा गया है कि प्रत्येक भूत में व्यवस्थित एक ही भूतात्मा है और वह एक होकर भी एकरूप में तथा बहुरूप में जल में चन्द्र बिम्ब के समान दिखाई देती है[1] तो भी परलोक की सिद्धि नहीं हो सकती। कारण यह है कि वह सर्वगत और निष्क्रिय होने से आकाश के समान प्रत्येक पिण्ड में व्याप्त है, अतः उसका संसरण सम्भव नहीं है। संसरण के अभाव में परलोक-गमन कैसे सम्भव हो सकता है? [१६५४]

और भी इस मनुष्य जन्म की अपेक्षा से देव व नारक का भव परलोक कहलाता है किन्तु वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिए भी परलोक की सत्ता नहीं है। इस प्रकार युक्ति पूर्वक विचार करने पर तुम्हें परलोक का अभाव ज्ञात होता है, किन्तु उन वाक्यों में जो परलोक का प्रतिपादन भी है। अतः तुम्हें सन्देह है कि परलोक है या नहीं? [१६५५]

मेतार्य—आपने मेरी शंका का ठीक-ठीक प्रतिपादन किया है। कृपया अब उसका निवारण करें।

**संशय निवारण—परलोक सिद्धि आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है**

भगवान्—भूत(इन्द्रिय) इत्यादि से भिन्न-स्वरूप आत्मा का धर्म चैतन्य है तथा यह आत्मा जातिस्मरण आदि हेतुओं द्वारा द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य सिद्ध होता है। इस विषय की विशेष चर्चा वायुभूति से की जा चुकी है। अतः तुम्हें भी उसके समान आत्मा स्वीकार करनी चाहिए। [१६५६]

मेतार्य—अनेक आत्माओं के स्थान पर एक ही सर्वगत व निष्क्रिय आत्मा क्यों न माना जाए?

**आत्मा अनेक हैं**

भगवान्—आत्म द्रव्य को एक सर्वगत और निष्क्रिय नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि उनमें घटादि के समान लक्षण भेद है। अतः अनेक घटादि के सदृश आत्मा को भी अनेक मानना चाहिए। इस सम्बन्ध में विशेष विचारणा इन्द्रभूति के साथ हो चुकी है। अतः तुम भी उसकी तरह आत्मा को अनेक मान लो।

---

1 एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ ब्रह्मबिन्दूपनिषद्-12।

मेतार्य—आत्मा में लक्षण भेद कैसे है ?

भगवान—आत्मा का लक्षण उपयोग है। राग, द्वेष, कषाय तथा विषयादि भेदों के कारण अनन्त अध्यवसाय भेद होने से वह उपयोग अनन्त प्रकार का दृगोचर होता है, अतः उसकी आधारभूत आत्मा भी अनन्त होनी चाहिए।

मेतार्य—अनन्त होकर भी आत्मा सर्वव्यापी क्यों नहीं होता ?

**आत्मा देह परिमाण है**

भगवान—आत्मा शरीर में ही व्याप्त है, वह सर्वव्यापक नहीं है, क्योंकि उसके गुण शरीर में ही उपलब्ध होते हैं। जैसे स्पर्श का अनुभव समस्त शरीर में होता है और अन्यत्र नहीं होता इसलिए स्पर्शनेन्द्रिय केवल शरीर-व्यापी ही है उसी प्रकार आत्मा को भी शरीर व्याप्त ही मानना चाहिए।

मेतार्य—आत्मा को निष्क्रिय क्यों नहीं माना जाता ?

**आत्मा सक्रिय है**

भगवान—आत्मा निष्क्रिय नहीं, क्योंकि वह देवदत्त के समान भोक्ता है। यह सब चर्चा इन्द्रभूति से की है। अतः उसके समान तुम भी आत्मा को अनन्त अमध्यगत तथा निष्क्रिय मान लो। [१६५७]

मेतार्य—प्रमाण सिद्ध होने के कारण यह माना जा सकता है कि आत्मा अनेक है, किन्तु उसका देव-नारक रूप परलोक तो दिखाई नहीं देता फिर उसे क्यों माना जाए ?

**देव-नारक का अस्तित्व**

भगवान—इस लोक से भिन्न देव नारक आदि परलोक भी तुम्हें स्वीकार करने चाहिए क्योंकि मोक्ष के साथ की गई चर्चा में देव-लोक का तथा अस्तित्व के साथ की गई चर्चा में नारक-लोक की प्रमाणतः सिद्धि की गई है। इस लिए तुम्हें भी देव-नारक का अस्तित्व मानना चाहिए। [१६५८]

**परलोक के अभाव का पूर्व पक्ष : विज्ञान अनित्य होने से आत्मा अनित्य**

मेतार्य—जीव तथा विज्ञान को भिन्न मानें या अभिन्न किन्तु उससे परलोक का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। यदि जीव को विज्ञानमय अथवा विज्ञान से अभिन्न माना जाए तो विज्ञान अनित्य होने के कारण नष्ट हो जाता है इसलिए जीव भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जीवात्मा जैसा होता है परलोक किसका होगा ? अतः अभिन्न पक्ष में परलोक के लिए माना जा सकता। यदि जीव को विज्ञान से भिन्न माना जाए तो जीव अरूपी होने से दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। इस प्रकार आकाश से भिन्न है इसलिए आकाश के समान अरूपी होने से जीव को जीव का भी अभाव ही होगा। [१६५९]

एकान्त नित्य में कर्तृत्वादि नहीं

यदि च, अनित्य ज्ञान से भिन्न होने के कारण यदि आत्मा को एकान्त नित्य माना जाए तो आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व भी घटित नहीं हो सकता, फिर परलोक का तो कहना ही क्या है? यदि नित्य में भी कर्तृत्व और भोक्तृत्व हो तो वे सदैव होने चाहिए। कारण यह है कि नित्य वस्तु सदा एकरूप होती है, किन्तु वे जीव में सदैव नहीं होते। अतः जीव को सर्वथा नित्य मानने से उसमें कर्तृत्व की सिद्धि नहीं होती। आत्मा के कर्ता न होने पर भी परलोक का अस्तित्व माना जाए तो सिद्धों के लिए भी परलोक मानना पड़ेगा। भोक्तृत्व के अभाव में भी परलोक की मान्यता व्यर्थ है। यदि परलोक में आत्मा कर्म फल न भोगे तो परलोक की सार्थकता ही क्या है?

अमूर्त आत्मा का संसरण नहीं

पुनश्च, जीव अमूर्त होने के कारण उसकी का संसरण एक भव से दूसरे भव में जन्म लेने की आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार यदि आत्मा भी ज्ञान से भिन्न होने के कारण आकाश के समान अमूर्त है तो उसका संसरण भी घटित नहीं होता और आकाश के समान अमूर्त होने के कारण भी आत्मा का संसार नहीं माना जा सकता। जब आत्मा में संसार का ही अभाव होगा तो परलोक की सिद्धि कैसे हो सकती है? [१६०]

परलोक सिद्धि—आत्मा अनित्य है, अतः नित्य भी है

भगवान्—तुम ने आत्मा को विनश्वर (अनित्य) सिद्ध किया है। तुम्हारे कथन का तात्पर्य यह है कि जो उत्पत्तिशील हो उसे घटादि के समान अनित्य होना चाहिए। विज्ञान उत्पत्तिशील होने के कारण अनित्य है अतः विज्ञानाभिन्न आत्मा भी अनित्य माननी चाहिए। तुम शायद यह भी मानते हो कि जो पर्याय होती है वह अनित्य होती है जैसे स्तम्भादि का नवीनत्व, पुरातनत्व आदि पर्याय। विज्ञान भी पर्याय होने के कारण अनित्य है। इसलिए यदि आत्मा भी विज्ञानमय है तो वह भी अनित्य ही होगी। इससे तुम यह परिणाम निकालते हो कि आत्मा का परलोक नहीं है किन्तु तुम्हारी यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। कारण यह है कि जिन हेतुओं के आधार पर तुम विज्ञान को अनित्य सिद्ध करते हो उनके आधार पर ही उसे नित्य सिद्ध किया जा सकता है। अर्थात् जो उत्पत्तिशील होता है या पर्याय होता है वह सर्वथा विनाशी न होकर अविनाशी भी होता है।

मेतार्य—यह कैसे सम्भव है?

भगवान्—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य वस्तु का स्वभाव है। अर्थात् किसी भी वस्तु में केवल उत्पाद नहीं होता। जहाँ उत्पाद होता है वहाँ ध्रौव्य भी है। अतः यदि उत्पत्ति के कारण वस्तु कथंचित् अनित्य कहलाती है तो ध्रौव्य के कारण

कथंचित् नित्य भी कहलाएगा। अतः [illegible], मानना है कि विज्ञान नित्य है क्योंकि वह उत्पत्तिमान है, जैसे नित्य। कथंचित् नित्य विज्ञान से अभिन्न होने के कारण आत्मा भी कथंचित् नित्य होगा। फिर परमात्मा का अभाव कैसे होगा? [१९६१]

अपि च, तुमने विज्ञान को विनाशी सिद्ध करने के लिए उत्पत्तिमान हेतु दिया है। यह हेतु प्रत्यनुमान अर्थात् विनाशी अनुमान उपस्थित होने से विरुद्धव्यभिचारी भी है। अर्थात् विज्ञान में तुमने उसका उत्पत्ति के कारण अनित्य सिद्ध करने का है और तुम अपने हेतु को व्यभिचारी मानते हो। किन्तु इसके विपरीत नित्यता को सिद्ध करने वाला अन्य अव्यभिचारी हेतु भी है। इससे तुम्हारा हेतु दूषित कहलाएगा।

मेतार्य—प्रत्यनुमान कौनसा है?

## घट भी नित्यानित्य है

भगवान्—विज्ञान सर्वथा विनाशी नहीं हो सकता, क्योंकि वह वस्तु है। जो वस्तु होती है वह घट के समान सर्वथा विनाशी नहीं होती, क्योंकि वह पर्याय की अपेक्षा से विनाशी होकर भी द्रव्य की अपेक्षा से अविनाशी है।

मेतार्य—आपका दृष्टान्त घट उत्पत्ति युक्त होने से विनाशी ही है, आप उसे अविनाशी कैसे कहते हैं? विनाशी घट के आधार पर आप विज्ञान को अविनाशी कैसे सिद्ध कर सकते हैं? [१९६२]

भगवान्—पहले यह समझना आवश्यक है कि घट क्या है? रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श ये गुण संख्या, आकृति, मिट्टी रूप द्रव्य तथा जलाहरण आदि रूप शक्ति ये सब मिल कर घट कहलाते हैं। ये रूपादि स्वयं उत्पाद विनाश ध्रौव्यात्मक हैं। अतः घट को भी अविनाशी कहा जा सकता है। उसके उदाहरण से विज्ञान को भी अविनाशी सिद्ध किया जा सकता है। [१९६३]

मेतार्य—इस बात को कुछ और स्पष्ट करें तो यह समझ में आ सकेगी।

भगवान्—मिट्टी के पिण्ड का गोल आकार तथा उसकी शक्ति ये उभय रूप पर्याय जिस समय नष्ट हो रही हो, उसी समय वह मिट्टी का पिण्ड घटाकार और घट शक्ति इन उभय रूप पर्याय स्वरूप में उत्पन्न होता है। इस प्रकार उसमें उत्पाद व विनाश अनुभव सिद्ध है, अतः वह अनित्य है। किन्तु पिण्ड में विद्यमान रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा मिट्टी रूपी द्रव्य का तो उस समय भी उत्पाद या विनाश कुछ नहीं होता, वे सदा अवस्थित हैं अतः उनकी अपेक्षा से घट नित्य भी है। सारांश यह है कि मिट्टी द्रव्य का एक विशेष आकार और उसकी शक्ति अनवस्थित है। अर्थात् मिट्टी द्रव्य जिस पिण्ड रूप में था, वह अब घटाकार रूप में परिणत हो गया, पिण्ड में जलाहरण आदि की शक्ति नहीं थी, वह अब घटाकार में आ गई। इस प्रकार

घड म पूवावस्था का व्यय तथा अपूर्व अवस्था की उत्पत्ति होने के कारण वह विनाशी कहलाता है, किन्तु उसका रूप, रस, मिट्टी आदि वही है, अत उसे अविनाशी भी कहना चाहिए। इसी प्रकार संसार के सभी पदार्थ उत्पाद विनाश ध्रुव स्वभाव वाले समझ लेने चाहिए। इससे सभी पदार्थ नित्य भी हैं और अनित्य भी। अत उत्पत्ति होने से इस हेतु द्वारा जन्म वस्तु का विनाशी सिद्ध किया जा सकता है वैसे ही अविनाशी भी सिद्ध किया जा सकता है। इसलिए विज्ञान भी उत्पत्ति युक्त होने से अविनाशी भी है और विज्ञान से अभिन्न आत्मा भी अविनाशी सिद्ध होती है अत परलोक का अभाव नहीं है। [१९६४-६५]

मेतार्य—विज्ञान म उत्पादादि तीनों कैसे घटित होते हैं ?

**विज्ञान भी नित्यानित्य है**

भगवान—घट-विषयक ज्ञान घट विज्ञान अथवा घट चेतना कहलाता है और पट विषयक ज्ञान पट विज्ञान अथवा पट चेतना। इसी प्रकार भिन्न भिन्न चेतनाओं को समझ लेना चाहिए। हम यह अनुभव करते हैं कि घट चेतना का जिस समय नाश होता है उसी समय पट चेतना उत्पन्न होती है, किन्तु जीव रूप सामान्य चेतना उन दोनों अवस्थाओं म विद्यमान रहती है। इस प्रकार इस लोक के प्रत्येक चेतन (जीवों) मे उत्पाद-व्यय ध्रौव्य सिद्ध हो जाते है। यही बात परलोक-गत जीव के विषय म कही जा सकती है कि कोई जीव जब इस लोक म से मनुष्य रूप मे मर कर देव होता है तब उस जीव का मनुष्य रूप वह लोक नष्ट होता है तथा देव रूप परलोक उत्पन्न होता है किन्तु सामान्य जीव अवस्थित ही है। शुद्ध द्रव्य की अपेक्षा से उस जीव को इहलोक या परलोक नहीं कहा किन्तु मात्र जीव कहते हैं। वह अविनाशी ही है। इस प्रकार इस जीव के उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभाव युक्त होने के कारण परलोक का अभाव सिद्ध नहीं होता। [१९६६-६७]

मेतार्य—सभी पदार्थों को उत्पादादि त्रि-स्वभाव युक्त मानने की क्या आवश्यकता है ? केवल उत्पाद और व्यय मानने म क्या दोष है ? यह बात अनुभव सिद्ध है कि उत्पत्ति से पूर्व घट था ही नहीं फिर उस उत्पत्ति म पूर्व विद्यमान मानने का क्या उद्देश्य है ?

भगवान—यदि घटादि सर्वथा असत् हो द्रव्यरूप म भी विद्यमान न हो तो उसकी उत्पत्ति ही सम्भव नहीं है। यदि सर्वथा असत् की भी उत्पत्ति माना जाएगी तो खर विषाण भी उत्पन्न होना चाहिए। खर विषाण कभी उत्पन्न नहीं होता तथा घटादि पदार्थ कदाचित उत्पन्न होते हैं, अत उत्पत्ति सर्वथा असत् की नहीं प्रत्युत कथंचित सत की होती है। इसी प्रकार जो सत् है उसका सर्वथा विनाश भी नहीं होता। यदि सत् का सर्वथा विनाश माना जाएगा तो क्रमश सभी वस्तुओं के नष्ट हो जाने पर सर्वोच्छेद का प्रसंग आ जाएगा। [१९६८]

अत अवस्थित या विद्यमान का ही किसी एक रूप म विनाश तथा दूसरे रूप म उत्पाद मानना चाहिए जैसे सत्रूप जीव का मनुष्य रूप म विनाश तथा

**निर्वाण विषयक मतभेद**

तुम यह भी सोचते हो कि वस्तुतः निर्वाण कैसा होगा ? कोई कहता है कि दीप निर्वाण के समान जीव का नाश ही निर्वाण है। जैसे कि "जैसे दीप जब निर्वाण को प्राप्त होता है तब वह पृथ्वी में नहीं समाता, आकाश में नहीं जाता, किसी दिशा अथवा विदिशा में भी नहीं जाता, किन्तु तेल के समाप्त हो जाने पर वह केवल शान्त हो जाता है—बुझ जाता है, वैसे ही जीव भी जब निर्वाण को प्राप्त होता है तब वह पृथ्वी या आकाश में नहीं जाता, किसी दिशा या विदिशा में नहीं जाता परन्तु क्लेश का नाश होने से केवल शान्ति प्राप्त करता है—समाप्त हो जाता है[1]।

और भी, कोई कहता है कि सत् अर्थात् विद्यमान जीव के राग, द्वेष, मद मोह जन्म, जरा, दुःख रागादि का क्षय हो जाने से जो एक विशिष्ट अवस्था उत्पन्न होती है वही मोक्ष है। जैसे कि—

"केवलज्ञान व केवलदर्शन स्वभाव वाला सब प्रकार के दुःख से रहित, राग द्वेषादि आन्तरिक शत्रुओं को क्षीण कर देने वाला मुक्ति में गया हुआ जीव आनन्द का अनुभव करता है।'

इस प्रकार के विरोधी मत सुन कर तुम्हें सन्देह होता है कि इन दोनों में से निर्वाण का कौन सा स्वरूप वास्तविक माना जाए ? [१९७५]

तुम यह भी मानते हो कि जीव तथा कर्म का संयोग आकाश के समान अनादि है, इसलिए जीव और आकाश के अनादि संयोग के समान जीव व कर्म के संयोग का भी नाश नहीं होता। अर्थात् कभी भी संसार का अभाव नहीं होता, फिर निर्वाण की बात कैसे की जा सकती है ?

इस प्रकार तुम अनेक विकल्पों के जाल में फँसे हुए हो, जैसे कि निर्वाण का स्वरूप क्या माना जाए ? अथवा निर्वाण का सर्वथा अभाव स्वीकार किया जाए या नहीं ? तुम इस सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं कर सके, किन्तु मैं इस विषय में तुम्हारे सन्देह का समाधान करता हूँ। तुम उसे ध्यानपूर्वक सुनो। [१९७६]

प्रभास—आप पहले यह स्पष्ट करें कि जीव कर्म के अनादि संयोग का वियोग कैसे सम्भव हो सकता है ?

---

1 दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
सौन्दरनन्द 16 28 29

2 केवलनाणे य दंसणे सभावो विदुक्खरहियाणं।
सो न सुहिओ जीवो सीसो वरसासणे॥

**सन्देह निवारण—निर्वाण सिद्धि जीव कर्म का अनादि संयोग नष्ट होता है**

भगवान—यद्यपि कनक-पाषाण तथा कनक का संयोग अनादि है तथापि प्रयत्न द्वारा कनक को कनक-पाषाण से पृथक् किया जा सकता है, इसी प्रकार सम्यग् ज्ञान तथा क्रिया द्वारा जीव-कर्म के अनादि संयोग का अन्त हो सकता है तथा जीव से कर्म को पृथक् किया जा सकता है। मैंने इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण मण्डिक के साथ की गई चर्चा में किया है। अतः उसके समान तुम्हें भी मानना चाहिए कि जीव-कर्म का सम्बन्ध नष्ट हो सकता है। [१९७७]

प्रभास—नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव रूप में जो जीव दिखाई देते हैं वस्तुतः वही संसार है। उक्त नारकादि अवस्था से रहित शुद्ध जीव तो कभी दिखाई नहीं देता। अर्थात् पर्याय-रहित केवल शुद्ध जीव द्रव्य उपलब्ध नहीं होता। अतः जब नारकादि रूप संसार का नाश हो जाता है तब तद् अभिन्न जीव का भी नाश हो जाता है फिर मोक्ष किस का होगा? [१९७८]

**संसार पर्याय का नाश होने पर भी जीव विद्यमान रहता है**

भगवान—नारकादि जीव द्रव्य की पर्यायें हैं। इन पर्यायों का नाश हो जाने से जीव-द्रव्य का भी सर्वथा नाश हो जाता है यह धारणा अयुक्त है। जैसे अँगूठी का नाश होने पर भी सुवर्ण का सर्वथा नाश नहीं होता उसी प्रकार जीव की नारकादि भिन्न भिन्न पर्यायों का नाश होने पर भी जीव द्रव्य का सर्वथा नाश नहीं होता। जैसे सुवर्ण की अँगूठी पर्याय का नाश होता है और कंकण पर्याय का उत्पाद होता है किन्तु सुवर्ण स्थित रहता है वैसे ही जीव की नारकादि पर्याय का नाश होता है मुक्ति पर्याय का उत्पाद होता है परन्तु जीव द्रव्य विद्यमान रहता है। [१९७९]

प्रभास—जैसे कर्म के नाश से संसार का नाश होता है वैसे ही जीव का भी नाश हो जाना चाहिए अतः मोक्ष का अभाव ही मानना चाहिए।

**कर्म-नाश से संसार के समान जीव का नाश नहीं**

भगवान—संसार कर्मकृत है, अतः कर्म के नाश से संसार का नाश होना सर्वथा उपयुक्त है किन्तु जीवत्व कर्मकृत नहीं है अतः कर्म के नाश से जीव का नाश किसलिए मानना चाहिए? यदि कारण की निवृत्ति हो तो कार्य की भी निवृत्ति हो जाती है और व्यापक के निवृत्त होने पर व्याप्य भी निवृत्त हो जाता है, यह नियम है। किन्तु कर्म जीव का न तो कारण है और न व्यापक अतः कर्म की निवृत्ति पर जीव की निवृत्ति आवश्यक नहीं है। कर्म का चाहे अभाव हो जाय किन्तु जीव का अभाव नहीं होता अतः मोक्ष मानने में क्या आपत्ति है? [१९८०]

प्रभास—जीव का सर्वथा नाश नहीं होता इसमें क्या कोई अनुमान प्रमाण है?

**जीव सर्वथा विनाशी नहीं**

भगवान—जीव विनाशी नहीं है, क्योंकि उसमें आकाश के समान विकार (अवयव विच्छेद) दिखाई नहीं देता। जो विनाशी होता है उसका विकार अथवा

की भूत। ये सभी विचार [illegible] प्रमाण से, जो [illegible] के [illegible] के समान [illegible] भी सर्वथा नाश नहीं माना जा सकता। [१९८७]

प्रभास—यदि दीप का सर्वथा नाश नहीं होता तो वह बुझने के उपरान्त [illegible] दिखाई क्यों नहीं देता?

भगवान—बुझने के बाद वह अन्धकार परिणाम को प्राप्त करता है और वह प्रत्यक्ष ही है। अब यह [illegible] दिखाई नहीं देता। फिर भी बुझने के बाद [illegible] दिखाई नहीं देता? इसका समाधान यह है कि दीप उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर परिणाम को धारण करता है अतः विद्यमान होकर भी वह दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसे [illegible] बिखर जाने के बाद अपने सूक्ष्म परिणामों के कारण विद्यमान होते हुए भी आकाश में दृष्टिगोचर नहीं होते तथा [illegible] के कारण उड़ जाने वाला अबीर (गुलाल) विद्यमान होकर भी अपने सूक्ष्म रज के कारण दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार दीप भी बुझने के पश्चात् अस्तित्व रूप होते हुए भी सूक्ष्म परिणाम के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। स्थान के असत् होने के कारण नहीं, अपितु सूक्ष्म होने के कारण हमारे देखने में नहीं आता इसलिए दीप का सर्वथा नाश नहीं माना जा सकता। केवल उपर्युक्त दृष्टान्त से निर्वाण में जीव का सर्वथा अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। [१९८८]

प्रभास—पहले दीप आँखों से दिखाई देता था किन्तु बुझने के बाद वह सूक्ष्मतादि के कारण दिखाई नहीं देता, यह बात आपने कही है किन्तु वह सूक्ष्म क्योंकर हो जाता है?

### पुद्गल के स्वभाव का निरूपण

भगवान्—पुद्गल का ऐसा स्वभाव है कि वह विचित्र परिणाम धारण करता है। इसीलिए सुवर्णपत्र, नमक, सूँठ, हरड़, चित्रक, (एरण्ड), गुड़ आदि सभी पुद्गल स्कंध प्रथम चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्राह्य होते हैं, किन्तु अन्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप सामग्री मिलने से वे ऐसे बन जाते हैं कि तत्-तद् इन्द्रिय ग्राह्य न रह कर अन्य इन्द्रिय से ग्राह्य हो सकते हैं अथवा वे किसी अवस्था में इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य भी बन जाते हैं। जैसे कि यदि सोने का पत्र बनाया हो तो वह सोना चक्षु इन्द्रिय से गृहीत किया जाता है, किन्तु यदि उसे शुद्धि के उद्देश्य से भट्ठी में डाला जाए और वह राख के साथ मिल जाए तो वह आँखों से दिखाई नहीं देता किन्तु स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा उसका ज्ञान हो सकता है। तदुपरान्त यदि पुनः प्रयोग द्वारा सुवर्ण को भस्म से पृथक् किया जाए तो वह पुनः आँखों से दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार नमक, सोंठ, हरड़, एरण्ड, गुड़ ये सब पहले तो आँखों द्वारा उपलब्ध होते हैं, किन्तु यदि उन्हें सूप में मिला दिया जाए अथवा उनका चूर्ण बनाया जाए तो वे क्वाथ, चूर्ण, अवलेह आदि परिणामान्तर को प्राप्त करते हैं, अतः वे केवल आँखों

से ग्रहीत नहीं होते, परन्तु जीभ उनका ग्रहण कर सकती है। कस्तूरी अथवा कपूर के सम्मुख रखे हुए पुद्गल आँखों से दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु यदि वायु उन्हें अन्यत्र ले जाए तो उनका ग्रहण आँख के स्थान पर नाक से हो सकता है यदि उसमें व्यवधान बढ़ जाए तो सूक्ष्म हो जाने के कारण वे नाक से भी गृहीत नहीं होते। नाक अधिक से अधिक नव-योजन तक के प्रदेश से आने वाली गन्ध को जान सकती है। इसी तरह नमक चक्षुर्ग्राह्य है परन्तु पानी में मिला देने के पश्चात वह रसनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हो जाता है चक्षुर्ग्राह्य नहीं रहता। उसी पानी को यदि उबाला जाए तो नमक पुनः आँखों में दिखाई देने लगता है। इस प्रकार पुद्गलों का स्वभाव ही ऐसा है कि वे देश कालादि की सामग्री के भेद से विचित्र परिणाम प्राप्त करते हैं। इसीलिए दीपक पहले चक्षुर्ग्राह्य होता है परन्तु बुझ जाने के बाद वह आँख से दिखाई नहीं देता, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। [१९८९]

अपि च, वायु स्पर्शनेन्द्रिय से ही ग्राह्य है रस जीभ से ही, गन्ध नाक से ही रूप चक्षु से ही तथा शब्द श्रोत्र से ही। इस प्रकार भिन्न भिन्न पदार्थ किसी एक इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने पर भी परिणामान्तर को प्राप्त कर अन्य इन्द्रियों द्वारा गृहीत होने की योग्यता वाले बन जाते हैं उसी प्रकार दीपाग्नि भी पहले आँखों से उपलब्ध थी किन्तु बुझ जाने पर उसकी गन्ध आती है अतः वह घ्राणेन्द्रिय ग्राह्य बन जाती है ऐसा मानना चाहिए। अतः यह नहीं माना जा सकता कि दीप का सर्वथा नाश हो जाता है। [१९९०]

इस प्रकार दीप जब निर्वाण प्राप्त करता है तब वह परिणामान्तर को प्राप्त होता है, सर्वथा नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार जीव भी जब परिनिर्वाण प्राप्त करता है तब वह सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता। वह तो निराबाध—आत्यन्तिक सुख रूप परिणामान्तर को प्राप्त करता है। अतः दुःख क्षय से युक्त जीव की विशेषावस्था को ही निर्वाण मानना चाहिए। [१९९१]

प्रभास—यदि आत्मा की दुःख-क्षय वाली अवस्था ही मोक्ष है और उसमें शब्दादि विषयों का उपभोग नहीं है तो फिर मुक्तात्मा को सुख कहाँ से प्राप्त होता है? दुःख का अभाव ही सुख नहीं कहलाता?

**विषय भोग के अभाव में भी मुक्त को सुख होता है**

भगवान—मुक्त जीव को परम मुनि के समान अकृत्रिम मिथ्याभिमान से रहित स्वाभाविक प्रकृष्ट सुख होता है क्योंकि प्रकृष्ट ज्ञान की प्राप्ति के बाद उसमें जन्म जरा व्याधि, मरण इष्ट वियोग अरति शोक क्षुधा, पिपासा शीत उष्ण काम क्रोध मद, शाठ्य, तृष्णा, राग-द्वेष चिन्ता औत्सुक्य आदि समस्त बाधाओं का अभाव होता है। काष्ठादि जड़ पदार्थों में भी जन्मादि की बाधा नहीं होती, किन्तु उन्हें सुखी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें ज्ञान का अभाव है। मुक्तात्मा में ज्ञान भी है और बाधा विरह भी, अतः उसमें सुख भी है।

प्रभास—यह कैसे जान होगा कि मुक्तात्मा परम ज्ञानी है और उसमें जन्म जरादि कोई भी बाधा नहीं है ?

भगवान—ज्ञान के आवरण का सर्वथा अभाव होने से मुक्तात्मा परम ज्ञानी है। आवरण का अभाव इसलिए है कि मुक्तात्मा में ज्ञानावरण के हेतुओं का ही अभाव है। मुक्तात्मा में जन्म जरादि बाधा का भी अभाव है क्योंकि बाधा के हेतु भूत कर्मों आदि समस्त कर्मों का मुक्तात्मा में अभाव होता है। इसी वस्तु का अनुमान प्रमाण से हम निम्न प्रकार से कह सकते हैं—मुक्तात्मा चन्द्र के समान स्वाभाविक स्वप्रकाश से प्रकाशित है, क्योंकि उसमें प्रकाश के समस्त आवरणों का अभाव हो गया है। कहा भी है—

'स्वाभाविक भावशुद्धि सहित जीव चन्द्र के समान है, चन्द्रिका के समान उसका विज्ञान है तथा ज्ञानता के संग उसका आवरण है।" तथा मुक्तात्मा [illegible] व्यक्ति के समान अनाबाध सुख वाला है क्योंकि उसमें बाधा के समस्त हेतुओं का अभाव है। कहा भी है—'बाधा के अभाव तथा सर्वथा के कारण मुक्त जीव परमसुखी होता है। बाधा का अभाव ही स्वच्छ ज्ञान का परम सुख होता है।' [१६६२]

प्रभास—आत्मा को मुक्तात्मा का परम ज्ञानी कहते हैं, किन्तु वस्तुतः यह अज्ञानी है क्योंकि [illegible] के समान उसमें भी करण (ज्ञान साधन इन्द्रियाँ) का अभाव है।

इन्द्रियों के अभाव में भी मुक्त ज्ञानी है

भगवान—करणों अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के अभाव के कारण यदि तुम मुक्त [illegible] अज्ञान सिद्ध करते हो तो उसका [illegible] आधार [illegible] भी सिद्ध होगा। ऐसी स्थिति में तुम्हारे द्वारा दिया गया हेतु 'बाधा [illegible] अज्ञ सिद्ध हो जाएगा अर्थात् वह असिद्ध हेतु बन जाएगा। सिद्ध [illegible] कारण यह है कि [illegible] मुक्तात्मा के लिए अज्ञ [illegible] स्वरूप के सर्वथा विरुद्ध अज्ञत्व के सिद्धि होगी। मुक्तात्मा को अज्ञानी मान कर भी तुम उसमें [illegible] करने का अभाव [illegible] मुक्तात्मा का अज्ञान सिद्ध करेगा।

प्रभास—[illegible] सिद्ध नहीं है। कारण यह है कि मैं मुक्तात्मा को [illegible] मुक्तात्मा [illegible] आत्मा [illegible]

---

[illegible]

मुक्तात्मा अजीव सिद्ध होती है किन्तु यदि आप उसी हेतु से मुक्तात्मा को अजीव मानते हैं तो आपका सिद्धान्त अवश्यमेव दूषित हो जाता है क्योंकि आप मुक्तात्मा को अजीव न मान कर जीव ही स्वीकार करते हैं। फलतः यह आपत्ति मेरे सिद्धान्त पर लागू न होकर आपके सिद्धान्त पर ही लागू होती है।

भगवान—केवल करणाभाव के कारण तुम आत्मा में आकाश के समान अज्ञान सिद्ध करते हो। इसलिए मैंने तुम्हारी जान पर उक्त आपत्ति की है कि मुक्तात्मा अजीव भी सिद्ध होगी। वस्तुतः मुक्तात्मा अज्ञानी भी नहीं है और अजीव भी नहीं है। [१९९३]

प्रभास—पहले यह बताइए कि मुक्तावस्था में जीव अजीव क्यों नहीं बन जाता? आकाश में करण का अभाव है इसलिए वह अजीव है। इसी प्रकार मुक्त में भी करणाभाव हो जाता है, अतः यह बात मानना चाहिए कि वह भी अजीव हो जाता है।

मुक्तात्मा अजीव नहीं बनता

भगवान—मुक्तावस्था में जीव अजीव रूप नहीं हो सकता, क्योंकि किसी भी वस्तु की स्वाभाविक जाति अत्यन्त विपरीत जाति रूप में परिणत नहीं हो सकती। जीव में जीवत्व द्रव्यत्व तथा अमूर्तत्व के समान स्वाभाविक जाति है, इसलिए जैसे जीव कभी भी द्रव्य के स्थान पर अद्रव्य तथा अमूर्त के स्थान पर मूर्त नहीं हो सकता उसी प्रकार जीव के स्थान पर अजीव भी नहीं हो सकता। जैसे आकाश की अजीव जाति स्वाभाविक है इसलिए वह कभी भी अत्यन्त विपरीत रूप जीवत्व जाति में परिणत नहीं हो सकता, वैसे ही जीव का स्वाभाविक जीवत्व जाति अत्यन्त विपरीत स्वरूप अजीवत्व जाति में परिणत नहीं हो सकती।

प्रभास—यदि मुक्तात्मा कभी भी अजीव नहीं बनता तो आपने यह बात कैसे प्रतिपादित की कि करणाभाव से मुक्तात्मा अजीव भी बन जाएगा?

भगवान—मैं तुम्हें यह बता चुका हूँ कि मेरा यह हेतु स्वतन्त्र हेतु नहीं है, अर्थात मैंने स्वतन्त्र हेतु का प्रयोग कर मुक्तात्मा को अजीव सिद्ध नहीं किया है किन्तु जो लोग करणों के अभाव के कारण मुक्त जीवों को अज्ञानी मानते हैं उन्हें उसी आधार पर मुक्त जीवों को अजीव भी मानना चाहिए यह प्रसंगापादन (अनिष्टापादन) मैंने किया है। वस्तुतः इस हेतु से अर्थात करणों के अभाव से मुक्तात्मा अजीव सिद्ध नहीं होती है।

प्रभास—यह कैसे?

भगवान—उक्त हेतु में व्याप्ति (प्रतिबन्ध) का अभाव है अतः इससे साध्य सिद्ध नहीं हो सकता।

प्रभास—आप यह किसलिए कहते हैं कि व्याप्ति का अभाव है?

भगवान—व्याप्ति के नियामक दो सम्बन्ध हैं कार्य-कारण भाव तथा व्याप्य-व्यापक भाव। इन दोनों में से प्रस्तुत हेतु (साध्य) से एक भी सम्बन्ध घटित नहीं होता, इसलिए व्याप्ति का अभाव है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—यदि जीवत्व करणों या इन्द्रियों का कार्य हो, जैसे कि धूम अग्नि का कार्य है तो अग्नि के अभाव में धूम के अभाव के समान, करणों के अभाव में जीवत्व का भी अभाव हो जाए। किन्तु जीवत्व जीव का अनादि निधन पारिणामिक भाव होने से नित्य है, इसलिए वह किसी का भी कार्य नहीं बन सकता, अतः करणों का अभाव होने पर भी जीवत्व का अभाव नहीं माना जा सकता।

अपि च, यदि जीवत्व करणों का व्याप्य हो जैसे कि शिंशपा वृक्षत्व का व्याप्य है तो व्यापक वृक्षत्व के अभाव में शिंशपा के समान करणों के अभाव में जीवत्व का भी अभाव हो जाएगा किन्तु जीवत्व तथा करणों में व्याप्य-व्यापक भाव हो नहीं है क्योंकि दोनों अत्यन्त विलक्षण हैं। करण मूर्त या पौद्गलिक हैं जबकि जीव अमूर्त होने के कारण उनसे अत्यन्त विलक्षण है, अतः करणाभाव में भी जीवत्व का अभाव नहीं होता। फलतः मुक्तावस्था में भी जीवत्व है ही। [१९९४]

प्रभास—मुक्तात्मा में जीवत्व चाहे मान लिया जाए किन्तु आकाश के समान करण हीन होने के कारण उसे ज्ञानी कैसे माना जा सकता है?

## इन्द्रियों के बिना भी ज्ञान है

भगवान—इन्द्रियादि करण मूर्त होने के कारण घटादि के समान उपयोग क्रिया (ज्ञान क्रिया) का कर्ता नहीं बन सकते। वे केवल ज्ञान क्रिया के द्वार हैं साधन हैं। उपयोग का कर्ता तो जीव ही है[1]। [१९९५]

ज्ञान का अन्वयव्यतिरेक आत्मा के साथ है, इन्द्रियों के साथ नहीं। कारण यह है कि इन्द्रियों का व्यापार बन्द हो जाने पर भी स्मरणादि ज्ञान होते हैं तथा इन्द्रियों के व्यापार के अस्तित्व में भी अन्यमनस्क आत्मा को ज्ञान नहीं होता। अतः यह कैसे माना जा सकता है कि इन्द्रियों के ज्ञान पर ही ज्ञान होता है तथा मनोमात्र में इन्द्रियों का अभाव होने से वह अज्ञानी (ज्ञानाभावयुक्त) है। करणों से भिन्न आत्मा ही ज्ञान प्राप्त करता है। जैसे घर के झरोखे से देवदत्त देखता है वैसे ही आत्मा इन्द्रियरूपी झरोखों से ज्ञान प्राप्त करती है। घर का ध्वंस होने पर देवदत्त के ज्ञान का विस्तार बढ़ जाता है। इसी प्रकार शरीर का नाश हो जाने पर इन्द्रिय रहित आत्मा भी निर्बाध रूप से समस्त वस्तुओं का ज्ञान करने में समर्थ होती है। [१९९६]

---

1. 2. [illegible] –1657–16[illegible]0

न होता है। जो कर्म के उदय से सम्पन्न हो वह पुण्य के फल के समान सुख रूप ही होता है। पाप का फल भी कर्मोदयजन्य होने के कारण सुख रूप होना चाहिए।

अपि च, पुण्य के फल का संवेदन जीव को अनुकूल प्रतीत होता है, अतः वह सुख रूप है। फिर भी आप उसे दुःख रूप कहते हैं। इससे आप की यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध भी है। जो बात स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से सुख रूप प्रतीत होती है उसे आप दुःख रूप मानते हैं, अतएव आपका कथन प्रत्यक्ष विरुद्ध होने के कारण अयुक्त है। [२००४]

भगवान—सौम्य! तुम जिसे सुख का प्रत्यक्ष कहते हो वह अभ्रान्त अथवा यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु भ्रान्त या अयथार्थ प्रत्यक्ष है। इसलिए मैं तुम्हारे द्वारा मान्य प्रत्यक्ष सुख को दुःख रूप बताता हूँ। इस में प्रत्यक्ष विरोध नहीं है। तुम जिसे प्रत्यक्ष सुख कहते हो वह सुख नहीं किन्तु दुःख ही है। सच्चा बात तो यह है कि संसार में ग्रस्त जीव को कहीं भी वास्तविक सुख नहीं मिल सकता। तुम जिसे सुख मानते हो वह व्याधि के प्रतिकार के समान है। किसी मनुष्य के दाद हो गया हो और मीठी खुजली होती हो तो उसे खुजलाते हुए जिस सुख का अनुभव होता है वह वस्तुतः सुख न होकर सुखाभास अथवा दुःख है। अविवेक के कारण जीव सुखाभास को भी सुख समझ लेता है। सब जानते हैं कि खुजलाने से खुजली बढ़ती ही है अतः जिसका परिणाम दुःख रूप हो उसे सुख न समझ कर दुःख ही मानना चाहिए। इसी प्रकार संसार के सभी पदार्थों के विषय में भी यह बात कही जा सकती है। मनुष्य में एक लालसा (औत्सुक्य, वासना) होती है उसकी तृप्ति या प्रतिकार के लिए वह काम भोग भोगता है। वस्तुतः उसका भोग केवल लालसा का प्रतिकार ही है। उसमें यथार्थरूपेण दुःख होता है किन्तु मूढ़तावश मनुष्य उसे सुख मान लेता है। इसीलिए जो सुख रूप नहीं है वह अयथार्थतः सुख रूप प्रतीत होता है। जैसे कि "जो कामावशी पुरुष होता है वह प्रेत के समान नग्न होकर शब्द करती हुई उपस्थित स्त्री का आलिंगन कर अपने समस्त अंगों में अत्यन्त क्लान्ति प्राप्त करके भी मानो वह सुखी हो इस प्रकार मिथ्या रति (शान्ति, आराम) का अनुभव करता है[1]।

राज्य में सुख है यह बात भी मूढ़मति ही मानते हैं, किन्तु अनुभवी राजा का तो वचन है कि जब तक व्यक्ति राजा नहीं बनता तब तक ही उत्सुकता होती है, केवल इस उत्सुकता की ही पूर्ति राज्य की प्राप्ति द्वारा होती है। परन्तु तदुपरान्त प्राप्त राज्य का भार सम्भाल कर वह तो दुःख दिया करती है। इस

---

1 नग्नः प्रेत इवाविष्टः क्वणन्तीमुपगूहताम्।
गाढं वासितमर्वाङ्गः स सुखी रमते किल॥

प्रकार राज्य उस छत्र के समान है जिसका दण्ड हाथ में पकड़ना पड़ता है और जो परिणाम-स्वरूप श्रम कम करने के स्थान पर उसे बढ़ाता है[1]।'

संसार के काम भोगों में छद्मस्थ (रागी) को सुख प्रतीत होता है[2], क्योंकि मुक्त पुरुष तो उनके विषय में यह सोचता है कि—"अपनी सभी इच्छाओं को पूर्ण करने वाले वैभवों का उपभोग किया, इससे क्या? अपने धन से प्रियजनों को तृप्त किया, इससे क्या? अपने शत्रुओं के मस्तक के ऊपर पग रखा, इससे क्या? इस शरीर को शरीर कल्प पर्यन्त रहे इससे भी क्या?'

"इस प्रकार सभी साधन साध्य कोई भी वस्तु सत् नहीं है। यह बुद्बुद के समान परमार्थ शून्य है। हे मनुष्यो! यदि तुम में समझ है तो तुम शाश्वत शान्ति करने वाले सर्वथा निराबाध रूप ब्रह्म की अभिलाषा करो[3]। अतः पुण्य के फल को तत्त्वतः दुःख ही मानना चाहिए। [२००५]

यहाँ इस कथन के समर्थन में अनुमान भी उपस्थित किया जा सकता है। विषयजन्य सुख दुःख ही है क्योंकि वह दुःख के प्रतिकार के रूप में है। जो वस्तु दुःख के प्रतिकार रूप में हो वह कुष्ठादि रोग के प्रतिकार रूप क्वाथ पानादि चिकित्सा के समान दुःख रूप ही होती है।

प्रभास—यदि यह बात है तो सब लोग इसे सुख क्यों कहते हैं?

भगवान्—सुख रूप न होने पर भी लोग इसे उपचार से सुख कहते हैं तथा उपचार किसी भी स्थान में विद्यमान पारमार्थिक सुख के बिना घट नहीं सकता। [२००६]

अतः मुक्त जीव के सुख को पारमार्थिक या सच्चा सुख मानना चाहिए तथा विषयजन्य सुख को औपचारिक सुख मानना चाहिए। कारण यह है कि विशिष्ट ज्ञानी तथा बाधारहित मुनि के सुख के समान मुक्त के सुख की उत्पत्ति भी कर्म दुःख के क्षय द्वारा होने से स्वाभाविक है, अर्थात् इस सुख की उत्पत्ति बाह्य वस्तु

---

1 यो दुःखमात्रमवलम्ब्य धियि प्रतिष्ठां विन्यस्यति स्वपरिपालनवृत्तिरेव।
जातिश्रमाय मनसापि मया श्रमाय, राज्यं स्वहस्तगतदण्डमिवातपत्रम्॥
अभिज्ञानशाकुन्तल 5।

2 मन्ये किमेतदसदुपासनेन किम्?
न्यस्तेन प्रजासु स्वयं वसतेन किम्?॥
एतत् पदं शिरसि विन्यसतेन किम्?
कल्पान्तरे तनुभृतां तनुभिस्तनूभिः किम्?॥

[illegible] परमार्थशून्यम्।
[illegible] यदि चेतनास्ति॥

समय से निरपेक्ष है। इसलिए मात्र व्याधि के प्रतिकार रूप में उत्पन्न होने वाले संसार के सुखों के समान मुक्त का सुख प्रतिकार रूप में नहीं किन्तु निष्प्रतिकार रूप में उत्पन्न होता है। अतः वह मुख्य सुख है तथा प्रतिकार रूप सांसारिक सुख औपचारिक है। अर्थात वस्तुतः वह दुःख ही है। कहा भी है—

जिसने मद तथा मदन पर विजय प्राप्त की है जो मन-वचन काय के समस्त विकारों से शून्य है जो परवस्तु की आकांक्षा से रहित है ऐसे संयमी महापुरुष के लिए यहीं मोक्ष है[1]। [२००७]

अथवा अन्य प्रकार से भी मुक्त में ज्ञान के समान सुख की सिद्धि हो सकती है। वह इस प्रकार होगी—जीव स्वभावतः अनन्त ज्ञानमय है किन्तु उसके उस ज्ञान का मतिज्ञानावरणादि से उपघात होता है जैसे बादल सूर्य के प्रकाश का उपघात करते हैं। आवरण रूप बादलों में छिद्र होते ही सूर्य के प्रकाश के उपकारी बनते हैं उसी प्रकार आत्मा के सहज प्रकाश ज्ञान पर भी इन्द्रिय रूपी छिद्र अनुग्रह करते हैं क्योंकि उन छिद्रों के द्वारा आत्मा का प्रकाश स्वल्प रूप में प्रकाशित होता है किन्तु ज्ञानावरण का सर्वथाभाव होने पर सूर्य के प्रकाश के समान ज्ञान अपने सम्पूर्ण शुद्ध रूप में प्रकाशित होता है। [२००८]

इसी प्रकार आत्मा स्वरूपतः स्वाभाविक अनन्त सुखमय भी है। उसके उस सुख का पाप-कर्म द्वारा उपघात होता है तथा पुण्य-कर्म उस सुख का अनुग्रह या उपकार करने वाला है, किन्तु जब सब कर्म का नाश हो जाता है तब प्रकृष्ट ज्ञान के समान सकल, परिपूर्ण निरुपचरित तथा निरुपम स्वाभाविक अनन्त सुख सिद्ध में प्रकट होता है। [२००९]

प्रभास—संसार में सुख पुण्य रूप कारण से उत्पन्न होता है, वह स्वाभाविक नहीं है। मोक्ष में पुण्य कर्म है ही नहीं। अतः कारण के अभाव में सुख रूप कार्य का सिद्ध में अभाव ही मानना चाहिए।

भगवान—मैंने सुख को स्वाभाविक सिद्ध किया है। फिर भी तुम्हारा उपर्युक्त कथन पर आग्रह हो तो मैं कहूँगा कि तुम इस विषय में भी भूल कर रहे हो। सकल कर्म का क्षय ही सिद्ध के सुख का कारण है अतः तुम यह नहीं कह सकते कि इसमें कारण का अभाव। जैसे जीव सकल कर्मों के क्षय होने से सिद्धत्व परिणाम को प्राप्त करता है वैसे ही वह संसार में अनुपपन्न तथा विषयजन्य सुख से सर्वथा विलक्षण निरुपम सुख सकल कर्म क्षय के कारण प्राप्त करता है। [२०१०]

---

1 निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकारशून्यानाम्।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम्॥ प्रशमरति 238

प्रकार राज्य उस छत्र के समान है जिसका दण्ड हाथ में पकड़ना पड़ता है और जो परिणाम-स्वरूप श्रम कम करने के स्थान पर उसे बढ़ाता है।[1]"

संसार के काम भोगों में छद्मस्थ (रागी) को सुख प्रतीत होता है। वैराग्य-युक्त पुरुष तो उनके विषय में यह सोचता है कि—"अपनी सभी इच्छाओं को पूर्ण करने वाले वैभवों का उपभोग किया, इससे क्या? अपने धन से प्रियजनों को संतुष्ट किया इससे क्या? अपने शत्रुओं के मस्तक के ऊपर पग रखा, इससे क्या? इस देहधारी का शरीर कल्प पर्यन्त रहे इससे भी क्या[2]?"

"इस प्रकार सभी साधन साध्य कोई भी वस्तु सत् नहीं है। यह जगत् स्वप्नजाल के समान परमार्थ शून्य है। हे मनुष्यो! यदि तुम में समझ है तो तुम एकान्त शान्ति करने वाले सर्वथा निराबाध रूप ब्रह्म की अभिलाषा करो[3]। इस पुण्य के फल को तत्त्वतः दुःख ही मानना चाहिए। [२००५]

मेरे इस कथन के समर्थन में अनुमान भी उपस्थित किया जा सकता है। विषयजन्य सुख दुःख ही है क्योंकि वह दुःख के प्रतिकार के रूप में है। जो वस्तु दुःख के प्रतिकार रूप में हो वह कुष्ठादि रोग के प्रतिकार रूप कषाय पानादि चिकित्सा के समान दुःख रूप ही होती है।

प्रभास—यदि यह बात है तो सब लोग इसे सुख क्यों कहते हैं?

भगवान—सुख रूप न होने पर भी लोग इसे उपचार से सुख कहते हैं क्योंकि उपचार किसी भी स्थान में विद्यमान पारमार्थिक सुख के बिना घट नहीं सकता। [२००६]

अतः मुक्त जीव के सुख को पारमार्थिक या सच्चा सुख मानना चाहिए तथा विषयजन्य सुख को औपचारिक सुख मानना चाहिए। कारण यह है कि विविध बाधा तथा बाधारहित मुनि के सुख के समान मुक्त के सुख की उत्पत्ति भी सब दुःख के क्षय द्वारा होने से स्वाभाविक है अर्थात् इस सुख की उत्पत्ति बाह्य वस्तु से

---

1 यो सुखमात्मसमवस्थानं प्रतिष्ठा विनश्यति सत्यपरिपालनवृत्तिरेव।
नाति श्रमाय परमाय यथा श्रमाय, राज्यं स्वहस्तगतदण्डमिवातपत्रम्॥
अभिज्ञानशाकुन्तल ५।

2 भक्ष्यं किं च सकलाशनमुपभुक्तं किम्?
सन्तर्पितं प्रणयिनः स्वजनस्य किम्?
नम्रः कृतः किल किं रिपवो तस्य किम्?
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्तनुभिः किम्?

3 इत्थं न किञ्चिदपि साधनसाध्यजातं स्वप्नजालसमतां परमार्थशून्यम्।
एतत् पुनः विरम यत्र परं तदेकं बाधाविधुरमात्मनि यदि वेत्सि॥

[illegible] यदि ज्ञान व सुख का सिद्ध में [illegible] होना [illegible] अनित्य माना जा सकता है। ज्ञान का नाश [illegible] के उत्पन्न न होना है तथा सुख का नाश [illegible] के उत्पन्न न होने वाली बाधा न होना है, किन्तु सिद्ध में [illegible] तथा सुख के नाश के उक्त दोनों कारणों का अभाव है अतः उनका नाश नहीं होता फिर वे अनित्य कैसे माना जाए?

यह नियम भी ठीक नहीं है कि जो अनन्त [illegible] उत्पन्न [illegible] अनित्य हो होता [illegible], क्योंकि [illegible] अनुमान आदि अनन्त [illegible] होने पर भी नित्य हैं।

मुक्तात्मा में, यद्यपि जो अनन्त है कि पूर्वतः होने से तथा अपूर्व उत्पन्न होने से सिद्ध के ज्ञान व सुख अनित्य हैं।

प्रध्वंसाभाव पूर्वतः है और अपूर्व उत्पन्न होता है परन्तु वे अनित्य नहीं कहे जा सकते। [illegible] अनित्य सिद्ध के ज्ञान व सुख स्वाभाविक हैं अतः उन्हें पूर्वतः [illegible] नहीं माना जा सकता। [illegible] के हेतु हैं अनित्य हैं। आवरण के कारण उनका जो निरोधाभाव था वह आवरण के दूर हो जाने से नित्य हो जाता है। फिर यह कैसे कह सकते हैं कि ज्ञान और सुख सर्वथा नवीन उत्पन्न हुए हैं। आत्मा से [illegible] हुआ सुख बाधा के दूर जाने से उसके प्रकट होने पर पूर्वतः अथवा अपूर्वोत्पन्न नहीं कहलाता, वैसे ही आवरण और बाधा का अभाव होने पर सिद्ध के स्वाभाविक ज्ञान व सुख प्रकट होते हैं उन्हें पूर्वतः या अपूर्वोत्पन्न नहीं कह सकते।

**सुख व ज्ञान अनित्य भी हैं**

अपि च मैं तो सभी पदार्थों को उत्पाद-व्यय ध्रौव्य युक्त मानता हूँ अर्थात् नित्यानित्य मानता हूँ। अतः मेरे मत में ज्ञान व सुख नित्य भी हैं और अनित्य भी। यदि तुम आविर्भाव रूप विशिष्ट पर्याय की अपेक्षा से सुख और ज्ञान को पूर्वतः होने से अनित्य माना तो यह बात युक्त ही है। प्रत्येक क्षण में पर्याय रूप से नेय का विनाश होने के कारण ज्ञान का भी नाश होता है तथा सुख का भी प्रत्येक क्षण नवीन परिणाम उत्पन्न होता है। इस आधार पर ज्ञान और सुख को यदि तुम अनित्य माना तो इसमें कोई नवीनता नहीं है। इस तरह तुम उसी बात को सिद्ध करते हो जो मुझे भी इष्ट है। [२०१२-१४]

प्रभास—आपकी युक्तियों से मैं यह तो समझ गया हूँ कि निर्वाण है उसमें जीव विद्यमान रहता है तथा निर्वाणावस्था में जीव को निरुपम सुख की प्राप्ति होती है किन्तु इस बात को बल के आधार पर कैसे सिद्ध किया जाए और वेद वाक्यों की असंगति कैसे दूर हो? कृपा कर यह भी आप बताएँ।

[illegible]—[illegible] है [illegible] विलक्षण [illegible] पर [illegible] चाहिए। [illegible] का नियम है कि 'नव [illegible] परिवर्तन [illegible] तथा [illegible]' [illegible] [illegible] का [illegible] [illegible] समझना चाहिए। [illegible] है [illegible] किन्तु [illegible] [illegible] परन्तु [illegible] नहीं [illegible] 'अशरीर [illegible] परन्तु [illegible] समझना चाहिए। [illegible] है [illegible] नहीं।

[illegible] (जीव तथा [illegible]) [illegible] का [illegible] उपयोगमूलक है। [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] हैं [illegible] अशरीर जीव [illegible] नहीं [illegible]।

इस प्रकार 'अशरीर वा [illegible] वाक्य में अशरीर का अर्थ शरीर रहित जीव ही है। उस वाक्य का अर्थ यह होगा — अशरीर जीव जो लोकाग्र में निवास करता है [illegible]। [२०१८]

पुनश्च [illegible] वाक्य में [illegible] शब्द का प्रयोग भी मोक्ष में जीव की सत्ता सिद्ध करता है नाश नहीं। यदि मुक्तावस्था में जीव सर्वथा विनष्ट हो जाता हो तो उसके निवास का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। फिर वेद में यह क्यों कहा गया कि, 'अशरीर वा अमृतम्'?

और भी, अशरीर वा [illegible] वाक्य के प्रयोग से यह ध्वनित होता है कि [illegible] मुक्त [illegible] नहीं किन्तु [illegible] जीव को भी सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते।

प्रश्न—[illegible] है जिसे सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते?

भगवान्—वीतराग मुनि। [illegible] घाती कर्म नष्ट हो चुके हैं, किन्तु अभी वे शरीर धारण किए हुए हैं। उस अवस्था में वीतराग को भी सुख दुःख का स्पर्श नहीं होता, क्योंकि उन्हें न कुछ इष्ट है और न कुछ अनिष्ट। [२०१९]

अथवा, 'अशरीर वा अमृतम्' इस वेद वाक्य का पदच्छेद निम्न प्रकार से भी हो सकता है—'अशरीर वाव न तम्'। इसमें 'वाव' शब्द 'वा' के अर्थ में ही निपात है। 'मृतम्' का अर्थ है 'भवन्तम्'। अब इस वाक्यांश का अर्थ यह होगा कि जब जीव अशरीर बन जाता है तब उसे तथा वीतराग सशरीर जीव को भी प्रिया प्रिय का स्पर्श नहीं होता।

उक्त वाक्य का पदच्छेद इस रीति से भी हो सकता है—'अशरीर वा अव न तम्'। इसमें 'अव' शब्द 'अव' धातु का आज्ञार्थक रूप है। अव धातु के कई अर्थ हैं—रक्षण, गति, प्रीति आदि। गति अर्थ वाले धातु ज्ञानार्थक भी बन जाते हैं। इस नियमानुसार 'अव' धातु ज्ञानार्थक भी है। अतः 'अव' का अर्थ होगा 'जानो'।

# टिप्पणियाँ

## ( १ )

पृ० 3 प० 2 जीव के अस्तित्व की चर्चा—प्रथम गणधर इन्द्रभूति के साथ हुए विवाद में जीव के अस्तित्व का प्रश्न मुख्य है। इन्द्रभूति द्वारा व्यक्त किया गया दृष्टिबिन्दु भारतीय दर्शनों में चार्वाक अथवा भौतिक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। चार्वाक पक्ष जब यह कहता है कि आत्मा का अभाव है तब उसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि आत्मा का सर्वथा अस्तित्व ही नहीं है। उसका तात्पर्य केवल यह है कि आत्मा चार भूतों के समान स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है अथवा स्वतन्त्र तत्व नहीं है। अर्थात चार्वाक पक्ष की मान्यता है कि भूतों के विशिष्ट समुदाय से जो वस्तु निर्मित होती है वह आत्मा कहलाती है। इस समुदाय के नाश के साथ ही आत्मा नामक वस्तु भी नष्ट हो जाती है। सारांश यह है कि आत्मा एक भौतिक पदार्थ है भूतव्यतिरिक्त कोई स्वतन्त्र तत्व नहीं है। चार्वाक को उसका सर्वथा अभाव अभीष्ट नहीं है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए न्यायवार्तिककार उद्योतकर ने कहा है कि 'सामान्यतः आत्मा के अस्तित्व के विषय में विवाद ही नहीं है यदि विवाद है तो वह विशेष विषयक है। अर्थात कोई शरीर को ही आत्मा मानता है कोई बुद्धि को कोई इन्द्रिय को तथा कोई मन को ही आत्मा स्वीकार करता है कोई संघात को आत्मा की संज्ञा देता है तथा कोई इन सबसे भिन्न स्वतन्त्र आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करता है। (न्याय वा०पृ० 336)

प्रस्तुत चर्चा में यह बात सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि आत्मा भौतिक नहीं प्रत्युत स्वतन्त्र तत्व है। समग्र चर्चा इसी विषय से सम्बन्ध रखती है कि आत्मा स्वतन्त्र तत्व है या नहीं? अन्त में यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा तत्त्व स्वतन्त्र है केवल भौतिक नहीं। यहाँ पर प्रतिपादित की गई युक्तियाँ भारतीय दर्शनों में साधारण हैं। किसी ग्रन्थ में उनका विस्तार है तथा किसी में संक्षेप। ब्राह्मण बौद्ध जैन किसी भी दर्शन का ग्रन्थ देखने से ज्ञात होगा कि उनमें इन युक्तियों द्वारा ही आत्मा का स्वातन्त्र्य सिद्ध किया गया है।

चार्वाक व बौद्ध ये दोनों इतनी बातों में सहमत हैं कि आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य तथा नित्य द्रव्य नहीं है अर्थात शाश्वत तत्त्व नहीं है। अथवा दोनों के मत में आत्मा उत्पन्न होने वाला है। इन दोनों मतों में मतभेद यह है कि बौद्ध तो यह मानते हैं कि बुद्धि आत्मा नाम या विज्ञान नामक एक स्वतन्त्र वस्तु है और चार्वाक कहते हैं कि आत्मा चार या पाँच भूतों से उत्पन्न होने वाला केवल एक परतन्त्र वस्तु है। बौद्ध अनेक कारणों से ज्ञान की उत्पत्ति तो मानते हैं और इस अपेक्षा से ज्ञान को परतन्त्र भी कहते हैं किन्तु ज्ञान के कारणों में ज्ञान और ज्ञानेतर दोनों प्रकार के कारणों को स्वीकार करते हैं। जबकि चार्वाक ज्ञान निष्पत्ति में केवल भूतों को अर्थात ज्ञानेतर कारणों को ही मानते हैं। तात्पर्य यह है कि बौद्धों के अनुसार ज्ञान

जैसी एक मूल तत्वभूत वस्तु है जो आत्मा है परन्तु चार्वाक उसे मूल तत्व के रूप में नहीं मानते वे केवल भूतों को ही मूल तत्वों में स्थान देते हैं।

बौद्ध ज्ञान विज्ञान तथा आत्मा इन सबको एक ही वस्तु मानते हैं, आत्मा और ज्ञान में नाम मात्र का अन्तर है, वस्तु भेद नहीं। इसके विपरीत न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसक आत्मा और ज्ञान को भिन्न भिन्न वस्तु मानते हैं। नैयायिकादि सम्मत ज्ञान गुण ही बौद्ध मत में आत्मा है।

सांख्य मत में आत्मा या पुरुष स्वतन्त्र तत्व है तथा बुद्धि प्रकृति से उत्पन्न होने वाला विकार है जिससे ज्ञान सुख दुःख आदि वृत्तियाँ आविर्भूत होती हैं। बौद्ध आत्मा और ज्ञान को एक ही मानते हैं अतः उनके मतानुसार आत्मा या ज्ञान भी अनित्य है। न्याय वैशेषिकों के मत में आत्मा या पुरुष नित्य है तथा बुद्धि या ज्ञान अनित्य।

शांकर वेदान्त के अनुसार आत्मा चितस्वरूप है कूटस्थ नित्य है ज्ञान उसका गुण या धर्म नहीं अपितु अन्तःकरण की एक वृत्ति है जो अनित्य है।

पृ 3 पं० 3 वैशाख सुदि एकादशी—श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार इस दिन भगवान महावीर का गणधरों से समागम हुआ, किन्तु दिगम्बर मान्यता के अनुसार केवलज्ञान की प्राप्ति के 66 दिन बाद गणधरों का समागम हुआ। अतः वे उक्त तिथि को नहीं मानते। इसके लिए कषायपाहुड टीका पृ 76 देखना चाहिए। भगवान महावीर की आयु 72 वर्ष की थी तथा दूसरी मान्यतानुसार 71 वर्ष 3 मास व 25 दिन थी। इस प्रकार भगवान् महावीर की आयु सम्बन्धी दोनों मान्यताओं का उल्लेख कर कषायपाहुड की टीका में वीरसेन ने इस बात का उत्तर देते हुए कि इन दोनों में से कौन सी ठीक है बताया है कि इस विषय में उन्हें उपदेश नहीं मिला अतः मौन रखना ही उचित है (पृ० 81 देखें)। दिगम्बरों के अनुसार वैशाख शुक्ल एकादशी के स्थान पर श्रावण कृष्ण प्रतिपदा तीर्थोत्पत्ति की तिथि स्वीकार की जाती है।—षट्खंडागम धवला पृ० 63

पृ 3 पं० 4 मन्दरसेन वन—श्वेताम्बरों की मान्यता है कि गणधरों का समागम मन्दरसेन वन में हुआ था और वहीं तीर्थ प्रवर्तन हुआ था। दिगम्बर मानते हैं कि यह समागम राजगृह के निकटस्थ विपुलाचल पर्वत पर हुआ था और तीर्थ का प्रवर्तन भी वहीं हुआ था। कषायपाहुड टीका पृ 73 देखें।

पृ 3 पं० 11 सन्देह—अनेक संशय। एक ओर का निर्णय कराने वाले साधक प्रमाण तथा बाधक प्रमाण के अभाव में वस्तु के अस्तित्व का या निषेध का निर्णय न होना हो उसे अस्तित्व और नास्तित्व जैसी दोनों कोटि को स्पर्श करने वाला जो ज्ञान होता है उसे संशय कहते हैं। जैसे कि जीव है या नहीं? यह सीप है या नहीं? अथवा यह साँप है या रस्सी?

पृ० 3 पं 12 सिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा वस्तु का निश्चय करना।

पृ 3 पं०12 प्रमाण—जिससे वस्तु का सम्यक् ज्ञान हो उसे प्रमाण कहते हैं। चार्वाक मतानुसार केवल प्रत्यक्ष (इन्द्रियों द्वारा होने वाला ज्ञान) ही प्रमाण है। बौद्ध तथा कुछ वैशेषिक

पृ०4 प०27 आगम [illegible] के [illegible] को आगम कहते हैं। मीमांसक मानते हैं कि आगम अपौरुषेय है अर्थात् वेद किसी पुरुष द्वारा रचित नहीं है। नैयायिकादि उसे ईश्वरकृत मानते हैं तथा जैन व बौद्ध उसे वीतराग पुरुष द्वारा प्रणीत मानते हैं।

पृ०4 प०27 आगम प्रमाण अनुमान से पृथक नहीं है—इस मत का समर्थन प्रभाचन्द्र (पृ० 576) ने किया है तथा [illegible] आदि बौद्ध विद्वानों ने भी [illegible]—प्रमाण वार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति पृ० 415 हेतुबिन्दु टीका पृ० 2-4, न्यायसूत्र में पुनरुक्त के रूप में है—2 1 49-51

पृ०4 प०30 [illegible] आगम—आगम के दो भेदों के लिए न्याय [illegible] 1 1 8 देखें।

पृ०5 पं०11 अविसंवादी—विसंवाद अर्थात् पूर्वापर विरोध। जिसमें पूर्वापर विरोध न हो उसे अविसंवादी कहते हैं।

पृ०5 प०12 आप्त—जिसका वचन प्रमाण रूप माना जाए उसे आप्त कहते हैं। माता पिता आदि लौकिक आप्त हैं तथा रागद्वेष से रहित पुरुष अलौकिक आप्त है।

पृ०5 प०22 विज्ञानघन—यहाँ पर उद्धृत किए गए पाठ का पूरा सन्दर्भ यह है—'स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमुदानिनीयेत न हास्योद्ग्रहणायेव स्यात्। यतो यतस्त्वादीत लवणमेवैव वा अरे इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः।

बृहदारण्यकोपनिषद् 2 4 12

उक्त अवतरण में पन्द्रहवें शांकर भाष्य के अनुसार किया गया है। उसी भाष्य के अनुसार इसका भावार्थ यह है—जैसे नमक का एक टुकड़ा पानी में डाला जाए तो वह पानी में विलीन हो जाता है—नमक पानी का ही एक विकार है भूमि तथा तेज के सम्पर्क में जब नमक रूप में परिणत हो जाता है। किन्तु इसी नमक को जब उसकी योनि (जल) में डाला जाता है तब उसका अन्य सम्पर्क जन्य कार्यत्व नष्ट हो जाता है। इसी को नमक का पानी में विलय कहते हैं। विलय होने के पश्चात् कोई व्यक्ति नमक के टुकड़े को पकड़ नहीं सकता किन्तु पानी किसी भी जगह से लिया जाए वह खारा ही होगा। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि नमक के टुकड़े का सर्वथा अभाव नहीं हुआ किन्तु वह पानी में मिल गया अपने मूल रूप में आ गया अब वह टुकड़े के रूप में नहीं है। इसी प्रकार हे मैत्रेयी! यह महान् भूत है (परमात्मा है) वह अनन्त है अपार है। इसी महान् भूत में अर्थात् परमात्मा में अविद्या के कारण तुम पानी में से नमक के टुकड़े के समान मायारूप बन गई हो किन्तु जब तुम्हारे इस मायारूप के विलय अनन्त एवं अपार महान् भूत परमात्मा विज्ञानघन में हो जाता है तब केवल यही एक अनन्त और अपार महान् भूत रह जाता है अन्य कुछ नहीं रहता। किन्तु परमात्मा मायाभाव को कैसे प्राप्त करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे स्वच्छ जल में फेन और बुद्बुद हैं वैसे ही परमात्मा में कार्य कारण विषयाकार रूप में परिणत स्वरूप नाम और रूपात्मक भूत हैं। इन भूतों से पानी में नमक के टुकड़े के समान माया की उत्पत्ति सम्भव है। किन्तु शास्त्र श्रवण द्वारा ब्रह्मविद्या की प्राप्ति कर जब मायाजीव अपने ब्रह्मभाव (परमात्म भाव) को समझ

देता है तब वाय वायु विलयाकार में परिणत भाव स्थानान्तर भूत भी जल में फल व बुदबुद के समान नष्ट हो जाते हैं तथा न वायु अन्य भी परमाणुओं में लीन हो जाता है। केवल अनन्त अपरं ब्रह्मतत्त्व विद्यमान रहता है। इस अवस्था में जीव की कोई विशेष सत्ता नहीं रहती है। कारण यह है कि 'मैं अमुक हूँ तथा अमुक का पुत्र पिता आदि हूँ' ये सकाम अविद्याजन्य हैं और अविद्या का समूल नाश हो चुका है।

शङ्कराचार्य ने इस अवतरण का इस प्रकार यह अर्थ किया है। उनके मत में अर्थ आविद्यक होने के कारण भ्रान्तिक है। अपि च उन्होंने परम में तत् मत का अर्थ परमात्मा या ब्रह्म किया है। नाश का अर्थ सत्ता का अभाव नहीं किन्तु स्वरूपनिष्ठ में विलीन हो जाना किया है। इनके अतिरिक्त विज्ञानघन शब्द से जीव वाक्य का आरम्भ नहीं किया है किन्तु यह पूर्व वाक्य का उपोद्घात है जबकि प्रस्तुत अवतरण में इसी पद से वाक्य शुरू होता है। शंकर के मत में जीव विज्ञानघन से उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाता है तथा अर्थ है जब कि प्रस्तुत अवतरण में इन्द्रभूति के विचारानुसार भूतों से विज्ञानघन उत्पन्न होता है और भूतों के नाश के पश्चात् उसका भी नाश हो जाता है।

नवाधिक नाम उपनिषद् के इस वाक्य को पूर्वपक्ष के रूप में समझते हैं और उसका खण्डन करते हैं जो इन्द्रभूति ने किया है—

यद्विज्ञानघनादिवाक्यमेतत् पूर्वपक्षे स्थितम्।
पौराणस्थविमतानुसृत्य गा गौ गुणानन्तरा॥ वायुमञ्जरी पृ० ८७२

पृ०5 पं०23 भूत—पृथ्वी जल अग्नि (तेज) और वायु ये चार अथवा पृथ्वी जल तेज वायु तथा आकाश ये पाँच भूत माने गए हैं।

पृ०6 पं०1 चत्वारि—पृथ्वी जल तेज वायु ये चार महाभूत तथा इनके कारण जो कुछ है वह सब बौद्ध मत में रूप कहलाता है। अभिधर्म संग्रह परिच्छेद 6 देखें।

पृ०6 पं०1 पुद्गल—जैन तथा अन्य दार्शनिक जिसे जीव कहते हैं उसे बौद्ध पुद्गल कहते हैं। कथावत्थु 1 156 पृ० 26 विसिष्ट प्रश्न पृ० 27 95 301 आदि देखें तथा पुद्गलपञ्ञत्ति जिसमें जीवों के विविध रूपों में भेद पुद्गल के नाम से किए गए हैं भी देखें। तत्त्वार्थ० 5 23

जैन मत में पुद्गल का सामान्य अर्थ अणु परमाणु पदार्थ है किन्तु भगवती में (8 3 20 2) पुद्गल शब्द जीव के अर्थ में भी प्रयुक्त है।

पृ०6 पं०4 सशरीर आत्मा—इस अवतरण का छान्दोग्य उपनिषद् में जो पाठ है वह सम्पूर्ण सन्दर्भ सहित यह है—'मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याऽशरीरस्याऽऽत्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। 8 12।

इसमें वाव सन्तं यह पाठभेद आचार्य जिनभद्र के समक्ष भी था। गाथा 2020 देखें। इस अवतरण के जिनभद्र सम्मत अर्थ के लिए गा० 2015–023 देखें। आचार्य शंकर

पृ० 10 प० 3 शब्द औपचारिक है—[illegible] आकाश का गुण है। [illegible] (इस [illegible] आकाश [illegible] और उसका गुण [illegible] है। [illegible] और [illegible] उसी का प्रकार है—वायवीय [illegible]। मीमांसक [illegible] को [illegible] मानते हैं और उसकी अनेक अवस्थाएं स्वीकार करते हैं (तत्त्व [illegible] पृ० 261 [illegible])। वे [illegible] भी मानते हैं। इसके विपरीत [illegible] शब्द को अनित्य मानते हैं। सांख्यमत में [illegible] इसे [illegible] भी [illegible] नहीं है जबकि जैन मतानुसार वह पौद्गलिक है। मीमांसक मत में शब्द व्यापक है किन्तु जैनमतानुसार शब्द लोक में सर्वत्र गमन की शक्ति वाला है।

पृ०10 प०19 गुण गुणी का भेदाभेद—न्याय वैशेषिक गुण गुणी का भेद स्वीकार करते हैं। बौद्ध मत में गुणी (द्रव्य) जैसा कोई [illegible] नहीं है केवल गुणों की सत्ता है। जैन व सांख्यमत गुण गुणी का भेदाभेद मानते हैं। सांख्यमत में दोनों का अभेद है।

पृ०11 प०18 गुण कभी भी गुणी के बिना नहीं होते—यह युक्ति प्रशस्तपाद ने भी दी है (पृ० 360)। गुण दो प्रकार के हैं अतः गुणों का अनुमान करना चाहिए। वे शरीर और इन्द्रियों के गुण तो हैं नहीं अतः आत्म द्रव्य मानना चाहिए। इसी प्रकार न्यायसूत्र में भी पारिशेष्य से आत्मसिद्धि की गई है (3 2 40) न्यायभाष्य भी देखें 1 1 5

पृ०11 प०26 गाथा 1561—इस गाथा का पूर्वार्ध न्यायसूत्र में भी है। न्यायसूत्र 3 2 47 से।

प०11 प०32 गाथा 1562—न्यायसूत्र युक्ति प्रशस्तपाद (पृ० 360) में है।

प०12 प०18 गाथा 1563—आ० जिनभद्र ने निर्युक्ति का अनुसरण कर जिस प्रकार वेद का उपकार किया है तदनुसार इस गाथा में दी गई युक्ति ठीक है।

प०13 प०5 गाथा 1564—प्रशस्तपाद ने भी यह युक्ति दी है (पृ० 360)। विशेष के लिए देखें—व्योमवती पृ० 204

प०13 प०26 गाथा 1567—ऐसी ही युक्तियों के लिए देखें—प्रशस्तपाद पृ०360 व्योमवती पृ० 391

प०14 प० 6 आत्मा को केवल जैन ही संसारी अवस्था में कथंचित् मूर्त मानते हैं।

प०14 प०27 ईश्वर—न्याय वैशेषिक ईश्वर को जगत्कर्ता के रूप में मानते हैं। जैनों के समान बौद्ध सांख्ययोग तथा मीमांसक ईश्वर को जगत्कर्ता नहीं मानते। ईश्वरकर्तृत्व सिद्धि के लिए न्यायवार्तिक 457 आत्मतत्त्वविवेक 377 देखें निराकरण के लिए मीमांसा श्लोकवार्तिक सम्बन्धाक्षेप परिहार 42 से तत्त्वसंग्रह 46 से, आप्तपरीक्षा कारिका 8 अष्टसहस्री पृ० 268 स्याद्वादरत्नाकर पृ० 406 देखें। वेदान्त में आचार्य शंकर ने ईश्वर को जगत् का अधिष्ठाता और उपादानकारण रूप सिद्ध किया है। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 2 2 37 41

प०15 प० 9 गाथा 1571–72—न्यायवार्तिक (3 1 1) में भी ऐसी युक्तियाँ हैं पृ० 366

प० 15 प०31 विपर्यय—जो वस्तु जिस रूप में न हो उसमें उस रूप का ज्ञान करना।

पृ०16 प०7 प्रतिपक्षी—विरोधी ।

पृ०16 प 28 स्वर विषाण नहीं है—इसी बात का शंग विषाण के उदाहरण द्वारा शाबवार्तिक (पृ० 340) में कहा गया है ।

पृ 17 प०12 समवाय—गुण गुणी का द्रव्य कर्म का द्रव्य सामान्य का द्रव्य विशेष का जो सम्बन्ध है उसे नयायिक समवाय कहते हैं ।

प०19 प०2 गाथा 1575—द्रव्यसंग्रह पृ०407— बहुसंख्यो बाह्यबाधित—(जो स्वबाधित) कालात्यापदिष्ट वाक्यमात्र है । —न्यायवार्तिक पृ० 337 तत्त्वसंग्रह पृ० 1

प०20 प०11 गाथा 1578 आप्त वचन की प्रमाणता के लिए न्यायवार्तिककार ने तीन कारण बताए हैं—1 वस्तु का साक्षात्कार 2 भूतदया 3 जैसा ज्ञान किया हो वैसा ही कथन करने की इच्छा—न्यायवा० 2 1 69

प० 0 प०22 उपयोग लक्षण—ज्ञान तथा दर्शन को उपयोग कहते हैं वे जिसके लक्षण हों उसे उपयोगलक्षण कहा जाता है ।

पृ०21 प०2 विकल्पशून्य—भेदरहित ।

प०21 प०5 जिसका मूल—यहाँ वटवृक्ष के साथ संसार की तुलना करके रूपक का वर्णन किया है । जैसे वटवृक्ष के मूल ऊँचे होते हैं और वे जमीन की ओर नीचे फैलते हैं वैसे ही संसार भी एक ही ईश्वर का प्रपंच है । वह ईश्वर ऊपर है अर्थात् उच्चावस्था में है किन्तु उससे उत्पन्न होने वाले जीव निम्न अर्थात् पतितावस्था में हैं ।

पृ०21 प 6 छंद—वेद को छंद कहते हैं ।

प 21 प०9 जो कंपता है—शंकराचार्य की व्याख्या के अनुसार आत्मा व्यापक है अतः उसमें कम्पन या चलन घटित नहीं होता फलतः वह स्वतः अचल होकर भी चलते के समान प्रतीत होता है इसका यह अर्थ समझना चाहिए । दूर का अर्थ देशकृत दूर नहीं है किन्तु अविद्वान् पुरुष के लिए करोड़ों वर्षों तक उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है इस अर्थ में दूर का प्रयोग समझना चाहिए । विद्वान् पुरुष के लिए आत्मा निकट है क्योंकि उसे वह साक्षात् दिखाई देता है । नाम रूपात्मक जगत् मर्यादित है किन्तु आत्मा व्यापक है अतः वह उसके भी बाहर है । तथा आत्मा निरतिशयस्वरूप सूक्ष्म होने के कारण सभी वस्तुओं के अन्तर में है ।

पृ 21 प०13 जीव अनेक है— आत्मा अनेक हैं यह मत न्याय वैशेषिक सांख्य योग मीमांसक जैन तथा बौद्धों का है । इससे विपरीत शांकर वेदान्त आत्मा को एक मानता है ।

पृ०22 प 6 गाथा 1582 आत्मा अनेक है इस विषय की युक्तियाँ सांख्यकारिका 18 में देखें ।

प०23 प०14 जीव सर्वव्यापी नहीं है—उपनिषदों में आत्मा के परिमाण के विषय में भिन्न भिन्न कल्पनाएँ हैं—कौषीतकी उपनिषद् में आत्मा को शरीरव्यापी वर्णित किया गया

सारांश यह है कि शब्द आदि इन्द्रियों अथवा इन्द्रियों के विषय रूपादि तथा उन से होने वाले विज्ञान और ग्रन्थ सब पदार्थों में उनकी आत्मा जैसी या आत्मीय (स्वभाव) जैसी कोई वस्तु नहीं है। इसी अर्थ को मन में रख कर लोक को शून्य कहा गया है। बौद्ध सभी पदार्थों को क्षणिक मानते हैं अतः उनके अनुसार कोई भी वस्तु निरपेक्ष (स्वभाव) से ही होती अर्थात् नित्य नहीं होती। प्रत्येक वस्तु सामग्री से उत्पन्न होने के कारण सापेक्ष है अर्थात् कृतक है और अनित्य है। किसी भी वस्तु का अस्तित्व स्वभाव के कारण नहीं किन्तु उसके उत्पादक कारणों पर आश्रित है। दूसरे शब्दों में वह प्रतीत्यसमुत्पन्न है किसी न किसी कारण की अपेक्षा रख कर उत्पन्न हुई है। बौद्ध प्रतीत्यसमुत्पन्न को ही शून्य कहते हैं। जैसे कि—

स यदि स्वभावतः स्याद् भावो न स्यात् प्रतीत्यसमुद्भूतः।
यश्च प्रतीत्य भवति ग्राहो ननु शून्यता सैव ॥

यः शून्यतां प्रतीत्यसमुत्पादं मध्यमां प्रतिपत्सेकार्थम्।
निजगाद प्रणमामि तं सम्प्रतिमसम्बुद्धमिति ॥

—विग्रहव्यावर्तनी बोधिचर्यावतार पृ० 326

यहाँ दिए गए शून्यवाद के पूर्वपक्ष का आधार मध्यमकावतार ज्ञात होता है। उपनिषदों में भी शून्य शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। वहाँ भी उसका अर्थ 'सर्वथा अभाव' घटित नहीं होता। जैसे कि—

सर्वतः सर्वशून्याहं सर्वात्मानं त्वानहम्।
निर्यानन्दस्वरूपात्मात्माकाशोऽस्मि नित्यदा ॥३।२७॥
शून्यात्मा सूक्ष्मरूपात्मा विश्वात्मा विश्वहीनकः।
देवात्मा देवहीनात्मा मयात्मा मयवर्जितः ॥४।४३॥

तेजोबिन्दु उपनिषद्

भावाभावविहीनोऽस्मि भासाहीनोऽस्मि भास्म्यहम्।
शून्याशून्यप्रभावोऽस्मि शोभनाशोभनोऽस्म्यहम् ॥

मैत्रायणीयोपनिषद् ३।९

पृ० 67 पं० 12 स्वप्नोपमम्—स्वप्न समर्थन के लिए देखें—

दृश्यते गगनं यद्वद्यद्वज्जगति दीर्घते।
वर्तते जगति यद्वत्सर्वं मिथ्येति निश्चिनु ॥५५॥
स्वप्नं प्रपञ्चं यत्किंचिद्यद्वज्जगति विद्यते।
दृश्यरूपं च दृगरूपं सर्वं शशविषाणवत् ॥७५॥
भूमिरापो तेजो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकारश्च तत्रैव सारं भुवनमण्डलम् ॥७॥

तेजोबिन्दु उपनिषद् अ० 5

पूर्वोक्त अवतरण उपनिषद् में है। माध्यमिक कारिका तथा वृत्ति में भी इसी ग्रंथ का सीधा अवतरण है—

यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा।
तथोत्पादस्तथा स्थानं तथा भङ्ग उदाहृतः ॥मूलमाध्यमिक का० 7 34
फेनपिण्डोपमं रूपं वेदना बुद्बुदोपमा।
मरीचिसदृशी संज्ञा संस्कारा कदलीनिभा।
मायोपमं च विज्ञानमुक्तमादित्यबन्धुना ॥माध्यमिक वृत्ति प० 41

न्यायसूत्र में इस प्रकार का पूर्वपक्ष भी है—

स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः। मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा। न्यायसूत्र 4 2 31–32

प०67 प०26 तुलना—

यथैव गन्धर्वपुरं मरीचिका यथैव माया सुपिनं यथैव।
स्वभावशून्या तु निमित्तभावना तथोपमानं जानथ सर्वभावान्॥
माध्यमिक वृत्ति प० 178

पृ० 68 प० 10 सापेक्ष—इस बात का पूर्वपक्ष न्यायसूत्र में भी है और उसका पूर्वोक्त नागार्जुन ने किया है। न्यायसूत्र 4 1 39–40 देखें।

इस बात का मूल नागार्जुन की निम्न कारिका में है—

योऽपेक्ष्य सिध्यते भावः तमवापेक्ष्य सिध्यति।
यदि यान्यपेक्षितव्यं स सिध्यन्ना कमपेक्ष्य कः॥
योऽपेक्ष्य सिध्यते भावः सोऽसिद्धोऽपेक्षते कथम्।
अथाप्यपेक्षते सिद्धस्त्वपेक्षास्य न विद्यते॥
मूल माध्यमिक कारिका 0 10 11

सापेक्ष वस्तु का अभाव उपनिषद् में भी वर्णित उपलब्ध होता है—

अक्षराच्चारणं नास्ति गुरुशिष्यादि नास्त्यपि।
एकाभावे द्वितीयं न द्वितीयेऽपि न चक्षुषा॥२१॥
बन्धत्वमपि चेन्मोक्षो बन्धाभावे क्व मोक्षता।
मरणं यदि चेज्जन्म जन्माभावे मृतिर्न च॥२४॥
त्वमित्यपि भवच्चाहं त्वं नो चेदहमेव न।
इदं यदि तदस्ति तदभावादिदं न च॥२५॥
अस्तीति चेन्नास्ति तदा नास्ति चेदस्ति किंचन।
कार्यं चेन्न कारणं किञ्चित् कार्याभावे न कारणम्॥२६॥
द्रष्टा यदि तदा द्रष्टा तदाभावेऽस्य न च।
दृश्यं यदि दृगप्यस्ति दृश्याभावे दृगेव न॥२७॥
अग्नेर्यदि वह्निः सत्यमग्न्याभावे वह्निर्न च।
पूर्णत्वमस्ति चेत्किञ्चिदपूर्णत्वं प्रसज्यते॥२८॥

[illegible] न [illegible] [illegible] [illegible] ।
नास्ति दुःखादि [illegible] सत्ये नास्ति [illegible] [illegible] ॥२६॥

इत्यादि विचार तत्त्वोपप्लवसिंह के पांचवें अध्याय में मिलते हैं। उनमें निष्प्रपंच ब्रह्म की सिद्धि के लिए जिस प्रकार के विचार हैं उसी प्रकार के विचार नागार्जुन के भी हैं। भेद केवल यह है कि एक को ब्रह्म की सिद्धि करनी है और दूसरे को शून्य की।

पृ० 68 पं० 9 दृष्टव्य दीपावली—न्यायवार्तिक में भी यही उदाहरण है—न्या० वार्तिक 4 1 39

पृ० 68 पं० 10 स्वतः—यह नागार्जुन की युक्ति है—
न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥१।१॥
न स्वतो जायते भावः परतो नैव जायते ।
न स्वतः परतश्चैव जायते जायते कुतः ॥२१।१३॥मूलमा०

पृ० 71 पं० 6 उत्पत्ति—यह चर्चा माध्यमिक वृत्ति 1 4 में है। तुलना करें—
उत्पद्यमानमुत्पादो यदि चोत्पादयत्ययम् ।
उत्पादयेत तमुत्पादं उत्पादः कतमः पुनः ॥१८॥
अथ उत्पाद्यत्येनं यद्युत्पादोऽनवस्थितिः ।
अथानुत्पाद उत्पन्नं सर्वमुत्पद्यते तथा ॥१९॥
सतश्च तावदुत्पत्तिरसतश्च न युज्यते ।
न सतश्चासतश्चेति पूर्वमेवोपपादितम् ॥२०॥मूलमा०का० 7

पृ० 71 पं० 25 गाथा 1695—तुलना करें—
हेतोश्च प्रत्ययानां च सामग्र्या जायते यदि ।
फलमस्ति च सामग्र्या सामग्र्या जायते कथम् ॥१॥
हेतोश्च प्रत्ययानां च सामग्र्या जायते यदि ।
फलं नास्ति च सामग्र्या सामग्र्या जायते कथम् ॥२॥
हेतोश्च प्रत्ययानां च सामग्र्यामस्ति चेत् फलम् ।
गृह्यते ननु सामग्र्या सामग्र्या च न गृह्यते ॥३॥
हेतोश्च प्रत्ययानां च सामग्र्या नास्ति चेत् फलम् ।
कतमे प्रत्ययाश्च स्युरहेतुप्रत्ययैः समाः ॥४॥मूलमा०का० 20
हेतुप्रत्ययसामग्र्या पृथग्भावोऽपि मद्वचः न यदि ।
ननु नूनं सत्त्वं सिद्धं भावानामस्वभावतः ॥विग्रहव्यावर्तनी 21

पृ० 74 पं० 8 गाथा 1702—इसके साथ वायसूत्र स्मृतिसंकल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमानः (4 2 34) तथा उसके भाष्य की तुलना करने योग्य है।

पृ० 74 पं० 11 गाथा 1703 स्वप्न के विषय में प्रशस्तपाद पृ० 548 देखें।

पृ० 75 प० 2 त्रि अवयव वाला वाक्य—यहाँ वाक्य का अर्थ अनुमान वाक्य है। इसके तीन अवयव हैं—प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण।

पृ० 75 प० 3 पाँच अवयव वाला वाक्य—उपर्युक्त तीन तथा उपनय और निगमन ये दो और मिला कर पाँच अवयव हैं—

1 पर्वत में वह्नि है—इसे प्रतिज्ञा कहते हैं। अतः इसमें साध्य वस्तु का निर्देश किया जाता है।

2 क्योंकि उसमें धूमवत्ता है—यह हेतु है। साध्य को सिद्ध करने वाले साधन का निर्देश हेतु कहलाता है। साध्य के साथ जिसकी व्याप्ति (अविनाभाव) है वही साधन हो सकता है—अर्थात् जो वस्तु साध्य के अभाव में कभी भी उपलब्ध न होती हो जो साध्य के होने पर ही हो उसे साधन कहते हैं। उसका देख कर अनुमान हो सकता है कि साध्य अवश्य होना चाहिए।

3 जहाँ जहाँ धूमवत्ता होती है वहाँ वहाँ अग्नि होती है—जैसे कि रसोई घर में। जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूमवत्ता भी नहीं होती जैसे कि पानी के कुण्ड में। इस प्रकार जो व्याप्ति ज्ञान का स्थान हो उसे दृष्टान्त कहते हैं। उसका निर्देश करना उदाहरण है। प्रस्तुत में रसोई घर साधर्म्य दृष्टान्त कहलाता है क्योंकि उसमें अन्वय व्याप्ति प्रधान साधन के सद्भाव में साध्य का सद्भाव बताया गया है। कुण्ड वैधर्म्य दृष्टान्त है क्योंकि इसमें व्यतिरेक व्याप्ति प्रधान साध्य के अभाव के कारण साधन का भी अभाव बताया गया है।

4 पर्वत में धूमवत्ता है—इस प्रकार पक्ष में साधन का उपसंहार करना उपनय कहलाता है।

5 अतः पर्वत में अग्नि है—इस प्रकार साध्य का उपसंहार निगमन कहलाता है।

पृ० 76 प० 1—सापेक्ष नहीं—न्यायसूत्र 4 1 40 देखें।

पृ० 76 प० 23 सापेक्ष—आचार्य समन्तभद्र ने इन दोनों एकान्तों का निराकरण किया है कि सब कुछ सापेक्ष ही है अथवा निरपेक्ष ही है। आप्तमीमांसा का 73 75

पृ० 77 प० 33—अग्निदहति—पूरा श्लोक यह है—

इदमेव न वेत्त्येतत् कस्य पर्यनुयोज्यताम।
अग्निर्दहति नाकाशं कोऽत्र पर्यनुयुज्यताम॥

प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० 43

पृ 79 प० 5 व्यवहार और निश्चय—आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहार और निश्चय का जिस प्रकार पृथक्करण किया है उसके लिए पायाणवारवार्तिक वृत्ति प्रस्तावना पृ 139 देखें।

पृ० 84 पं० 7 परमाणु—परमाणु [illegible] में परमाणु को नित्यत्व का * किन्तु बौद्ध न्याय में परमाणु का खंडन है और कहा है—

परत्वेन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता ।
षण्णां समानदेशत्वात् पिण्ड स्यात्सूक्ष्मतापि ॥
विंशतिभावनानिर्भास कारि० 1?

इसके उत्तर के लिए व्योमवती पृ० 225 देखें ।

पृ० 84 पं० 7 द्व्यणुकादि—दो परमाणुओं के स्कंध को द्व्यणुक कहते हैं । त्र्यणुक की रचना के विषय में शास्त्रियों में मतभेद नहीं है । कुछ तीन परमाणुओं के स्कंध त्र्यणुक कहते हैं जबकि अन्य शास्त्रियों का मत है कि तीन द्व्यणुकों से एक त्र्यणुक स्कंध बनता है ।

पृ० 84 पं० 30 सूत्रं—इसमें मिलता हुआ स्वरूप वाचक उमास्वाति ने उद्धृत किया है—

कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः ।
एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥तत्त्वार्थ भाष्य 5 25

पृ० 85 पं० 25 अदर्शन अभाव साधक नहीं होता—इस बात का समर्थन आचार्य धर्मकीर्ति ने निम्न शब्दों में किया है—

"विप्रकृष्टविषयानुपलब्धिः प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा संशयहेतुः प्रमाणनिवृत्तावपि अर्थाभावासिद्धेरिति" न्यायबिन्दु पृ० 50—0

पृ० 87 पं० 4 सद्धेतु—हेतु सपक्षवृत्ति हो या न हो अर्थात् वह चाहे सभी पक्षों में रहे या न रहे केवल इसी बात से वह सद्धेतु अथवा असद्धेतु नहीं बन जाता किन्तु यदि उसकी वृत्ति विपक्ष में हो तो वह अवश्यमेव असद्धेतु हो जाता है । इसका कारण यह है कि विपक्ष में साध्य का अभाव होता है । इसलिए यदि साध्य के अभाव वाले स्थान में भी हेतु विद्यमान हो तो वह साध्य का सद्भाव सिद्ध करने में कैसे समर्थ हो सकता है ?

पृ० 88 पं० 20 वायु का अस्तित्व—वायु साधक युक्तियों के लिए व्योमवती पृ० 27 देखें ।

पृ० 88 पं० 25 आकाश साधक अनुमान—न्याय वैशेषिक इस अनुमान से आकाश की सिद्धि करते हैं कि शब्द गुण गुणी के बिना सम्भव नहीं है और शब्द पृथ्वी आदि किसी भी द्रव्य का गुण नहीं हो सकता अतः उसे आकाश का गुण मानना चाहिए—व्योमवती पृ० 322 । परन्तु जैन तो शब्द को गुण नहीं मानते अतः उक्त अनुमान के स्थान में आचार्य ने यहाँ जैन सम्मत आकाश के अवगाहन की योग्यता रूप गुण का उपयोग किया है और कहा है कि पृथ्वी आदि सब द्रव्यों का कोई आधार होना चाहिए जो आधार है वही द्रव्य आकाश है इत्यादि ।

पृ० 91 प० 4 शस्त्रोपहत—किस जीव का घात कौन से शस्त्र से होता है इसके परिचय के लिए आचाराङ्ग का प्रथम अध्ययन देखें।

पृ० 92 प०2 पाँच समिति—1 ईर्या समिति—ऐसी सावधानी से चलना कि किसी जीव को क्लेश न हो। 2 भाषा समिति—सत्य हितकारी परिमित असंदिग्ध वचन का व्यवहार। 3 एषणा समिति—जीवन यात्रार्थ आवश्यक भोजन के लिए सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति। 4 आदान भाण्डमात्रनिक्षेपण समिति—पात्रादि वस्त्र के लेने रखने आदि में सावधानी। 5 उच्चार प्रस्रवण खेल जल्ल सिंघाण परिष्ठापनिका समिति—मलमूत्रादि को योग्य स्थान में त्यागने की सावधानी।

पृ० 93 प० 2 तीन गुप्ति—मन वचन काय ये तीन गुप्ति हैं। गुप्ति अर्थात् असत् प्रवृत्ति से निवृत्ति।

## ( ५ )

पृ० 94 प०2 इस भव तथा पर भव का सादृश्य—इस चर्चा में पूर्व पक्ष यह है कि मनुष्य मर कर मनुष्य ही होता है तथा पशु मर कर पशु ही होता है। अब तक यह ज्ञात नहीं हो पाया कि यह पूर्वपक्ष किसका है किन्तु उक्त पूर्वपक्ष के आधार पर कार्य कारण सदृश ही होता है या नहीं इस विषय पर जो चर्चा की गई है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है।

चार्वाक असत् कार्यवादी हैं तो भी वे कार्य को सदृश और विसदृश मानते हैं। चेतन जड़ कार्यों को वे कारण से विसदृश मानते हैं तथा भौतिक कार्यों को सदृश। चार्वाकों ने एक ही भूत न मानकर चार या पाँच भूत स्वीकार किए हैं। इससे ज्ञात होता है कि उनके मत में सर्वथा विसदृश कार्य का सिद्धान्त मान्य नहीं है।

वेदान्त और सांख्य दोनों सत्कार्यवादी हैं अतः वे स्वीकार करते हैं कि कार्य-कारण सदृश होता है। वेदान्त के मतानुसार कार्य की समस्त विचित्रता का सम्बन्ध ब्रह्म से है तथा सांख्य के मतानुसार प्रकृति से। कोई भी कार्य वेदान्त मत में ब्रह्म से तथा सांख्य मत में प्रकृति से सर्वथा विसदृश नहीं है। ब्रह्म के एक होने पर भी उसके कार्यों में जो विचित्रता दृष्टिगोचर होती है उसका कारण वेदान्त के अनुसार अविद्या है। प्रकृति के एक होने पर भी उसके कार्यों में जो विचित्रता है उसका कारण सांख्य मत में प्रकृति के गुणों का वैषम्य माना गया है।

नैयायिक वैशेषिक बौद्ध ये तीनों असत् कार्यवादी हैं अतः उनके मत में कारण कार्य से सर्वथा विसदृश भी हो सकता है। कारण सदृश कार्य होता है इस विषय में इन दर्शनों को कोई आपत्ति या विवाद नहीं है। अतः भी इन सब के समान कार्य को कारण से सदृश या विसदृश मानते हैं।

पृ० 102 प० 9 मनुष्य लोक धर्म—जन्म धर्म की प्रकृति विचित्र और अद्भुत होती है।

पृ० 102 पं० 9 मनुष्य गोत्र कर्म—गोत्र कर्म के मूल भेद दो हैं—उच्च और नीच। इन मूल भेदों के अनेक उपभेद समझ लेने चाहिए। जैसे कि मनुष्य व देव उच्च में और नरक व तिर्यंच नीच में।

## ( ६ )

पृ० 103 पं० 2 बन्ध मोक्ष चर्चा—इस प्रकरण में मुख्य रूपेण यह चर्चा है कि बन्ध मोक्ष सम्भव है या नहीं ?

भारतीय दर्शनों में केवल चार्वाक दर्शन ही ऐसा है कि जिसमें जीव के बन्ध मोक्ष को स्वीकार नहीं किया गया है। अन्य दर्शनों में इसे स्वीकृत किया गया है। सांख्यों ने बन्ध मोक्ष माना तो है किन्तु पुरुष के स्थान पर उन्होंने इसे प्रकृति में माना है। किन्तु यह केवल परिभाषा का भेद है क्योंकि सांख्य यह मानता है कि अन्त में प्रकृति और पुरुष का विवेक होना ही मोक्ष है अर्थात् तात्पर्य यह है कि प्रकृति और पुरुष की जो एकता समझ ली गई थी उसका स्थान विवेक ग्रहण कर लेता है और यही मोक्ष है। अन्य दर्शनों में भी यही बात मानी गई है। सभी दर्शन चेतन अचेतन के विवेक को (चेतन अचेतन के बन्ध के अभाव को) ही मोक्ष कहते हैं। तत्त्वज्ञान प्रकृति का धर्म हो या पुरुष का किन्तु सभी यह मानते हैं कि वह अत्यन्त आवश्यक है। अतः सांख्य तथा अन्य दर्शनों में इस विषय में परिभाषा का ही भेद है।

पृ० 103 पं० 9 स एष विगुणः —यह वाक्य कहाँ का है इसकी शोध नहीं हो सकी। किन्तु इसमें संशय नहीं कि इस पर सांख्य मत का प्रभाव है। कारण यह है कि सांख्यों के मत में आत्मा में बन्ध मोक्ष संसार कुछ भी नहीं माना गया किन्तु प्रकृति में ये सब स्वीकार किए गए हैं। इस वाक्य के साथ श्वेताश्वतर के इस वाक्य की तुलना करने योग्य है

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ६।१

पृ० 108 पं० 2 अभव्य—भव्य और अभव्य जीव के दो स्वाभाविक प्रकार हैं। अन्य दर्शनों में अभव्य शब्द का प्रयोग हुआ हो तो उसका अर्थ दुर्भव्य के समान समझना चाहिए। जीव के ये दो भेद किसलिए किए गए हैं इसका कुछ भी कारण नहीं बताया जा सकता। अतः आचार्य सिद्धसेन ने इस विषय का आगमगम्य अर्थात् अहेतुवाद स्वीकार किया है।

पृ० 109 पं० 2 गाथा 1627—इस गाथा में इस आक्षेप का उत्तर दिया गया है कि भव्यों के मोक्ष जाने से संसार खाली हो जाएगा। उत्तर में बताया गया है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं होगी। किसी भी समय संसार की समाप्ति हो जाय ऐसे प्रश्न के उत्तर में यह समाधान किया है कि यह प्रश्न अवक्तव्य है और कहा है कि यह नहीं बताया जा सकता कि संसार का अन्त है या नहीं किन्तु कुशल का संसार अनन्त है तथा कुशल का अन्त न समाप्त नहीं होता यह बात कही जा सकती है। [illegible] अन्त निश्चित [illegible] किया जा सकता। [illegible] का [illegible] [illegible] कहा गया है— [illegible] । इसका

अर्थ है कि अणुता के समान कभी भी संसार का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता। इसके साथ जैन मान्यता की तुलना करने योग्य है। जैन मान्यता है कि किसी भी तीर्थंकर से पूछा जाए उत्तर यही प्राप्त होगा कि आत्मा का अनन्तवाँ भाग ही सिद्ध हुआ है। जीव अनन्त हैं और उनका अनन्तवाँ भाग ही सिद्ध है। शंकराचार्य ने उपनिषद् का निम्न मार्मिक वाक्य भी उद्धृत किया है—पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते। एक अन्य श्लोक भी उद्धृत किया है जो यह है—

अतएव हि विद्वत्सु मुच्यमानेषु सर्वदा।
ब्रह्माण्डजीवलोकानामनन्तत्वादशून्यता॥

योगभाष्य 4.33 देखें।

पृ० 111 पं० 19 गाथा 1839—इस भाग को क्षणिक मानने की जो बात कही गई है उसका कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है।

बौद्ध सभी वस्तुओं को क्षणिक मानते हैं अर्थात् संस्कृत (कृतक) मानते हैं। किन्तु उन्होंने भी निर्वाण को असंस्कृत ही माना है। राजा मिलिन्द ने प्रश्न किया था कि क्या कोई ऐसी वस्तु है जो कृतक न हो, हेतुज न हो तथा ऋतुज न हो। इसके उत्तर में भन्ते नागसेन ने बताया था कि आकाश और निर्वाण ये दो ऐसी वस्तुएँ हैं जो कर्म, हेतु अथवा ऋतु से उत्पन्न नहीं होती हैं। यह सुन कर राजा मिलिन्द ने तत्काल ही प्रश्न किया कि ऐसी अवस्था में भगवान ने मार्ग मार्ग का उपदेश क्यों किया? उसके अनेक कारणों की चर्चा किन्हीं की? नागसेन ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि मोक्ष का साक्षात्कार करना तथा उसे उत्पन्न करना ये दोनों भिन्न भिन्न बातें हैं। भगवान ने जो कुछ कारण बताए हैं वे मोक्ष का साक्षात्कार करने के कारण हैं। भगवान ने मार्ग को उत्पन्न करने के कारणों की चर्चा नहीं की है। इस बात के समर्थन के लिए यह दृष्टान्त दिया गया है कि कोई भी मनुष्य अपने प्राकृतिक बल से हिमालय तक पहुँच तो सकता है किन्तु वह अपने उसी बल से हिमालय को उखाड़ कर अन्यत्र नहीं रख सकता। एक मनुष्य नौका का आश्रय लेकर सामने के तीर पर पहुँच तो सकता है किन्तु उस तीर को उखाड़ कर वह किसी भी प्रकार अपने समीप नहीं ला सकता। उसी प्रकार भगवान निर्वाण के साक्षात्कार का मार्ग दिखा सकते हैं किन्तु निर्वाण को उत्पन्न करने के हेतु नहीं बता सकते। कारण यह है कि निर्वाण असंस्कृत है जो संस्कृत हो वह उत्पन्न हो सकता है किन्तु असंस्कृत वस्तु उत्पन्न हो ही नहीं सकती।

विषय स्पष्टीकरण करते हुए भन्ते नागसेन ने बताया है कि निर्वाण के असंस्कृत होने के कारण उसे उत्पन्न अनुत्पन्न उत्पाद्य अनुत्पाद्य अनागत प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) चक्षुर्विज्ञेय श्रोत्रविज्ञेय घ्राणविज्ञेय जिह्वाविज्ञेय कायविज्ञेय जैसे किसी भी शब्द से वर्णित न किया जा सकता। फिर भी निर्वाण नहीं है यह नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि वह मनोविज्ञान का विषय बनता है। विशुद्ध स्वरूप मन द्वारा उसका ग्रहण हो सकता है। जब कोई दिखाई नहीं देती है उसके अस्तित्व का पता नहीं चलता है हाथ में पकड़ी नहीं जाती है फिर भी उसकी सत्ता है। इसी प्रकार निर्वाण भी है—मिलिन्दप्रश्न 4.7.1-16 पृ० 262 इस प्रकार असंस्कृत निर्वाण सभी बौद्ध सम्प्रदायों को इष्ट है।

पृ० 102 प० 9 मनुष्य गोत्र कर्म—गोत्र कर्म के मूल भेद दो हैं—उच्च और नीच। इन मूल भेदों के अनेक उपभेद समझ लेने चाहिए। जैसे कि मनुष्य व देव उच्च में और नरक व तिर्यंच नीच में।

## ( ६ )

पृ० 103 प० 2 बन्ध मोक्ष चर्चा—इस प्रकरण में मुख्य रूपेण यह चर्चा है कि बन्ध मोक्ष सम्भव हैं या नहीं ?

भारतीय दर्शनों में केवल चार्वाक दर्शन ही ऐसा है कि जिसमें जीव के बन्ध मोक्ष को स्वीकार नहीं किया गया है। अन्य दर्शनों में इसे स्वीकृत किया गया है। सांख्यों ने बन्ध मोक्ष माना तो है किन्तु पुरुष के स्थान पर उन्होंने इसे प्रकृति में माना है। किन्तु यह केवल परिभाषा का भेद है क्योंकि सांख्य यह मानता है कि अन्त में प्रकृति और पुरुष का विवेक होना ही मोक्ष है अर्थात् तात्पर्य यह है कि प्रकृति और पुरुष की जो एकता समझ ली गई थी उसका स्थान विवेक ग्रहण कर लेता है और यही मोक्ष है। अन्य दर्शनों में भी यही बात मानी गई है। अन्य दर्शन चेतन अचेतन के विवेक को (चेतन अचेतन के बन्ध के अभाव को) ही मोक्ष कहते हैं। तत्त्वज्ञान प्रकृति का धर्म हो या पुरुष का किन्तु सभी यह मानते हैं कि वह अत्यन्त आवश्यक है। अतः सांख्य तथा अन्य दर्शनों में इस विषय में परिभाषा का ही भेद है।

पृ० 103 प० 9 स एष विगुण —यह वाक्य कहाँ का है इसकी शोध नहीं हो सकी। किन्तु इसमें संशय नहीं कि इस पर सांख्य मत का प्रभाव है। कारण यह है कि सांख्य के मत में आत्मा में बन्ध मोक्ष संसार कुछ भी नहीं माना गया किन्तु प्रकृति में ये सब स्वीकार किए गए हैं। इस वाक्य के साथ श्वेताश्वतर के इस वाक्य की तुलना करने योग्य है

क्षराात्मानावीशते देव एकः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ६।१

पृ० 108 प० 2 अभव्य—भव्य और अभव्य जीव के दो स्वाभाविक प्रकार हैं। अन्य दर्शनों में अभव्य शब्द का प्रयोग हुआ हो तो उसका अर्थ दुर्भव्य के समान समझना चाहिए। जीव के ये दो भेद किसलिए किए गए हैं इसका कुछ भी कारण नहीं बताया जा सकता। अतः आचार्य सिद्धसेन ने इस विषय को आगमगम्य अर्थात् अहेतुवादगम्य गिना है।

पृ० 109 प० 2 गाथा 1827—इस गाथा में इस आक्षेप का उत्तर दिया गया है कि अभव्यों के मोक्ष जाने से संसार खाली हो जाएगा। उत्तर में बताया गया है कि जीव अनन्त हैं अतः ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं होगी। किसी भी समय संसार की समाप्ति हो जाने से ऐसे प्रश्न के उत्तर में यागमा प्रकार ने कहा है कि यह प्रश्न अवधनीय है और विना दिए यह नहीं बताया जा सकता कि संसार का अन्त है या नहीं किन्तु कुशल का मन में अभाव मन में है तथा अकुशल का मन में समाप्त नहीं होता यह बात कही जा सकती है अर्थात् मन के विषय में अन्त निश्चय नहीं किया जा सकता। योग भाष्य में भी टीका अन्य में यह बात बताई गई है— [illegible] । इस

पृ 114 प०27 प्रयत्न—न्याय वैशेषिक ने आत्मा में प्रयत्न नाम का एक गुण माना है और वह कर्म (क्रिया) से भिन्न है क्योंकि वह गुण है।

पृ० 115 प० 31 नित्य सत्त्व—यह आ० धर्मकीर्ति की कारिका है। इसका पूरा रूप यह है—

नित्य सत्त्वमसत्त्व वा हेतोरन्यानपेक्षणात ।
अपेक्षातश्च भावाना कादाचित्कस्य सम्भव ॥ प्रमाणवार्तिक 3 4

## ( ७ )

पृ० 121 प० 2 देव चर्चा—चार्वाक को छोड़ कर शेष सभी भारतीय दर्शनों ने देवों का अस्तित्व स्वीकार किया है। अतः देवों के अस्तित्व के विषय का सन्देह चार्वाकों का समझना चाहिए।

पृ 122 प० 9 देव प्रत्यक्ष हैं—यह कथन भी आगमाश्रित ही समझना चाहिए। कारण यह है कि सूर्य तथा चन्द्रादि ज्योतिष्कों को देव मान कर यहाँ यह प्रतिपादन किया गया है कि देव प्रत्यक्ष हैं। किन्तु इस बात में सन्देह का अवकाश है ही कि सूर्य-चन्द्रादि को देव मानना या नहीं। शास्त्र में उन्हें देव माना गया है इस बात को स्वीकार करके ही उन्हें प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। इस प्रकार यहाँ आगमाश्रय है। इस आगमाश्रय को आगे अनुमान द्वारा प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

पृ० 122 प० 12 समवसरण में देव कथावत्थु नामक बौद्ध ग्रन्थ में भी यह बताया गया है कि इस लोक में देवागमन होता है।

## ( ८ )

पृ० 1 8 प 2 नारक चर्चा—इस चर्चा में भी यह समझ लेना चाहिए कि नारकों के अस्तित्व के सम्बन्ध का सन्देह चार्वाकों का ही पाया है अन्य भारतीय दर्शनों ने देवों के समान नारक भी माने ही हैं।

पृ 129 प० 1 सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष हैं—सर्वज्ञ-साधक अनुमान में भी यही कहा गया है कि सर्वज्ञ को अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। यहाँ सर्वज्ञ प्रश्न से नारकों का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। वस्तुतः सर्वज्ञत्व व नारकत्व ये दोनों सर्वसाधारण लोगों के लिए परोक्ष ही हैं।

पृ० 129 प० 19 इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष है—अन्य दार्शनिक इन्द्रिय ज्ञान को लौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं जबकि जैन उसे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष कहते हैं। यहाँ उसका परोक्षता का समर्थन किया गया है। प्रत्यक्ष शब्द में जो अक्ष शब्द है उसका अर्थ जैनों के अनुसार आत्मा है जो केवल आत्म साक्षात् हो उसे वह प्रत्यक्ष कहते हैं। अन्य दार्शनिक अक्ष शब्द का अर्थ इन्द्रिय करते हैं तथा जो इन्द्रियजन्य हो उसे वे प्रत्यक्ष या लौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

[illegible] मत में भी मोक्ष अथवा निर्वाण [illegible] किया जाता नहीं है, किन्तु उस का साक्षात्कार किया जाता है। [illegible] के शुद्धस्वरूप [illegible] अज्ञान अथवा मिथ्यात्व को दूर कर उसके शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार करना ही मोक्ष है। अतः वे [illegible] में भी निर्वाण के कारणों की जो चर्चा है वह ज्ञापक कारणों की है उत्पादक कारणों की नहीं है।

अद्वैतवेदान्त की भी यही मान्यता [illegible] है क्योंकि यह बात सर्वसम्मत है कि आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्राप्त हो गया है। वे [illegible] आत्मा में विकार स्वीकार नहीं करते। वस्तुतः में केवल कुमारिल सम्मत मीमांसा दर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जिसके मत में आत्मा परिणामी नित्य होने के कारण विकार युक्त सम्मत है। अतः इसमें भी आत्मा को परिणामी नित्य मानता है अतः इस मत में मोक्ष या निर्वाण कृतक भी है और अकृतक भी। पर्याय दृष्टि से उसे कृतक कहा जा सकता है क्योंकि विकार को नष्ट कर शुद्धावस्था को उत्पन्न किया गया है। किन्तु द्रव्य दृष्टि से आत्मा और उसकी शुद्धावस्था भिन्न नहीं है अतः उसे अकृतक भी कहते हैं। कारण यह है कि आत्मा तो विद्यमान थी ही उसे किसी ने उत्पन्न नहीं किया।

पृ० 112 पं० 23 मोक्ष—महायानी बौद्ध मानते हैं कि बुद्ध बार बार इस संसार में जीवों के उद्धार के लिए आते हैं और निर्माणकाय को धारण करते हैं। इसके साथ गीता का अवतारवाद का सिद्धान्त तुलनीय है।

पृ० 113 पं० 26 लोक के अग्रभाग में—मुक्त जीव के अग्रभाग में स्थिर होते हैं। जैनों का यह सिद्धान्त स्पष्ट है तथापि अनेक लेखक जैन मुक्ति के विषय में लिखते हुए लिख देते हैं कि सिद्ध के जीव सतत गमनशील हैं। इस भ्रम का मूल सर्वार्थसिद्धि में है।

आत्मा को व्यापक मानने वाले सांख्य योग वैशेषिकादि दर्शनों के मत में मुक्तावस्था के समय लोकाग्र पर्यन्त गमन कर वहाँ स्थिर रहने का प्रश्न ही नहीं रहता। वे व्यापक होने के कारण सर्वत्र हैं। आत्मा से केवल शरीर का सम्बन्ध दूर हो जाता है।

भक्तिमार्गीय सम्प्रदायों के मत में मुक्त जीव वैकुण्ठ अथवा विष्णुधाम में विष्णु के निकट रहते हैं।

हीनयानी बौद्ध जैनों के समान निर्वाण का कोई निश्चित स्थान नहीं मानते। देखें मिलिन्द 4 8 93 पृ० 320 किन्तु महायानी बौद्ध तुषित स्वर्ग सुखावती स्वर्ग जैसे स्थानों की कल्पना करते हैं जहाँ बुद्ध विराजते हैं तथा अवसर आने पर निर्माणकाय धारण कर अवतार लेते हैं।

सिद्धों के निवास स्थान के वर्णन के लिए देखें—महावीरस्वामी नो अन्तिम उपदेश पृ० 251 अथवा उत्तराध्ययन 36 57–62

पृ० 114 पं० 16 आत्मा सक्रिय है—जिन दर्शनों में आत्मा को व्यापक माना गया है उनमें परिस्पन्दात्मक क्रिया नहीं मानी गई है किन्तु जैन दर्शन के मतानुसार आत्मा सर्वज्ञ और विकासशील है अतः उसमें परिस्पन्दात्मक क्रिया का कोई विरोध नहीं है।

पृ० 114 पं० 31 लाउय यह गाथा आवश्यक निर्युक्ति की है—गाथा 957

पृ० 158 प० 4 सोने के घड़े को—इसके साथ आ० समन्तभद्र की निम्नकारिका तुलनीय है—

'घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्य जनो याति सहेतुकम् ॥ आप्तमीमांसा 59

## ( ११ )

पृ० 159 प० 2 निर्वाण-चर्चा—निर्वाण के अस्तित्व की शंका का आधार मीमांसा दर्शन की यह मान्यता है कि वैदिक कर्मकाण्ड जीवन पर्यन्त करना आवश्यक है। इस प्रकार की शंका न्याय-दर्शन में भी पूर्वपक्ष के रूप में उपलब्ध होती है—न्यायसूत्र 4 1 59 का भाष्य तथा अन्य टीकाएँ देखें।

पृ० 160 प० 3 दीप निर्वाण—सौन्दरनन्द के श्लोक से मिलती हुई गाथा माध्यमिक वृत्ति में उद्धृत है। वह यह है—

'अथ पतितु कश्चित् मागते कुतोऽयमागतु कुत्र याति वा ।
विदिशो दिश सर्वि मागतो नागतिर्नास्य गतिश्च लभ्यति ॥

मा०वृ०पृ० 216

चतुःशतक की वृत्ति (पृ० 59) में कहा गया है कि निर्वाण यह नाममात्र है प्रतिज्ञा मात्र है व्यवहार मात्र है संवृति मात्र है। और चतुःशतक (221) में तो कहा है—

स्कन्धा सन्ति न निर्वाणं पुद्गलस्य न सम्भवः ।
यत्र दृष्टं न निर्वाणं निर्वाणं तत्र किं भवेत् ॥

बोधिचर्यावतार पञ्जिका में लिखा है—निर्वाणं उपशमः पुनरनुत्पत्तिधर्मकतया आत्यन्तिकसमुच्छेदः इत्यर्थः (पृ० 350)। यह भी दीप निर्वाण पक्ष का समर्थन है। पुनश्च बोधिचर्यावतार (9 35) में जो यह कहा है कि—

यदा न भावो नाभावो मतेः संतिष्ठते पुरः ।
तदा भावगत्यभावेन निरालम्बा प्रशाम्यति ॥

वह भी दीप निर्वाण पक्ष का ही समर्थन है। उसकी व्याख्या में लिखा है—

'बुद्धिः प्रशाम्यति उपशाम्यति सर्वविकल्पापशमात् निरिन्धनवह्निवत् निवृत्ति (निवृत्ति ?) मुपयातीत्यर्थः।' पृ० 418

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि शून्यवादी के मत में निर्वाण सर्वथा अभाव रूप है क्योंकि वह परमार्थ तत्त्व तो है ही जिसका वर्णन बोधिचर्यावतार पञ्जिका में इस प्रकार है—

'बोधिः बुद्धत्वमेकानेकस्वभावविविक्तं अनुत्पन्नानिरुद्धं अनुच्छेदमशाश्वतं सर्वप्रपञ्चविनिर्मुक्तं आकाशप्रतिसमं धर्मकायाख्यं परमार्थतत्त्वमुच्यते। एतदेव च प्रज्ञापारमिता शून्यता-तथता भूतकोटिधर्मधातुत्वादिशब्दैः संज्ञामुपादाय अभिधीयते। पृ० 421

नागसेन ने मिलिन्द प्रश्न (पृ० 72) में निर्वाण को निरोध रूप कहा है। फिर उन्होंने उसे सर्वथा अभाव रूप नहीं किन्तु अस्तिधर्म कहा है (पृ० 265)। यह भी कहा है कि निर्वाण सुख है (पृ० 72)। यही नहीं, उसे 'एकान्त सुख' कहा गया है (पृ० 3 6)। उसमें दुःख का लेश भी नहीं है। नागसेन ने यह स्वीकार किया है कि अस्ति होते हुए भी निर्वाण का रूप संस्थान वर्ण प्रमाण यह सब कुछ नहीं बताया जा सकता (पृ० 309)।

पृ० 160 पं० 11 मोक्ष—यह पक्ष जनों को मान्य है।

पृ० 161 पं० 28 व्यापक—जिसका विस्तार अधिक हो उसे व्यापक कहते हैं तथा जिसका विस्तार न्यून हो उसे व्याप्य कहते हैं। जैसे कि वनस्पति और आम्रत्व। वृक्षत्व किन्तु है व्यापक है और आम्रत्व वनस्पति से व्याप्त है। ऐसी स्थिति में जहाँ वृक्षत्व न हो वहाँ आम्रत्व भी नहीं होता, किन्तु जहाँ आम्रत्व हो वहाँ वृक्षत्व अवश्य होगा। अतः आम्रत्व को हेतु बना कर वृक्षत्व को साध्य बनाया जा सकता है। किन्तु इससे विपरीत साध्य साधन भाव नहीं बन सकता।

पृ० 162 पं० 9 प्रध्वंसाभाव—प्रध्वंस अर्थात् विनाश। घट का विनाश उसका जो अभाव हुआ वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है। अर्थात् ठीकरियाँ घट का प्रध्वंसाभाव उनके बन में मोक्ष में आत्मा में सुख या ज्ञान नहीं है।

पृ० 167 पं० 25 स्वतन्त्र हेतु—जिस साधन या हेतु द्वारा इष्ट वस्तु की सिद्धि हो वह स्वतन्त्र-साधन है परन्तु जिस हेतु द्वारा इष्ट वस्तु की सिद्धि नहीं किन्तु पर के इष्ट पर स्वयं आपत्ति की जाय वह प्रसंग हेतु कहलाता है।

# वृद्धि पत्र

(1) आचार्य जिनभद्र की कृतियों में एक चूर्णि की वृद्धि करनी चाहिये। यह चूर्णि अनुयोगद्वार के शरीर-ग्रन्थ पर है। इसका अपरनाम उद्धरण जिनदास की चूर्णि तथा हरिभद्र की वृत्ति में हुआ है।

(2) विशेषावश्यक भाष्य की टीकाओं में मलयगिरिकृत टीका की भी गणना करनी चाहिये। इसका उल्लेख स्वयं मलयगिरि ने प्रज्ञापना की टीका में किया है। सम्भव है इस टीका की प्रति मिल जाए।

(3) सामान्यतः निर्युक्तिकार के रूप में ये भद्रबाहु ज्ञात हैं उनका समय मुनि श्री पुण्यविजय जी के लेख के आधार पर प्रस्तावना में प्रथम सूचित किया जा चुका है किन्तु निर्युक्ति नाम के व्याख्या ग्रन्थों की रचना बहुत पहले से चली आ रही है। इसके प्रमाण के लिए यहाँ श्री अगस्त्यसिंह की चूर्णि का निर्देश किया जा सकता है। इस चूर्णि का अब तक नाम भी ज्ञात न था किन्तु जैसलमेर के भण्डार से यह दो वर्ष पूर्व उक्त मुनिश्री को मिली है। यह चूर्णि दशवैकालिक सूत्र पर है। इसमें दशवैकालिक पर लिखी गई एक वृत्ति का भी निर्देश है। इस चूर्णि में वाक्यपात की गद्य गाथाएं जिनदास की चूर्णि में भी उसी रूप में हैं। हरिभद्रीय वृत्तियों में इन गाथाओं के अतिरिक्त अन्य निर्युक्ति गाथाएं भी हैं। अगस्त्यसिंह का समय माथुरी वाचना तथा वालभी वाचना के अन्तरकाल में कहीं है। अगस्त्यसिंह द्वारा स्वीकृत किया गया सूत्र-पाठ श्री देवर्द्धिगणि द्वारा स्थिर किए गए सूत्र-पाठ से भिन्न ही है इससे यह कल्पना की जा सकती है कि वह सूत्र-पाठ माथुरी या नागार्जुनीय वाचना सम्मत होगा। अतः हम कह सकते हैं कि अगस्त्यसिंह की चूर्णि में वर्णित निर्युक्ति भाग प्राचीन है। हाँ नवीन रचित निर्युक्ति में प्राचीन निर्युक्ति समाविष्ट हो जाता है। इसलिए जैसे चूर्णि ग्रन्थों की रचना परम्परा जिनदास से पहले से चली आ रही है उसी प्रकार निर्युक्ति के विषय में भी यही बात है। यह देख कर यह विचार भी उत्पन्न होता है कि चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु द्वारा निर्युक्तियों की रचना की परम्परा में कुछ तथ्य सा अवश्य होना चाहिए।

(4) जीतकल्प की चूर्णि के कर्ता के रूप में जीतकल्पसमास वृत्ति के रचयिता विक्रम की 12वीं शताब्दी में विद्यमान सिद्धसेनसूरि का उल्लेख सम्भावना के रूप में प्रस्तावना पृ० 46 पर किया गया है किन्तु जीतकल्प एक आगमिक ग्रन्थ है। अतः प्रतीत होता है कि उसकी चूर्णि का कर्ता कोई आगमिक होना चाहिए। एक आगमिक सिद्धसेन क्षमाश्रमण का निर्देश पंचकल्प चूर्णि तथा हरिभद्रीय वृत्ति में उपलब्ध होता है। सम्भव है कि जीतकल्प चूर्णि के कर्ता यही क्षमाश्रमण सिद्धसेन हों। य० सूत्र एक विकल्प के रूप में है।

(5) जीतसमास वृत्ति के कर्ता के रूप में हरिभद्र का निर्देश तथा उनका समय 1185 प्रस्तावना में सूचित किया गया है किन्तु जैसलमेर की ताडपत्रीय प्रति में जो अब तक प्राप्त

इस वृत्ति की प्रतियों में सबसे प्राचीन है 1185 का निर्देश नहीं है केवल 85 संवत् प्रचार स्पष्ट है। अतः 'जैन साहित्य नो इतिहास' के आधार पर निर्दिष्ट 1185 के समय पर पुनः विचार होना चाहिये।

(6) प्रस्तावना में कहा गया है कि आचार्य हेमचन्द्र मलधारी के हस्ताक्षर की प्रति खम्भात के भण्डार में है, किन्तु इस प्रति की प्रशस्ति में प्रयुक्त विशेषणों को देखकर यह अनुमान होता है कि शायद वह प्रति मलधारी के हाथों की न हो। हाँ, यह सम्भव है कि उन्होंने किसी और से वह प्रति अपने सामने लिखाई हो तथा उस लिखने वाले ने उन विशेषणों का प्रयोग किया हो। अतः हस्तलिपि के प्रश्न पर भी पुनः विचार होना चाहिये।

—सुखलाल

ाणी जतो पुरा गहिनो ।
। सुमेयो सो ॥१५६५॥

[redacted]
। ण दिट्ठपुव्वो वि ।
।ा,सरीरम्मि ॥१५६६॥

।यतारारतो पडस्सेव ।
।ानीरं कुचालो व ॥१५६७॥

।ाणादेयभावतोऽवस्स ।
।।ए [2]सम्मम-नोगुण ॥१५६८॥

।ज्जत्तणतो परो व्व मत्तस्स ।
। अत्थि य अत्थि [3]परस्सेव ॥१५६९॥[7]

। जीवो सज्झविरुद्धो त्ति ते मती होज्जा ।
।।। तण्णो सक्कारिणो [9]दासो ॥१५७०॥

।य त जीवा समपतो साम्म [1] थाणुपुरिमा व्व ।
गानम [1] त तत्थणत्थ वत्थि धुव ॥१५७१॥

णाम विमाण सरस्स पत्त ण त सरे चेव ।
। य तदत्थि च्चिय एव विवरीलगाद् वि ॥१५७२॥

[8]य अजोवविवक्खो पडिसेधातो घडाऽघडस्सेव ।
।त्थि घडोत्ति [11]व जीवत्थित्तपरो णत्थिमहाऽ[10]य ॥१५७३॥

अमतो णत्थि णिसेधो सजोगातिपडिसेधतो सिद्ध ।
[illegible] पि सिद्धमत्थतरे णियत ॥१५७४॥

[illegible] यमसित मुद्धत्तणतो घडाभिधाण व ।
[illegible] सा जीवा अधमत्ता होज्ज ॥१५७५॥

[illegible] के अर्थ वाला [illegible] शब्द का संक्षिप्त रूप [illegible] आ० [illegible] आचार्य का वाचक है यह भी आचार्य के कथन के दिया हुआ है। 2. आ –ता०। 3 देखें गाथा 1667। [illegible] को मु०। 6 पडस्सेव ता०। 7 देखें गाथा 1669। 9 णो दोसो मु०। 10 चा० ता०। 11 य ता०।

जं णागमा विरुद्धा परोप्परमतो वि संगया जुत्ता ।
सव्वण्णमाणविगमाणीता जीवो त्ति ते[1] मुत्ती ॥१५५३॥

गोतम ! पच्चक्खोवियं जीवा जं संगयाविणिण्णाणं ।
पच्चक्खं च ण सज्झं जध सुहदुक्खा[2] सरीरम्मि ॥१५५४॥

कतव करेमि काह णाहमहपच्चयाणिमातो य ।
अप्पा सपच्चतमो [3]तिकालकज्जोवदेसातो ॥१५५५॥

किह[4] पडियण्णमहं ति य किमत्थि त्ति संगयो त्थि णु ?।
सइ ससयम्मि वाऽय [5]कस्साहपच्चयो जुत्तो ॥१५५६॥

जति णत्थि ससयि च्चिय किमत्थि णत्थि त्ति संगयो कस्स
संसइते य सव्वे गोतम ! किमसंसय होज्जा ॥१५५७॥

गुणपच्चक्खत्तणतो गुणी वि जीवा घडा व्व पच्चक्खो ।
घडओ वि घप्पति गुणी गुणमत्तग्गहणता जम्हा ॥१५५८॥

अण्णोण्णो व्व गुणी होज्ज गुणेहिं जति णाम सो अण्णो ।
णणु गुणमेतग्गहणा घप्पति जीवा गुणी सव्व ॥१५५९॥

अध अण्णो तो एव गुणिणो न घडातयो वि पच्चक्खा ।
गुणमत्तग्गहणातो जीवम्मि कतो वियारो त्थि ?॥१५६०॥

अध मण्णसि अत्थि गुणी ण तु देहत्थतर तओ त्तिं तु ।
देहे णाणातिगुणा सो च्चिय ताण[6] गुणी जुत्ता ॥१५६१॥

णाणादयो न देहस्स [7]मुत्तिमत्तातितो घडस्सेव ।
तम्हा णाणातिगुणा जस्स स देहाधियो जीवो ॥१५६२॥

इय तुह देसेणाय पच्चक्खो सव्वधा मह जीवो ।
अविहतणाणत्तणतो तुह विण्णाण व पडिवज्ज[8] ॥१५६३॥

एव चिय परदेहऽणुमाणतो मेण्ह जीवमत्थि त्ति ।
अणुवित्ति णिवित्तीता विण्णाणमय सरूव व्व[9] ॥१५६४॥

---

1 तो-म० । 2 दुक्खा-म० । 3 कज्जावएमाया-को० । 4 कह को
5 अस्सा -को० । 6 तेसिं मु० को० । 7 देहस्सऽम-को० । 8 पडिवज्ज
9 सरूव व ता० ।

मण्णसि मज्जगेसु व मणभावो भूतसमुदयभूतो ।
विण्णाणमेत्तमाता भूते णुविणस्सति स भूयो ॥१५८९॥

अत्थि ण य पेच्चसण्णा ज पुव्वभवेऽभिधाणमसुओ त्ति ।
ज भणित न भवातो भवतर जाति जीवा त्ति ॥१५९०॥

गोतम ! पतत्थमेत मण्णतो णत्थि मण्णसे जीव ।
वयणतरेसु य पुणा[1] भणितो जीवो जमत्थि त्ति ॥१५९१॥

अग्गिहवणातिकिरियाफल तो समय कुणसि जीवे ।
मा कुरु ण पदत्थोऽय इम पदत्थं णिसामेहि ॥१५९२॥

विण्णाणातोऽणण्णो विण्णाणघणो त्ति सव्वगो[2] वाऽवि ।
स भवति भूतेहितो घडविण्णाणादिभावण ॥१५९३॥

णाइ चिय भूताइ सा णुविणस्साइ विणस्समाणाइ ।
अत्थतरोवयाग कमसा विण्णयभावेण ॥१५९४॥

पुव्वावरविण्णाणोवयोगता विगमणभवणभावा ।
विण्णाणसततीए विण्णाणघणो[3]समविणासी ॥१५९५॥

ण य णाणसण्णाऽवविट्ठते सुपत्तावयोगातो ।
विण्णाणघणाभिण्णो जीवाण वदपऽ विहिता ॥१५९६॥

एव पि भूतधम्मा णाण तब्भावभावता बुद्धी ।
तण्णा तदभावम्मि वि ज णाण वदमणयम्मि ॥१५९७॥

आयमिते आणिच्चे चेते सतासु अणिच्चासु ।
किं जातिरय पुरिसो ? अण्णजाति त्ति णिद्दिट्ठा ॥१५९८॥

तदभाव भावातो भाव चा[illegible]वतो ण सद्धम्मा ।
जण [illegible] विवज्जणा पदा णिच्चा ॥१५९९॥

एसि [illegible] [illegible] विदंति [illegible] ।
अण्णा वि हाज्ज मुत्ता विण्णाण व [illegible] ॥१६००॥

जाणो [illegible] विण्णो [illegible] [illegible] ॥
[illegible] ण [illegible] [illegible] [illegible] ॥१६०१॥

---

1 [illegible] 2 [illegible] 3 [illegible]
[illegible]

अत्थो देहो चिय से त णो पज्जायवयणभेयाओ।
णाणादिगुणा य जतो भणितो जीवो ण देहोत्ति ॥१५७६॥

जीवोऽत्थि वयो सच्च मव्वयणातोऽवमेगवयण व।
सव्वण्णुवयणतो वा अणुमतसव्वण्णु वयण व[1] ॥१५७७॥

भयरागमोहजोगाभावतो[2] सव्वमणतिवाति च।
सव्व चिय मे वयण जाणयमज्झत्थवयण व ॥१५७८॥

[3]किध सव्वण्णु त्ति मतो जेणाह सव्वसमयच्छेत्ता[4]।
पुच्छसु य ज ण याणसि जेण व ते पच्चया होज्जा ॥१५७९॥

एवमुवयोगलिंग गोतम! सव्वप्पमाणसिद्ध।
ससारीतरथावरतसातिभेत मुण जीव ॥१५८०॥

[5]जति पुण सो एगोच्चिय त्वेज्ज वोम व सव्वपिण्डेसु।
[6]गोतम! [7]तमगलिंग पिण्डेसु तधा ण जीवो य ॥१५८१॥

णाणा जीवा कुम्भातयो व्व भुवि लक्खणातिभेदातो।
सुह दुक्ख-बध मोक्खाभावो य जतो तदेगत्ते ॥१५८२॥

जेणोवयोगलिंगा जीवो भिण्णा य सो पतिसरीर।
उवयोगो उक्करिसावगरिसता तेण तेऽणता ॥१५८३॥

[8]एगत्त मव्वगतत्ततो ण [9]सोक्खादयो णभस्सेव।
कत्ता भोत्ता मता ण य ससारी जधाऽऽगास ॥१५८४॥

एगत्त णत्थि सुद्धो बहूवघातो त्ति देसणिग्यो व्व।
बहुतरबद्धत्तणतो ण य मुक्को देसमुक्का व्व ॥१५८५॥

जीवा तणमेत्तत्था जध कुम्भो तग्गुणोवलभातो।
अधवाऽणुवलभातो भिण्णम्मि घड पडस्सेव ॥१५८६॥

तम्हा कत्ता भोत्ता बधो मोक्खो सुह च दुक्ख च।
ससरण च बहुत्ता सव्वगतत्तमु जुत्ताइ ॥१५८७॥

गोतम! वेदपदाण [illegible] च त न याणासि।
ज विण्णाणघणा [illegible] चिय भूतेहिंतो समुत्थाय ॥१५८८॥

---

1 वा ता०। 2 भयाभो को० म०। 3 कह को० मु०। 4 –च्छे° को० म०।
5 था० ता०। 6 आ० ता०। 7 तमेग–को० मु०। 9 एगते ता०।
9 म वधा को०मु०।

जो तुल्लमाधणाण फले विसेसो ण सो विणा हेतु ।
कज्जत्तणतो गातम [1] घडो व्व हेतू य सो[1] कम्म ॥१६१३॥

बालसरीर देहतरपुव्व इ दियातिमत्तातो ।
जध बालदहपुव्वा जुवदेहा पुव्वमिह कम्म ॥१६१४॥

किरियाफलभावातो दाणादीण फल किसीए व्व ।
[2]त चिय दाणादिफल मणप्पसादाति जति बुद्धी ॥१६१५॥

किरियासामण्णातो ज फलमस्सावि त मत कम्म ।
तम्म परिणामरूव सुह-दुक्खफल जतो भुज्जो ॥१६१६॥

होज्ज मणोविसीए दाणातिकिये व जति फल बुद्धी ।
त ण णिमित्तत्तातो पिण्डा व्व घडस्स विण्णयो ॥१६१७॥

[3]एव पि दिट्ठफलता [4]किया ण कम्मफला पसत्ता ते ।
सा [5]तम्मत्तफल च्चिय जध मसफलो पसुविणासो ॥१६१८॥

पाय च जीवलाओ वट्टति [6]दिट्ठफ्फलासु किरियासु ।
[7]अदिट्ठफलासु पुणो वट्टति णासखभागो वि ॥१६१९॥

सोम्म [1] जतो च्चिय जीवा पाय दिट्ठफलासु वट्टन्ति ।
[7]अदिट्ठफलाओ [8]वि हु ताओ पडिवज्ज तेणव ॥१६२०॥

इधरा अदिट्ठरहिता सव्वे मुच्चेज्ज ते अपयत्तण[9] ।
[10]अदिट्ठारम्भा चेव [11]किलेसबहुलो भवेज्जाहि ॥१६२१॥

जमणिट्ठभागभाजो बहुतरया ज च णह मतिपुव्व ।
अदिट्ठाणिट्ठफल कोइ वि किरिय समारभते[12] ॥१६२२॥

तेण पडिवज्ज किरिया अदिट्ठगतियप्फला सव्वा ।
दिट्ठाणगतफला सा वि अदिट्ठाणुभावेण[13] ॥१६२३॥

अधव फलातो कम्म कज्जत्तणतो पनात्ति पुव्व ।
परमाणवा घडस्स व किरियाण तय फल भिन्न ॥१६२४॥

---

1 से को० । 2 दाणादिफल त चिय त० । 3 चा० ता० । 4 किरिया–मु० का० । 5 तम्मेत्त मु० । 6 दिट्ठफलासु मु । 7 अदिट्ठ–मु । 8 वि य ताओ मु० । 9 त ण ता । 10 अदिट्ठा० मु० । 11 केस मु । 12 समारभइ मु० का० 13 –भावण मु० को० ।

सव्व चिय मन्नमग मयरणवनायगो जगो णियग ।
सव्वमसव्वमय [1]पि य विणिच्चय विवरणाग ॥१६०२॥

सामण्णविसेसमयो तेण पतत्था विवरणया जुत्तो ।
वत्थुस्स विसेसो पज्जायावेक्खया सव्वो ॥१६०३॥

*छिण्णम्मि मणयम्मी जिणेण जरमरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइओ पव्वहि सह सव्विएहिं ॥१६०४॥

एव कम्मादीसु वि ज सामण्ण तय समायज्ज ।
जा पुण एत्थ विसेसा समागता त पवक्खामि ॥१६०५॥

---

## [ २ ]

त पव्वइत सोतु वितिओ आगच्छति अमरिसेण ।
वच्चामि णमागमि परायिणित्ताण त समण ॥१६०६॥

छलितो छ्वातिणा सो मण्णे माइ दजालतो वावि[2] ।
को जाणति विध[3] वत्त एताहे वट्टमाणो[4] से ॥१६०७॥

सो पक्खतरमेग पि जाति जति मे तता मि तस्सेव ।
सीसत्त हाज्ज गतो वान्नु पत्ता जिणसगास[5] ॥१६०८॥

*आभट्ठो य जिणेण जाइ जरा-मरणविप्पमुक्केण ।
णामेण य गोत्तण य सव्वण्णू सव्वदरिसीण ॥१६०९॥

*कि मण्णे अत्थि कम्म उदाहु णत्थि त्ति मगयो तुज्झ ।
वेतपताणय अत्थ ण याणसे[6] तेसिमो अत्थ ॥१६१०॥

कम्मे तुह सन्देहो मण्णसि त णाणगायरातीत ।
तुह तमणुमाणसाधणमणुभूतिमय फल जस्स ॥१६११॥

णत्थि सुह दुक्खहेतू कज्जातो बीयमकुरस्सेव ।
सा दिट्ठा चेव मती वभिचारगता ण त जुत ॥१६१२॥

---

1 चिय–ता० । 2 वाइ ता० । 3 कह मु० को० । 4 वट्टमाणो म को० ।
5 सगासे को० म० । 6 याणसो–म० को० ।

* चिह्नांकित गाथाएँ निर्युक्ति की हैं ।

अथवा एगंतेणं च संसारी सव्वहा[1] अमुत्ता त्ति ।
जमणादिकम्मसंततिपरिणामावण्णरूवो सो ॥१६३८॥

+संताणाऽणादीओ पराऽपर हेतुहेउभावाओ ।
देहस्स[2] य कम्मस्स य गोतम ! बीयंकुराण व ॥१६३९॥

कम्मे चामूर्ति गोतम ! जमग्गिहातादि संभवामस्स ।
जेनाहिहिं विहण्णति दाणातिफलं च लायम्मि ॥१६४०॥

कम्ममणिच्छतो वा मुद्ध चिय जीवमीसरं[3]इ वा ।
मण्णसि दहातीणं ज कत्तार ण सो जुत्ता ॥१६४१॥

उवकरणाभावातो णिच्चेट्ठामुत्तताहितो वा वि ।
ईसरदेहारम्भे वि तुल्लता वाऽणवत्था वा ॥१६४२॥

अथव सभाव मण्णसि[4] विण्णाणघणादिवेदवक्कातो ।
तध[5] बहुदोस गोतम ! ताण च पत्ताणमयमत्थो ॥१६४३॥

*छिण्णम्मि संसयम्मी[6] जिणेण जरमरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइतो पंचहि [7]सह खंडियसतेहिं ॥१६४४॥

---

## [ ३ ]

*ते पव्वन्ते सोतु ततियो आगच्छति जिणसगासे ।
वच्चामि ण[8] वदामी वंदित्ता पज्जुवासामि ॥१६४५॥

सामत्ते णोवगता सपदमिदग्गिभूतिणो जस्स ।
तिभुवणकतप्पणामो स महाभागोऽभिगमणिज्जो ॥१६४६॥

*तदभिगमणावदणोवासणाइणा होज्ज पूतपावोऽहं ।
वोच्छिण्णसंसया वा होतु पत्तो जिणसगास[10] ॥१६४७॥

---

1 सव्वतो ता० । 2 जीवस्स य ता० । 3 जीवमीसरासि वा (?) ता० ।
4 –वयवुत्तामो मु० को० । 5 तो को० । तह मु० । 6 समयम्मि वि ता० । समयम्मि मु । 7 पंचहि म सं–ता० । 8 ण (नहीं है) मु० । 9 तदभिगमवदणवपसवाणिज्जा होज्ज ता० । 10 सगासे मु० को० ।

+यह गाथा आगे भी आती है—गद्यांक 1665

[1]आह णणु मुत्तमेव[2] मुत्त चिय कज्जमुत्तिमत्ताओ ।
इध जह मुत्तत्तणतो घडस्स परमाणवो मुत्ता ॥१६२५॥

तध सुहसवित्तीतो सबधे वेतणुब्भवातो य ।
बज्झबलाधाणातो परिणामातो य विण्णेय ॥१६२६॥

आहार इवाणन इव घडो व्व णेहादिकतबलाधाणो ।
खीरमिवोदाहरणाइ कम्मस्सवित्तगमगाइ ॥१६२७॥

अध मतमसिद्धमेत परिणामातो त्ति सो वि कज्जाओ ।
सिद्धो परिणामो से दधिपरिमाणातिव पयस्स ॥१६२८॥

अब्भातिविगाराण जध वइचित्त विणा वि कम्मेण ।
तध जति ससारीण हवेज्ज को णाम तो दासा ?॥१६२९॥

कम्मम्मि व को भेतो जध बज्झकसधचित्तता सिद्धा ।
तध कम्मपुग्गलाण वि विचित्तता जीवसहिताण ॥१६३०॥

बज्झाण चित्तता जति पडिवण्णा कम्मणो विसेसेण ।
जीवाणुगतस्स मता भत्तीण व निप्पिणत्थाण ॥१६३१॥

तो जति तणुमेत्त चिय हवेज्ज का कम्मकप्पणा णाम ।
कम्म पि णणु तणु च्चिय मण्णरब्भतरा णवर ॥१६३२॥

को तीय विणा दोसो थूलाता सव्वथा विप्पमुक्कस्स ।
देहग्गहणाभावा ततो य ससारवाच्छित्ती ॥१६३३॥

सव्वविमोक्खावत्ती णिक्कारणतो व्व सव्वससारो ।
भवमुक्काण च पुणो ससरणमता अणासामो ॥१६३४॥

मत्तस्सामुत्तिमता जीवेण कध हवेज्ज सबधा ?।
णाम ! घडस्स व णभसा जध वा दव्वस्स किरियाए ॥१६३५॥

अथवा पच्चक्ख चिय जीवाणिच्चधाण जध सरीर ।
चेट्ठइ[3] कम्मसमत्त भवतरे जीवसजुत्त ॥१६३६॥

मुत्तस्सामुत्तिमता उवघातानुग्गहा कध होज्ज[4] ।
जध विण्णाणाणीण मदिरापाणामयादीहि ॥१६३७॥

---

• [illegible] । 2 [illegible] । 3 चिट्ठ[illegible] को० मु० । 4 होज्जा मु० को० ।

विण्णाणसरूव बालण्णाणमिह णाणभावाता ।
जध बालणाणपुव्व जुवणाण त च दट्ठव्वं ॥१६६१॥

पढमो[1] वणाभिलासो अण्णाहाणभिलासपुव्वोऽय ।
[2]जध णपताभिलासोऽणुभूतिवो सा य दट्ठव्वो ॥१६६२॥

बालसरीर दट्ठतरूव इ दिव्वातिमत्तातो ।
जुवदेहा बालाविव ण जस्स देहा स देहि त्ति ॥१६६३॥

अण्णमुहदुक्खपुव्व मुहाति बालस्स सपतमुह व ।
अणुभूतिमयत्तणतो अणुभूतिमयो य जीवो त्ति ॥१६६४॥

[3]णाताणाणतोया परोप्पर हेतुहेतुभावाता ।
देहस्स य कम्मस्स य णातम [4] बीयकूराण व ॥१६६५॥

तो कम्मसरीराण कत्तार करणवज्जभावाता ।
पडिवज्ज तदब्भधिय दडघडाण कुलाल व ॥१६६६॥

[5]अत्थि सरीरविधाता पतिणियतावारतो घडस्सेव ।
अवसाण च करणतो दण्डातीण कुलाला व ॥१६६७॥

[6]अत्थिंदियविसयाण आगणादेयभावतोऽवस्स ।
कम्मार इवादाता लाए सडासलोहाण ॥१६६८॥

[7]भोत्ता देहातीण भोज्जत्तणतो णरो व्व भत्तस्स ।
सघातातित्तणतो अत्था य अत्थी [7]घरस्सेव ॥१६६९॥

[8]जो कत्ताति स जीवो सज्झविरुद्धा त्ति ते मती होज्ज ।
मुत्तातिपसगाता व णो ससारिणोऽदासा ॥१६७०॥

जातिसरा ण विगता सरणाता बालजातिसरणो व ।
जध वा सदसवत्त[10] णरा सरतो विदसम्मि ॥१६७१॥

---

1 पढमो वणा० को० मु० । 2 जह बालाहिलासपुव्वो जुवाहिलासो स देहहिओ को० । 3 यह गाथा क्रमांक 1639 पर आ चुकी है । 4 यह गाथा क्रमांक 1567 पर आ गई है । वहां देहस्सत्थि विधाता ऐसा पाठान्तर है । 5 यह गाथा क्रमांक 1568 पर पहले आ गई है । 6 यह गाथा पुन आई है देखें क्रमांक 1569 । 7 घडस्सेव-ता० । 8 यह गाथा क्रमांक 1570 पर पहले आ चुकी है । 9 ~णो दोसो मु० ता० । 10. सद्देहवत्त ता० ।

[1]आभट्टो य जिणेण जाइ-जरा मरणादिणमुवगओ ।
णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णु सव्वदरिसी ण ॥१६४८॥

[2]तज्जीवतस्सरीर ति [3]संसओ ण वि य पुच्छए तिति ।
वेदपदाण य अत्थ ण याणसे तेसिमो अत्थो ॥१६४९॥

थंभुव्वातिभूतसमवायमभूता चेतण त्ति ते णत्था ।
पत्तेयमदिट्ठा वि हु मज्जणमदो व्व समुदाये ॥१६५०॥

जध मज्जणसु मदो थोसुमदिट्ठा वि समुदये हाणु ।
कालतरे विणस्सति तध भूतगणम्मि चेतण्ण ॥१६५१॥

पत्तेयमभावातो ण रेणुतेल्ल व समुदये चेता ।
मज्जणसु तु मतो थोसु पि ण सव्वसो णत्थि ॥१६५२॥

भाम घणि वितण्हतादी पत्तेय पि हु जधा मतंगेसु ।
तध जति भूतेसु भवे चेता तो[3] समुदए होज्जा ॥१६५३॥

जति वा सव्वाभावो थोसु तो किं तदगणियमोऽय ।
तस्समदयणियमो वा अण्णेसु वि तो भवेज्जाहि ॥१६५४॥

भूताण पत्तेय पि चेतणा समुदये दरिसणातो ।
जध मज्जणसु मदो मति त्ति हेतू ण सिद्धाऽय ॥१६५५॥

णणु पच्चक्खविराधा गोतम ! त णाणुमाणभावातो ।
तुह पच्चक्खविरोधो पत्तेय भूतचेत त्ति ॥१६५६॥

भूतिंदियावलद्धाणुसरतो तेहिं भिण्णरूवस्स ।
चेता पचगवक्खोवलद्धपुरिसस्स वा सरता ॥१६५७॥

तदुवरमे वि सरणतो तज्जावारेवि णोवलभाता ।
इंदियभिण्णस्स मतो पचगवक्खाणुमविणो व्व ॥१६५८॥

उवलब्भणेण विणा सरणतो तदधिओ धुव अत्थि ।
पुव्वावरवातायणगवा विणा रादिपुरिसा व्व ॥१६५९॥

सव्विंदियावलद्धाणुसरणता तदधियाणुमत्तव्वो ।
जध पचभिण्णविण्णाणपुरिसविण्णाणसपण्णो ॥१६६०॥

---

1 सा० । 2 माणसो मु० का० । 3 त० ।

विण्णाणघणादीण यदपताणं [1]पदत्थमविदत्तो ।
देहाणण्ण मण्णसि ताणं च पताणमयमत्थो ॥१६८५॥

[2]छिण्णम्मि मसयम्मी जिणाण जरमरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइतो पयहि सह गहियमएहिं ॥१६८६॥

---

## [ ४ ]

[3]ते पव्वइते सोतु वियत्ता आगच्छति जिणसगास ।
वच्चामि ण वदामि वदित्ता पज्जुवासामि ॥१६८७॥

[4]आभट्ठो य जिणेण जातिजरामरणविप्पमुक्केण ।
णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसी ण ॥१६८८॥

[5]किं मण्णे[3] पचभूता अत्थि य णत्थि त्ति ससया तुज्झ ।
वतपताण य अत्थ ण याणसी तंसिमो अत्थो ॥१६८९॥

भूतेसु तुज्झ सका सुविणय-मायावमाइ होज्ज त्ति ।
ण विणारिज्जताइ भमंति ज सव्वधा जुत्तिं ॥१६९०॥

भूतातिससयातो जीवातिसु वा कध त्ति ते बुद्धी ।
त सव्वसुण्णसको मण्णसि मायोवम लोय ॥१६९१॥

जध किर ण मतो परतो णोभयतो णावि अण्णता सिद्धी ।
भावाणमवेक्खाता वियत्त ! जध दीह [4]हस्साण ॥१६९२॥

अत्थित्त धव्वेकाणेकता य सव्वेक्कदादिदोसातो ।
सव्वेणभिलप्पा वा सुण्णा वा सव्वथा भावा ॥१६९३॥

जाताजातोभयतो ण जायमाण च जायते जम्हा ।
अणवत्थाभावाभयदोसाता सुण्णता तम्हा ॥१६९४॥

हेतू-पच्चयसामग्गिवोसु भावेसु णो य ज कज्ज ।
दीसति सामग्गिमय सव्वाभाव ण सामग्गी ॥१६९५॥

---

1 तमत्थ-पु० को० । 2 देखें गाथा 1609 । 3 किं म ण प्रत्थि भूया उताहु नत्थि को० पु० । 4 दीह हस्साण ता० ।

अत्थ मण्णसि खणिओ वि हु सुमरति विण्णाणसततिगुणातो ।
तहवि सरीरादण्णो सिद्धो विण्णाणसताणो ॥१६७२॥

ण य सव्वथेव खणिय णाण पुव्वावलद्धमरणातो ।
खणिओ ण सरति भूत जध जम्माणतरविणट्ठो ॥१६७३॥

जस्सेगमगवधगमेगतेण खणिय च विण्णाण ।
सव्वखणियविण्णाण तस्साजुत्त कदाचिदवि ॥१६७४॥

ज सविसयणियत्त चिय जम्माणतरहत च त कध णु ।
णाहिति सुबहुअविण्णाणविसय [1]खणभगतादीणि ॥१६७५॥

[2]गण्हेज्ज सव्वभग जति य मती सविसयाणुमाणातो ।
त पि ण जताऽणुमाण जुत्त सत्ताइसिद्धीओ ॥१६७६॥

जागरज वामणातो[3] सा वि हु [4]वामेत्तवासणिज्जाण ।
जुत्ता[5] समेच्च दोण्ह ण तु जम्माणतरहतस्स ॥१६७७॥

बहुविण्णाणप्पभवा जुगवमणेगत्थताऽधव गस्स ।
विण्णाणावत्था वा पडुच्चवित्तीविधातो वा ॥१६७८॥

विण्णाणसगविणाम दामा इच्चादया पस्सजति ।
ण तु ठितसभूतच्चुतविण्णाणमयम्मि जीवम्मि ॥१६७९॥

तस्स विचित्तावरणकसपोवसमजाइ चित्तव्वाइ ।
खणियाणि य कालतरवित्तीणि य मइविधाणाइ ॥१६८०॥

णिच्चा सताणो मि सव्वावरणपरिसखये ज च ।
केवलमत्थि केवलभावणाणतमविरुप्प ॥१६८१॥

सा जति [illegible] ता पविसता[7] विणिम्मरता वा ।
काग ण [illegible] [illegible] ! दुविधाणुवलद्धिता सा[8] य ॥१६८२॥

अमता सरणिगस्स व सतो वि दूराऽभिभावता भिहिता ।
सुहुमामत्तताओ कम्माणगतस्स जीवस्स ॥१६८३॥

[illegible] ज [illegible] [illegible] ।
[illegible] विहण्णति [illegible] च सायम्मि ॥१६८४॥

---

1 –खरभ–म० । 2 [illegible] म० । 3 –मिडोव–ना० । 4 [illegible] को० । [illegible] म । 5 [illegible]–को० म० । 6 [illegible]–ना० । 7 –[illegible] व [illegible]–म० । [illegible] ना० । 8 [illegible] ना० ।

[illegible] ।
[illegible] ॥१७०६॥

[illegible] ॥१७१०॥

[illegible] ॥१७११॥

[illegible] ॥१७१२॥

[illegible] ॥१७१३॥

[illegible] ॥१७१४॥

[illegible] ॥१७१५॥

[illegible] ॥१७१६॥

[illegible] ॥१७१७॥

[illegible] ॥१७१८॥

[illegible] ॥१७१९॥

[illegible] ॥१७२०॥

[illegible] ॥१७२१॥

---

1 दीहहस्सेसु ता० । 2 [illegible] का० । 3 हस्सा–ता । 4 सा भावा ता० ।
5 हस्सं ता० । 6 [illegible] को० ।

परभागाविसओ ण तारभागसहुणओ ण ।
उभयाणुरोहओ णत्थि णुरोहिणो गुण्ण ॥१६९६॥

मा [1]कुण णियत्त ! संगयमसंति ण संगयमुन्भओ जुत्तो ।
सदुगुम सरमिलेसु ण जुत्तो सो भाणु पुरिसेसु ॥१६९७॥

का या णियमहेउ सव्वाभावे वि भाणु पुरिसेसु ।
सत्ता ण सपुण्णाम्मि णिवज्जया वा कयण्ण भो ॥१६९८॥

पच्चक्खतोणुमाणाणमभावो वा पमाणिदरयाणं ।
सव्वप्पमाणविसयाभाव णिय संगओ जुत्तो ॥१६९९॥

ज समयाम्यो णाणवज्जया त ण सोयसम्बद्धं ।
सव्वण्णयाभावे ण समयो तेण ते जुत्ता ॥१७००॥

सति चिय ते भावा समयता सोम्म ! भाणुपुरिसो व्व ।
अथ दिट्ठतमसिद्ध मण्णसि एसु संगयाभावा ॥१७०१॥

[2]सव्वाभावे वि मती सदहा सिमिणए व्व णो त च ।
ज सरणातिनिमित्तो सिमिणो ण तु सव्वथाभावो ॥१७०२॥

अणुभूतदिट्ठचिंतितमुत्पयतिविकारदेवताणुमा[3] ।
सिमिणस्स निमित्ताइ पुण्ण पाव च णाभावो ॥१७०३॥

विण्णाणमयत्तणतो घडविण्णाण व सिमिणओ भावो ।
अथवा विहितनिमित्तो घडो व्व णमितियत्ताता ॥१७०४॥

स वाभाव च कतो सिमिणोऽसिमिणो त्ति सच्चमलिय ति ।
गधव्वपुर पाडलिपुत्त [4]तच्चायगारा त्ति ॥१७०५॥

कज्ज ति कारण ति य सज्झमिण साधण ति कत्त ति ।
वत्ता वयण वच्च परपक्खोऽय सपक्खोऽय ॥१७०६॥

चिंचेह थिरदवोसिणचलता मविसणाइ णियताइ ।
सद्दादया य गज्झा सोतादीयाइ गहणाइ ॥१७०७॥

समता विवज्जया वा सव्वागहण च किण्ण सुण्णम्मि ।
किं सुण्णता व सम्म सग्गाहो किं व मिच्छत्त ॥१७०८॥

---

1 कुर को० म० । 2 को० ता० । 3 –ताणगा ता० । 4 तत्थोव –को० मु०

जति सव्व णाभावो अधाणिय ण प्पमाणमेत्त ति ।
अब्भुवगत ति य मती णाभावे [1]जुज्जए त पि ॥१७३५॥

सिक्तासु किण्ण तेल्ल सामग्गीतो तिलेसु व[2] विमत्थि ।
कि य ण सव्व सिज्झइ सामग्गीतो खपुप्फाण ॥१७३६॥

सव्व सामग्गिमय सागतोय जतोऽणुरूपदेसा ।
अध सा वि सण्णदेसो जत्थायत्था य परमाणू ॥१७३७॥

सीसति सामग्गिमय ण यागतो सति णणु विरुद्धमिद[3] ।
कि वाणूणमभाव निप्पण्णमिण खपुप्फहि ॥१७३८॥

देसस्सारामागो घेप्पति ण य सो त्थि[4] णणु विरुद्धमित ।
सव्वाभावे वि ण सो पप्पति कि खरविसाणस्स ॥१७३९॥

परभागादरिसणतो णारामागो वि किमणुमाण ते ।[5]
आराभागग्गहणे कि व ण परभागसिद्धी ? ॥१७४०॥

सव्वाभावे वि कतो आरा-पर मज्झभागणाणत्त ।
अध परमती य भण्णति स परमइविसेसण कत्तो ॥१७४१॥

आर-पर-मज्झभागा पडिवण्णा जति ण सुण्णता णाम ।
अप्पडिवण्णेसु वि का विकप्पणा खरविसाणस्स ॥१७४२॥

सव्वाभावे वाराभागो कि दीसत ण [6]परभागो ।
सव्वागहण य ण कि कि वा ण विवज्जओ होति ? ॥१७४३॥

परभागदरिसण वा फलिहादीण नि ते धुव सति ।
जति वा ते वि ण सता परभागादरिसणमहेऊ ॥१७४४॥

सव्वादरिसणता च्चिय ण भण्णते कोस भणति त णाम ।
पुव्व भुवगतहाणि[7] पच्चक्खविरोधता चेव ॥१७४५॥

णत्थि पर मज्झभागा अप्पच्चक्खत्तओ मती होज्ज ।
णणु अक्खत्थावत्ती अप्पच्चक्खत्तहाणी वा ॥१७४६॥

---

1 जत्तमेत्त पि ता० जुत्तमेय ति म० । 2 वि म० को० । 3 –मित ता० –मिण को० । 4 सो त्ति णण मु० को० । 5 वि–मु० ता० । 6 परिभागो ता० । 7 –हाणी म० को० । 8 विराहओ मु को ।

[illegible]
अत्थि त्ति तेण भणिते को [illegible] [illegible] ॥१७२२॥

ज [illegible] ज [illegible] त [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
भणिते [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] त्ति ॥१७२३॥

अत्थि त्ति तेण भणिते [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥१७२४॥

[illegible] त्ति [illegible] जाताजातोभय [illegible] जमजात[3] ।
अथ जात [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥१७२५॥

जति सव्वथा ण जात त्ति जम्माणतर तदुवलम्भो ।
पुव्व वा सुयलम्भो पुणो वि कालांतरहुतस्स ॥१७२६॥

अथ सव्वथा ण जात जात सुण्णवयण तथा भावा ।
अथ जात पि ण जात पमाणिता[4] सुण्णता केण ?॥१७२७॥

जायति जातमजात जातजातमथ जायमाण च ।
वज्जमिह विवक्खाए ण जायण सव्वथा किंचि ॥१७२८॥

रूवि त्ति जाति जाता कुंभा सठाणतो पुणरजाता ।
जाताजातो दोहि वि तस्समयं जायमाणो त्ति ॥१७२९॥

पुव्वकतो तु घडतया परवज्जाणहिं तदुभएहिं च ।
जायतो य पडतया ण जायते सव्वथा कुंभो ॥१७३०॥

वामातिमि च्च जात ण जायते तेण सव्वथा सोम्म ।
इय दव्वतया सव्व भयणीज्ज पज्जयगतीय[5] ॥१७३१॥

दीसति सामग्गीमय सव्वमिहत्थि ण य सा खणु विरुद्ध ।
घेप्पति व ण पच्चक्ख किं [6]कच्छभरोमसामग्गी ॥१७३२॥

सामग्गिमयो वत्ता वयण चत्थि जति तो कतो सुण्ण ।
अथ णत्थि केण भणित वयणाभावे सुत केण ? ॥१७३३॥

जेण चेव ण वत्ता वयण वा तो ण सति वयणिज्जा ।
भावा तो सुण्णमिद वयमिण[7] सच्चमलिय वा ॥१७३४॥

---

1 -थम्मा ता० । 2 घडो त्ति ता० को० । 3 जज्जाय को० मु० । 4 पयासिया म० ।
5 पज्जवगतीए म० को० । 6 कच्छभरोम-म० । 7 वयणमिद मु० को० ।

अण्णा इयभवसरिसो परलोगो वि जति सम्मतो तेण ।
कम्मफलं पि इयभवसरिसं पडिवज्ज परलोगे ॥१७८१॥

किं भणितमिणं मणुया णाणागतिकम्मकारिणो सति ।
जति ते तप्फलभाजो परे वि तो सरिसता जुत्ता ॥१७८२॥

अध इय सफलं कम्मं ण परे ता सव्वथा ण सरिसत्तं ।
अवतागमवतणामो[1] कम्माभावाऽथवा पत्तो ॥१७८३॥

कम्माभावे वि[2] कतो भवतर सरिसता व तदभावे ।
णिक्कारणतो य भवो जति तो णासो वि तध चेव ॥१७८४॥

कम्माभावे वि मती को दोसो हाज्ज जति सभावोऽय ।
जध कारणाणुरूव पडातिकज्ज सभावेण ॥१७८५॥

होज्ज सभावा वत्थु णिक्कारणता व वत्थुधम्मो वा ।
जति वत्थु णत्थि तधोवणुवलद्धीतो खपुप्फ व ॥१७८६॥

अच्चतमणुवलद्धो वि अध तधो अत्थि णत्थि किं कम्म ।
हेतू व तदत्थित्ता जो णणु कम्मस्स वि स एव ॥१७८७॥

कम्मस्स वाभिहाण हेतु[3]सभावा त्ति होतु को दोसो ।
णिच्च व सो सभावा सरिसा एत्थ च को हेतू ॥१७८८॥

सो मुत्तोऽमुत्तो वा जति मुत्तो तो ण सव्वथा सरिसो ।
परिणामता पय पि व ण देहहेतू जति अमुत्तो ॥१७८९॥

उवकरणाभावातो ण य भवति सुधम्म ! सो अमुत्तो त्ति[4] ।
कज्जस्स मुत्तिमत्ता सुहसवितातितो चेव ॥१७९०॥

अथवाऽकारणता च्चिय सभावतो ता वि[5] सरिसता कत्तो ।
किमकारणतो ण भवे विसरिसता किं व विच्छित्तो ॥१७९१॥

अध[6] वि सभावा धम्मा वत्थुस्स ण सो वि सरिसओ णिच्च ।
उप्पात्त ठिठति भगा चित्ता ज वत्थुपज्जाया ॥१७९२॥

कम्मस्स वि परिणामो सुधम्म ! धम्मा स पोग्गलमयस्स ।
हेतू चित्तो जगता होति सभावो त्ति को दोसो ॥१७९३॥

---

1 –णासा मु० । 2 य कतो म० को० । 3 हाज्ज सभावो मु० को० । 4 अमुत्तो वि को० मु० । 5 तो व ता० । 6 अहव मु ।

[1]ते पव्वइते सोनु सुध
वच्चामि ण वदामि[3] व

[2]आभटठो य जिणण ज
णामेण य गोत्तण य स

[4]कि मण्ण जारिसो इधभ
वेतपताण य अत्थ ण यार

कारणसरिस कज्ज बीयस्स
इधभवसरिस सव्व जमवेसि

जाति सरो [6]मगाता भूतणम्
समायति गोलोमाऽविलोमसज

[8]नि रक्खामु वेते जोणिविधा
दीमति जम्हा जम्म सुधम्म ! [9]

अधव जतो च्चिय वीयाणुम्वज
[10]जीव गेण्ह भवातो भवतरे चि

जेण भवकुरवोय कम्म चित्त च त
[11]हतु विचित्तत्तम्मा [12]भवकुरवि

जति पडिवण्ण कम्म हेतुविचित्तत्त
ता तप्फल पि चित्त [13]पवज्ज ससा

चित्त गसारित्त विचित्तकम्मपत्तभाव
इय चित्त चित्ताण कम्माण फल य

चित्ता कम्मपरिणती पोग्गलपरिणाम
कम्माण चित्तता पुण तद्धतुविचित्तभा

---

1 मुरम म० मुरम को० । 2 आभट्ठ को० म० । 3 ता० 5 तमवत्त म० को० । 6 मिगाणो-मु० को० 8 जति ता० । 9 ता म० । 10 जीवं ता० । 12 विचित्ता ता । 13 पवज्ज ता० । 14 कम्मं ता०

सम्मत्तमिरा गेण्हमु मह वयणातो चलेसवयण य ।
सव्वण्णुनादितो वा [1]जाणयमज्झत्थवयण व ॥१८३१॥

मण्णसि किंच सव्वण्णू सव्वेसि सव्वभावदेसेहा ।
दिट्ठतामावम्मि वि पुच्छतु जो सतवो जस्स ॥१८३२॥

[2]भव्वा वि ण सिज्झिस्सति केइ वातेण जति वि सत्तेण ।
एणु ते वि अभव्वच्चिय किं वा भव्वत्तण तेसि ॥१८३३॥

[3]भण्णति भव्वा जोग्गो ण य जागत्तण[4] सिज्झते सव्वो ।
जध जोग्गम्मि वि दलिउ [5]सव्वत्थ ण कीरते पडिमा ॥१८३४॥

जध वा स एव पासाण-कणगजोगो वियागजोग्गो वि ।
ण विजुज्जति सव्वा च्चिय स विजुज्जति जस्स सपत्ती ॥१८३५॥

किं पुण जा सपत्ती सा जोगस्स[6] एव ण तु [7]अजोग्गस्स ।
तध जो मावसा णियमा सो भव्वाण ण इतरेसि ॥१८३६॥

[8]भतवादिमत्तणातो मावसा णिच्चो ण होति कु भो व्व ।
णो पढमाभावो भुवि तद्धम्मा वि ज णिच्चो ॥१८३७॥

अणुदाहरणमभावा एसो वि मती ण त जतो णियमो[9] ।
कुम्भविणासविसिट्ठा भावो च्चिय पोग्गलमयोऽय[10] ॥१८३८॥

[11]किं वेगतेण कत पोग्गलमेत्तविलयम्मि जीवस्स ।
किं णिव्वत्तितमधिय णभसो घडमेत्तविलयम्मि ॥१८३९॥

साऽणवराधो व्व पुणो ण वज्झते वधकारणाभावा ।
जोगो[12] य वधहेतू ण य सो[13] तस्सामगोरो त्ति ॥१८४० ।

ण पुणो तस्स पसूती बीजाभावादिहकुरस्सेव ।
चोय च तस्स कम्म ण य तस्स तय ततो णिच्चो ॥१८४१॥

दव्वामुत्तत्तणतो णभ व्व णिच्चा मतो स दव्वतया ।
सव्वालत्तावत्ती मति त्ति त ण णाणुमाणातो ॥१८४२॥

---

1 जाणतु को० । 2 चो० ता० । 3 भा० ता । 4 जोग्गो तेण ता० । 5 सव्वत्थ म० । 6 जोगस्स ता० । 7 अजोगस्स ता० । 8 च० ता० । 9 णियत त० । 10 भयो य मु० । 11 अथवा किं ता० । 12 जोगा मु० को० । 13 च य त मु को

अण्णारमणिव्वत्तितरूज बीयकुराण ज तिहिं ।
तत्थ हतो सताणो कुतुडि अण्णाणिमाण व ॥१८१८॥

जधवेह कणगोवलजोगोऽणातिगतिगो वि ।
वोच्छिज्जति सोवायं तध जोगो जीवकम्माण ॥१८१९॥

तो वि जीवणमाण व[1] जोगो अण कणोवलाण व ।
जीवस्स य कम्मस्स य भण्णति दुविधो वि ण विरुद्धो ॥१८२०॥

पढमो[2] भव्वाण विय भव्वाणं कणगोवलाण व ।
जीवत्त सामण्ण भव्वाऽभव्वो त्ति को भेदो ॥१८२१॥

हातु व[3] जति कम्मातो ण विरोधो णारगादिभेदो व्व ।
भणध य भव्वाऽभव्वा सभावतो तेण सदेहो ॥१८२२॥

दव्वातित्ते तुल्ले जीवणमाण सभावतो भेतो ।
जीवाजीवातिगतो जध तध भव्वतरविसेसो ॥१८२३॥

एव पि भव्वभावो जीवत्त पि व सभावजातीतो ।
पावति णिच्चा तम्मि य तदवत्थे णा य [4]णिव्वाण ॥१८२४॥

जध घडपुव्वाभावाऽणातिसभावो वि सनिधणो एव ।
जति भव्वत्ताभावो भवेज्ज किरियाय का दासो ॥१८२५॥

अणुदाहरणमभावा खरसिंग पि व मती ण त जम्हा ।
भावो च्चिय स विसिट्ठो कुम्भाणुप्पत्तिमेत्तेण ॥१८२६॥

[5]एव भ वुच्छेतो कोट्ठागारस्स वावचयतो त्ति ।
त णाणतत्तणतोऽणागतकालवराण व ॥१८२७॥

ज चातीताणागतकाला तुल्ला जता य समिद्धो ।
एक्को अणतभागो भ वाणमतीतकालेण ॥१८२८॥

एस्सेण तत्तियो च्चिय जुत्ता ज ता वि सव्वभव्वाण ।
जुत्ता ण समुच्छेदा हाज्ज मती [6]किध मत सिद्ध ॥१८२९॥

भ वाणमणतत्तणमणतभागो व किध व मुक्को सि ।
कालाओ व्व महिय [7] मह वयणातो व पडिवज्ज ॥१८३०॥

---

1 व मह जोगो कणो—मु० को० । 2 पढमो वाभव्वाण भव्वाण म० को । 3 होतु जति म० । 4 णेव्वाण ता० । 5 चो० ता० । 6 कहमिण सिद्धं म० को० । 7 य ता० ।

त ण यता तच्चत्थे सिद्ध उवयारतो मता सिद्धी ।
तच्चत्थसिद्धे सिद्ध माणवसिद्धोवयारो च ॥१८८१॥

देवाभावे विफल[1] जमग्गिहोत्तादियाण किरियाण ।
सग्गीय जण्णाण य दाणातिफल च तदयुत्त ॥१८८२॥

जम सोम-सूर सुरगुरु-सारज्जादीणि जयति जण्णहिं ।
मतावाहणमेव य इदादीण विधा सव्व ॥१८८३॥

*ठिण्णम्मि ससयम्मि जिणेण जम्मरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइतो अद्धुट्ठहि सह खडियसतेहिं ॥१८८४॥

---

[ ८ ]

*ते पव्वइते सोतु अकपिओ आगच्छती जिणसगास ।
वच्चामि ण वदामि वदित्ता पज्जुवासामि ॥१८८५॥

*आभट्ठो य जिणेण जाइ-जरा मरण विप्पमक्केण ।
नामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसी ण ॥१८८६॥

*किं मण्णे णरइया अत्थि णत्थि त्ति ससयो तुज्झ ।
वेतपताण य अत्थ न याणमो तेसिमो अत्था ॥१८८७॥

त मण्णसि पच्चक्खा दधा चदातयो तधण्ण वि ।
विज्जामतोवायणपत्ताइसिद्धीए गम्मति ॥१८८८॥

ते पुण सुतिमेत्तफला णरइय त्ति किंच ते गहेतव्वा ।
भवखमणुमाणतो वा णुवलभा भिण्णजातीया ॥१८८९॥

मह पच्चक्खत्तणतो जीवाईय व्व[2] णारए गण्ह ।
किं ज मप्पच्चक्ख त पच्चक्ख णवरि एक्क ॥१८९०॥

ज वासति पच्चक्ख पच्चक्ख त पि घप्पते लोए ।
अथवा जमिंदियाण पच्चक्ख किं तदेव पच्चक्ख ॥१८९१॥

अथ सोहातिदरिसण सिद्ध ण य सव्वपच्चक्ख ।
उवचारमेत्ततो त पच्चक्खमणिंदिय तज्ज[3] ॥१८९२॥

---

1 व पच्च ता० । 2 जीवाईए व ला० । 3 तज्ज म०

सच्छंदचारिणो पुण देवा दिव्वप्पभावजुत्ता य ।
ज ण कताइ वि दरिसणमुवेंति तो मसतो तेसु ॥१८६८॥

मा कुरु ससयमते [1]सुदूर मणुयादिभिण्णजातीए ।
पच्छसु पच्चक्ख चिय चतुव्विधे देवसघाते ॥१८६९॥

पुव्व पि ण सदेहो जुत्तो ज जातिसा मपच्चक्ख ।
दीसति तक्कता वि य उवघाताऽणुग्गहा जगतो ॥१८७०॥

आलयमेत्त च मती पुर व तव्वासिणो तध वि सिद्धा ।
जे ते दव त्ति मता ण य निलया णिच्चपरिमुण्णा ॥१८७१॥

को जाणति व किमेत ति [2]होज्ज णिस्मसय विमाणाइ ।
रतणमयणभ्रागमणादिह जध विज्जाधरादीण ॥१८७२॥

होज्ज मती माएय तधावि तक्कारिणो सुरा जे ते ।
ण य मायादिविकारा पुर व णिच्चोवलभातो ॥१८७३॥

जति णारगा पवण्णा पक्खिट्ठपावफलभोगिणो तेण ।
सुबहुगपुण्णफलभुजो पवज्जितव्वा सुरगणा वि ॥१८७४॥

सक्तदिव्वपम्मा विसयपसत्ताऽममत्तकत्तव्वा ।
अणधीणमणुअकज्जा णारभवमसुह ण ए ति सुरा ॥१८७५॥

णवरि जिण जम्म दिवसा-केवल [3]णिव्वाणमहणियागेण ।
मत्तीय साम्म [1] समयवोच्छेतत्थ व एज्जण्टु[4] ॥१८७६॥

पुव्वाणुरागतो वा समयणिबद्धा तवोगुणातो वा ।
णरगणपीडाणुग्गह वदप्पादीहि वा केइ ॥१८७७॥

जातिस्मरकधणातो कासति पच्चक्खपरिमणाता य ।
विज्जामतावायणसिद्धीतो गहविकारा तो ॥१८७८॥

उक्किट्ठपुण्णसचयफलभावाताभियाणसिद्धीतो ।
सव्वागमसिद्धीता य सति दव त्ति मद्दय ॥१८७९॥

दव त्ति सव्वयमिव सुद्धसगता पत्तभियाण व ।
अय व मती मणुया चिय दवा गुण रिद्धिमपण्णो ॥१८८०॥

---

1 दूर ता० । 2 होज्ज ता० । 3 णेवाण ता० 4 एज्जण्टु म० एज्जण्टु ता० ।

*ते प वइते मोतु अयलभाता आगच्छती जिणसगाय ।
वच्चामि ण वदामि वदित्ता पज्जुवासामि ॥१९०५॥

*आभट्ठो य जिणेण जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केण ।
णामेण य गोत्त ण य स वण्णू सव्वदरिसी ण ॥१९०६॥

*किं मण्ण पुण्ण पाव अत्थि व णत्थि त्ति ससयो तुज्झ ।
वेतपताण य अत्थ ण याणसी तेसिमो अ्थो ॥१९०७॥

मण्णमि पुण्ण पाव साधा्णमधव दो वि भिण्णाइ ।
होज्ज ण वा कम्म चिय सभावतो भवपपचोऽय ॥१९०८॥

पुण्णुक्करिसे[1] सुभता तरतमजोगावकरिसतो हाणी ।
तस्सव खये मोक्खो [2]पत्थाहारोवमाणातो ॥१९०९॥

पावुक्करिसेऽधमता तरतमजोगावकरिसतो सुभता ।
तस्सेव खये मोक्खा [3]अपत्थभत्तोवमाणातो ॥१९१०॥

साधारणवण्णादि व अध साधारणमधगमत्ताए ।
उक्करिसावकरिसतो तस्सेव य पुण्णपावक्खा ॥१९११॥

एव चिय दो भिण्णाइ होज्ज हाज्ज व सभावतो चेव ।
भवसभूती भण्णति ण सभावता जतो[4]भिमतो ॥१९१२॥

[5]हाज्ज सभावा वत्थु णिक्कारणता व वत्थुधम्मा वा ।
जति वत्थु णत्थि तओ णुवलद्धीतो खपुप्फ व ॥१९१३॥

अन्नतमणुवलद्धो वि अध तओ अत्थि णत्थि किं कम्म ।
हेतू व तदत्थिते जो णणु कम्मस्स वि स एव ॥१९१४॥

कम्मस्स वाभिधाण होज्ज सभावो त्ति होतु को दोसो ।
पतिणियताकाराना ण य सो कत्ता घडस्सेव ॥१९१५॥

मुत्तो मुत्तो व तओ जति मुत्तो[6] ताऽभिधाणतो भिण्णो ।
[7]कम्म ति सहावो त्ति य जति वा मुत्तो ण कत्ता तो ॥१९१६॥

---

1 –क्करिसे मु० । 2 पच्छा ता० । 3 अपच्छ–ता । 4 –भिमत ता० । 5 यह गाथांक 1786 पर पहले भी आ चुकी है । 6 मुत्ता तो ता० । 7 कम्म ति म० को० ।

मुत्ताभिभावता णोवलब्धिमतिरिवाइ [illegible] ।
उवलभइ गणि तु[1] ताइ जीवो तदुवलद्धा ॥१८९३॥

तदुवलभे वि मरणा [illegible] ।
इ [illegible] ॥१८९४॥

जो पुण [illegible] जीवा [illegible] ।
सो सुवहुम विजाणति [illegible] जथा दट्ठा ॥१८९५॥

ण हि पच्चक्ख धम्मतरस तद्धम्ममत्तगहणाओ ।
[illegible] ॥१८९६॥

[illegible] [2]मरणा [illegible] ।
अथव णिमित्ततरो णिमित्तमवलस्स करणाइ ॥१८९७॥

केवलमणाधिरहितस्स सव्वमणुमाणमेत्तय जम्हा ।
णारगसब्भावम्मि य तदत्थि ज तेण ते सति ॥१८९८॥

पावफलस्स पकिट्ठस्स भाइणो कम्मताइणेस व ।
सति धुव तेभिमता णरइया अध मती हाज्जा ॥१८९९॥

अच्चत्थदुक्खिता ज तिरिय णरा णारग त्ति तेभिमता ।
त ण जता सुरमाक्खप्पगरिससरिस ण त दुक्ख ॥१९००॥

सच्च चेतमकपिय [1] मह वयणातो वमेसवयण व ।
सव्वण्णुसणता वा अणुमतसव्वण्णवयण व ॥१९०१॥

[4]भयरागदोसमोहाभावतो सच्चमणतिवाइ[5] च ।
सव्व चिय मे वयण जाणयमज्झत्थवयण वा ॥१९०२॥

[6]किध सव्वण्ण त्ति मती पच्चक्ख सव्वससयच्छेत्ता ।
[7]भयरागमोहरहिता तल्लिगाभावता साम्म ! ॥१९०३॥

[8]छिण्णम्मि ससयम्मि जिणण जर मरणविप्पमुक्केण ।
सो समणा पव्वइता तीहि [9]सम खत्तिय तेहिं ॥१९०४॥

---

1 –राणि ताइ मु० । 2 सव्वणिहाण–मु० को० । 3 सम्बद्धमर ता० । 4 यह गाथा गाथांक 1578 पर पहले आ चुकी है । 5 –णतिवात च ता० । 6 ता० म यह गाथा ऊपर की गाथा म पहले है । 7 भयरोग–म० । 8 तिहि ओ सह ख–मे०, तिहि च सह ख–को० ।

# [ ९ ]

तं पाएहं सत्तु अयलभाता आगन्तूतो जिणसगासं ।
वच्चामि ण वंदामि वंदित्ता पज्जुवासामि ॥१९०५॥

[1]आभट्टा य जिणाणं जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केण ।
णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसी ण ॥१९०६॥

[2]किं मण्णे पुण्ण-पाव अत्थि व णत्थि त्ति संसयो तुज्झ ।
वेदपदाण य अत्थं ण याणसी तेसिमो अत्थो ॥१९०७॥

मण्णामि पुण्ण पाव साधारणमथव दो वि भिण्णाइं ।
होज्ज ण वा कम्म चिय संभावतो भवपवोज्झ ॥१९०८॥

पुण्णुक्करिसे[1] सुभता तरतमजोगावकरिसतो हाणी ।
तस्सेव खये मोक्खो [3]अत्थाहारोवमाणातो ॥१९०९॥

पावुक्करिसे[4]चमता तरतमजोगावकरिसतो सुभता ।
तस्सेव खये मोक्खो [5]अपत्थभत्तोवमाणातो ॥१९१०॥

साधारणवण्णाणि व अध साधारणमथगमत्ताए ।
उक्करिसावकरिसतो तस्सेव य पुण्णपाववसा ॥१९११॥

एव चिय दो भिण्णाइं होज्ज होज्ज व संभावतो चेव ।
भवसंभूतो भण्णति ण संभावता जतोऽभिमतो ॥१९१२॥

[6]होज्ज संभावो वत्थु णिक्कारणता व वत्थुधम्मो वा ।
जति वत्थु णत्थि तओऽणुवलद्धीतो खपुप्फं व ॥१९१३॥

अच्चंतमणुवलद्धो वि अध तओ अत्थि णत्थि किं कम्म ।
हेतू व तदत्थित जो णणु कम्मस्स वि स एव ॥१९१४॥

कम्मस्स वाभिधाणं होज्ज संभावो त्ति हातु को दोसो ।
पतिणियतावारातो ण य सो कत्ता घडस्सेव ॥१९१५॥

मुत्ताऽमुत्तो व तओ जति मुत्तो[6] ता भिधाणतो भिण्णो ।
[7]कम्म त्ति सहावो त्ति य जति वाऽमुत्तो ण कत्ता तो ॥१९१६॥

---

1 -क्करिसे मु० । 2 पच्छा ता० । 3 अपच्छ-ता० । 4 -मिमल ता० । 5 गद्य गाथांक 1786 पर पहले भी आ चुकी है । 6 मत्ता तो ता० । 7 कम्म त्ति म० को० ।

मुत्तातिभावता णोवलद्धिमतिदियाइ कुभो व्व ।
उवलभद्दाराणि तु[1] ताइ जीवो तदुवलद्धा ॥१८९३॥

तदुवरमे वि सरणता तव्वावारे वि णोवलभातो ।
इंदियभिण्णो णाता पचगवक्खोवलद्धा वा ॥१८९४॥

जो पुण अणिंदिया च्चिय जीवो सव्वा[2]पिघाणविगमाता ।
सो सुवहुअं विजाणति अवणीतधरो जधा दट्ठा ॥१८९५॥

ण हि पच्चक्ख धम्मतरेण तद्धम्ममेत्तगहणाता ।
वतक्तता व सिद्धी कुभाणिच्चत्तमेत्तस्स ॥१८९६॥

गुव्वोवलद्धमबध[3]सरणता वाणलो व्व धूमातो ।
अधव णिमित्ततरतो णिमित्तमक्खस्स करणाइ ॥१८९७॥

केवलमणोधिरहितस्स सव्वमणुमाणमेत्तय जम्हा ।
णारगसब्भावम्मि य तदत्थि ज तेण ते सति ॥१८९८॥

पावफलस्स परिट्ठस्स भाइणो कम्मतोऽवसेस व्व ।
सति धुव तेभिमता णेरइया अध मती हाज्जा ॥१८९९॥

अच्चत्थदुक्खिता ज तिरिय णरा णारग त्ति तेऽभिमता ।
त ण जता सुरसोक्खप्पगरिससरिस ण त दुक्ख ॥१९००॥

सच्च चेतमकपिय[1] मह वयणातोऽवसेसवयण व ।
मव्वण्णुत्तणता वा अणुमतमव्वण्णवयण व ॥१९०१॥

[4]भयरागदोसमोहाभावतो मच्चमणतिवाइ[5] च ।
मव्व चिय म वयण जागयमजमत्थवयण वा ॥१९०२॥

[6]किध सव्वण्णु त्ति मती पच्चक्ख सव्वमगयच्छेत्ता ।
[7]भयरागदोसरहिता तल्लिगाभावता णाम्म ॥१९०३॥

[8]दिण्णम्मि समयम्मि जिणाण जर मरणविप्पमुक्केण ।
मा समणा पव्वइता ताहि [8]सम सच्चिय तेहिं ॥१९०४॥

---

1 -राणि ताइ म० । 2 सव्वपिघाण-मु० का० । 3 सव्वडुमर ता० । 4 यह गाथा बाद के 1578 पर पढ़ने का चुकी है । 5 -मतिवाण च ता० । 6 ता० म यह गाथा ऊपर की गाथा म पढ़ने है । 7 भयराग-म० । 8 तिहिं मा मह स-म०, तिहिं च मह स-को ।

# [ ९ ]

*ते पव्वइते सातु अयलभाता आगच्छती जिणसगासं ।
वच्चामि ण वदामि वदित्ता पज्जुवासामि ॥१९०५॥

*आभट्ठो य जिणेण जाइ जरा-मरणविप्पमुक्केण ।
णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसी ण ॥१९०६॥

*किं मण्णे पुण्ण पाव अत्थि व णत्थि त्ति समयो तुज्झ ।
वेतपताण य अत्थ ण याणसी तसिमो अत्थो ॥१९०७॥

मण्णसि पुण्ण पाव साधारणमधव दा वि भिण्णाइ ।
होज्ज ण वा कम्म चिय सभावतो भवपपचोऽय ॥१९०८॥

पुण्णुक्करिसे[1] सुभता तरतमजोगावकरिसता हाणी ।
तरमव खये मोक्खो पत्थाहारोवमाणातो ॥१९०९॥

पावुक्करिसेऽधमता तरतमजोगावकरिसतो सुभता ।
तस्सव खये मोक्खो [3]अपत्थभत्तोवमाणातो ॥१९१०॥

साधारणवण्णादि व अध साधारणमधगमत्ताए ।
उक्करिसावकरिसतो तस्सेव य पुण्णपावक्खा ॥१९११॥

एव चिय दो भिण्णाइ होज्ज हाज्ज व सभावतो चेव ।
भवसभूती भण्णति ण सभावता जतोऽभिमतो ॥१९१२॥

[5]हाज्ज सभावो वत्थु णिक्कारणता व वत्थुधम्मो वा ।
जति वत्थु णत्थि तओऽणुवलद्धीतो खपुप्फ व ॥१९१३॥

अच्चतमणुवलद्धो वि अध तओ अत्थि णत्थि किं कम्म ।
हेतू व तदत्थिते जो णणु कम्मस्स वि स एव ॥१९१४॥

कम्मस्स वाभिधाण होज्ज सभावा त्ति होतु को दोसो ।
पतिणियताकारातो ण य सो कत्ता घटस्सेव ॥१९१५॥

मुत्तोऽमुत्तो व तओ जति मुत्ता[6] ताऽभिधाणतो भिण्णो ।
"कम्म ति सहावो त्ति य जति वा मुत्ता ण कत्ता तो ॥१९१६॥

---

1 -क्करिसे मु० । 2 पच्छा ता० । 3 अपच्छ-ता० । 4 -भिन्न ता० । 5 यह गाथांक 1786 पर पहले भी आ चुकी है । 6 मुत्ता तो ता० । 7 कम्म त्ति म० को ।

मुत्तातिभावना णोवलद्धिमतिंदियाइ कुभो व्व ।
उवलभद्दारगणि तु[1] ताइ जीवो तदुवलद्धा ॥१८९३॥

तदुवरमे वि सरणतो तव्वावारे वि णावलभातो ।
इंदियभिण्णो णाता पच्चगवक्खोवलद्धा वा ॥१८९४॥

जो पुण अणिंदिया च्चिय जीवो सव्वा पिधाणविगमातो ।
सो सुवहुअ विजाणति अवणीतघरो जधा दट्ठा ॥१८९५॥

ण हि पच्चक्ख धम्मतरेण तद्धम्ममेत्तगहणाता ।
कतकत्तता व सिद्धी कुभाणिच्चत्तमेत्तस्स ॥१८९६॥

पुव्वोवलद्धमबध[3]सरणतो वाणलो व्व धूमातो ।
अधव णिमित्ततरतो णिमित्तमक्खस्स करणाइ ॥१८९७॥

केवलमणाधिरहितस्स सव्वमणुमाणमेत्तय जम्हा ।
णारगसब्भावम्मि य तदत्थि ज तेण ते सति ॥१८९८॥

पावफलस्स पकिट्ठतरम भाइणो कम्मतोऽवसेस व्व ।
सति धुव तेभिमता णेरइया अध मती होज्जा ॥१८९९॥

अच्चत्थदुक्खिता ज तिरिय णारा णारग त्ति तेऽभिमता ।
त ण जता सुरसोक्खप्पगरिसमरिस ण त दुक्ख ॥१९००॥

सच्च चेतमकपिय [1] मह थयणातोऽवसेसवयण व ।
सव्वण्णुत्तणतो वा अणुमतसव्वण्णवयण व ॥१९०१॥

[4]भयरागदोसमोहाभावतो सच्चमणतिवाइ[5] च ।
मव्व चिय म वयण जाणयमज्झत्थवयण वा ॥१९०२॥

[6]दिथ सव्वण्णु त्ति मती पच्चक्ख सव्वसयच्छेता ।
[7]भयरागदोसरहिता तल्लिगाभावता साम्म [1] ॥१९०३॥

[8]छिण्णम्मि समयम्मि जिणाण जर मरणविप्पमुक्केण ।
सा समणा पव्वइता ताहि [8]सम सव्वियन्तेहिं ॥१९०४॥

---

1 -राणि ताइ म० । 2 सव्वणिद्दण-मु० को० । 3 सव्वदुमर ता० । 4 यह गाथा बाबू के 1578 पर पहले आ चुकी है । 5 -तिवाण च ता० । 6 ता० म यह गाथा ऊपर की गाथा से पहले है । 7 भयरोग म । 8 तिहि आ सह स-म०, तिहि च सह स-को० ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]
अथ तो [illegible] हातु ॥१९१॥

अथ न [illegible] न [illegible] [illegible] ।
[illegible] ॥१९२॥

[illegible] [illegible] [illegible] ।
कम्म [illegible] [illegible] ॥१९१९॥

त [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] ॥१९२०॥

[illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] ॥१९२१॥

[illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] ॥१९२२॥

[illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] ॥१९२३॥

[illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] ॥१९२४॥

[illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] ॥१९२५॥

[illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] ॥१९२६॥

[illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] ॥१९२७॥

[illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] ॥१९२८॥

[illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] ॥१९२९॥

---

1 [illegible] ता० । 2 [illegible] मु० को । 3 [illegible] ता० । 4 [illegible] ता० । 5 [illegible] ता । 6 [illegible] मु० को० । 7 [illegible] ता० ।

इध लोगातो व परा सुरादिलोगा ण सा वि पच्चक्खा ।
एव पि ण परलोगा सुव्वति य सुतीसु तो मका ॥१६५५॥

भूतिदियातिरित्तस्स चेतणा मा य दव्वतो णिच्चा ।
जातिस्सरणातीहिं पडिवज्जसु वायुभूति व्व ॥१६५६॥

ण य एगो सव्वगतो णिक्किरियो लक्खणातिभेताता ।
कुभातमा व्व बहवो पडिवज्ज तमिदमूति व्व ॥१६५७॥

इहलोगातो य परो मोम्म ! सुरा णारगा य परलोगो ।
पडिवज्ज मोरियाकपिय व्व विहितप्पमाणातो ॥१६५८॥

जीवो विण्णाणमया त चाणिच्च ति तो ण परलोगो ।
अध विण्णाणादण्णा तो अणभिण्णो जधागास ॥१६५९॥

एत्तो च्चिय ण स कत्ता भोत्ता य अतो वि णत्थि परलोगा ।
ज च ण ससारी सा अण्णाणामुत्तिओ ण व ॥१६६०॥

मण्णसि विणासि चेतो उप्पत्तिमदादितो जधा कुभा ।
णणु एत चिय साधणमविणासित्ते वि स साम्म ! ॥१६६१॥

अधवा वत्थुत्तणतो विणासि चेतो ण होति कुभा व्व ।
उप्पत्तिमतातित्त कधमविणासी घडो बुद्धा ॥१६६२॥

रूव रस गध फासा सद्दा सद्दाण-दव्व-सत्तीओ ।
कुभा त्ति जतो ताओ पसूति विच्छित्ति धुवधम्मा ॥१६६३॥

इध पिंडो पिंडागार-सत्ति-पज्जाय-विलयसमकाल ।
उपज्जति कुभागार-सत्तिपज्जायरूवेण ॥१६६४॥

रूवातिदव्वताए ण जाति ण य वति तेण सो णिच्चो ।
एव उप्पाद-वय-धुवसहाव मत सव्व ॥१६६५॥

घडचेतणया णासो पच्चेतणया समुब्भवो मणय ।
मताणाकत्वा तधेह परलोगजीवाण ॥१६६६॥

मणुएत्तोऽण्णासो सुरातिपरलोगसभवो मणय ।
जीवाणाकत्वाण सोहमवो एव परलोगो ॥१६६७॥

---

अव ता० पु० ।

[1]अविसिट्ठ चिय त सा परिणामाऽसयमभावतो सिप्प ।
कुरते सुभमसुभ वा गहण जीवा जधाऽऽहार ॥१९४३॥

परिणामाऽसयवसतो घणूये जधा पयो विममहिस्स ।
तुल्ला वि तदाहारा तध पुण्णापुण्णपरिणामो ॥१९४४॥

जध वेगसरीरम्मि वि सारासारपरिणामतामेति ।
अविसिट्ठो आहारा तध कम्मसुभासुभविभागो ॥१९४५॥

सात सम्म हास पुरिस रति-सुभायु-णाम-गोत्ताइ ।
पुण्ण सेस पाव णेय सविवागमविवाग ॥१९४६॥

असति वहि पुण्णपाव जमग्गिहोत्तादि मग्गकामस्स ।
तदसवद्ध सव्व दाणातिफल च लोगम्मि १९४७॥

*छिण्णम्मि ससयम्मि जिणेण जर मरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइतो तिहिं तु सह खडियसतेहिं ॥१९४८॥

---

## [ १० ]

*ते पव्वइत सोतु मेतज्जा आगच्छतो जिणसगास ।
वच्चामि ण वदामि वदित्ता पज्जुवासामि ॥१९४९॥

*आभट्ठो य जिणेण जाति जरा मरणविप्पमुक्केण ।
णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसी ण ॥१९५०॥

*किं मण्णे परलोगो [3]अत्थि ण अत्थि त्ति ससयो तुज्झ ।
वतपत्ताण य अत्थ ण याणसी तेसिमो अत्थो ॥१९५१॥

मण्णसि जति चेतण्ण मज्जगमतो व्व भूतधम्मो त्ति ।
ता णत्थि परो[4] लोगो तण्णासे जेण तण्णासा ॥१९५२॥

अध वि तयत्थतरता ण य णिच्चत्तणमओ वि तदवत्थ ।
अणलस्स व मरणीओ भिण्णस्स विणासधम्मस्स ॥१९५३॥

अध एगो सव्वगओ णिक्किरिओ तह वि णत्थि परलोगो ।
असरणाभावाओ वामस्स व सव्वपिंडेसु ॥१९५४॥

---

1 आ० ता० । 2 आहारो मु० को० । 3 अत्थि णत्थि मु० को० । 4 परलोगा मु० ।

कम्मकया संसारो [illegible] तस्स कुव्वदे णासो ।
जीवसहावमकम्मं [illegible] तस्स का णासो ॥१९८०॥

[illegible] विकारानुचरणमाणाणं [illegible] ।
[illegible] विकारो [illegible] कुव्वदि [illegible] ॥१९८१॥

[illegible] पदा [illegible] मती हवदि ।
[illegible] मुणि [illegible] ॥१९८२॥

[illegible] मती [illegible] ।
[illegible] भावा [illegible] ॥१९८३॥

[illegible] जीवस्स [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥१९८४॥

[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥१९८५॥

[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥१९८६॥

[illegible] परिणामो [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥१९८७॥

[illegible] [illegible] ।
परिणामसुहुमयाणा [illegible] ॥१९८८॥

[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥१९८९॥

[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥१९९०॥

[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥१९९१॥

[illegible] [illegible] ।
तद्धम्मा पुण [illegible] ॥१९९२॥

---

1 इस गाथा की पुनरावृत्ति हुई है गाथांक 1839 । 2 इस गाथा की भी पुनरावृत्ति हुई है गाथांक 1843 । 3 [illegible] [illegible] ।

असतो णत्थि पमूति होज्ज व जति होतु खरविसाणम्मि ।
ण य सव्वधा विणासो सव्वुच्छेप्पसंगातो ॥१९६८॥

तोऽवत्थितस्स कणवि विलयो धम्मेण भवणमण्णेण ।
[1]वत्थुच्छेतो ण मतो [2]सव्ववहारावरोधातो ॥१९६९॥

असति व परम्मि लोए जमग्गिहोत्तादि सग्गकामस्स ।
तदसद्धं सव्वं दाणादिफलं च[3] परलोए ॥१९७०॥

*छिण्णम्मि समयम्मि जिणेण जर-मरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइतो तिहिं तु सह खंडियसतेहिं ॥१९७१॥

---

## [ ११ ]

*ते पव्वइत सोतु पभासो आगच्छई जिणसगासं ।
वच्चामि ण वंदामि वंदित्ता पज्जुवासामि ॥१९७२॥

*आमट्ठो य जिणेण जाति-जरा-मरणविप्पमुक्केण ।
णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसी ण ॥१९७३॥

*किं मण्णे णेव्वाण अत्थि णत्थि त्ति संसया तुज्झ ।
वेदपदाण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो ॥१९७४॥

मण्णसि किं दीवस्स व णासो णेव्वाणमस्स जीवस्स ।
दुक्खक्खयादिरूवा किं होज्ज व से सतोऽवत्था ॥१९७५॥

अधवा णाणत्तणतो खस्स व किं कम्म जीवजोगस्स ।
अविजोगातो ण भवे संसाराभाव एव त्ति ॥१९७६॥

पडिवज्ज मडिओ इव विजागमिह [4]जीवकम्मजोगस्स ।
तमणादिणो वि वंचण घातूण व णाणकिरियाहिं ॥१९७७॥

ज णारगादिभावो संसारो णारगादिभिण्णो य ।
का [5]जीवा [6]ता मण्णसि तण्णासे जीवणासो त्ति ॥१९७८॥

ण हि णारगादिपज्जायमत्तणासम्मि सव्वथा णासो ।
जीवद्दव्वस्स मता मुद्दाणासे व हेमस्स ॥१९७९॥

---

1 सव्वत्थ –मु० । 2 सव्ववहारोव–मु० को० । 3 च लोयम्मि मु० को० ।
4 कम्मजीवसंजोगस्स मु० को० । 5 जीव ता० 6 त मु० को० ।

विसयसुह दुक्ख चिय दुक्खपडिगारता तिगिच्छ व्व ।
त सुहमुवयारातो [1]ण यावयारो विणा तच्च ॥२००६॥

तम्हा ज मुत्तसुह त तच्च दुक्खसखएक्खस ।
मुणिणा णाणावाधस्स व णिप्पडिकारस्स मूनीता ॥२००७॥

अध वा णाणमयोऽय जीवो णाणावघाती चावरण ।
करणमणुग्गहकारि सव्वावरणक्खए सुद्धो ॥२००८॥

तध सोक्खमयो जीवो पाव तस्सोवघातय[2] णय ।
पुण्णमणुग्गहकारि मोक्ख सव्वक्खए सयल ॥२००९॥

[3]अध वा कम्मक्खयतो सा सिद्धतादिपरिणति लभति ।
तध समारातीत पावति तत्ता च्चिय सुह पि[4] ॥२०१०॥

सातासात दुक्ख तव्विरहम्मि य सुह जतो तेण ।
देहिंदिएसु दुग्ग साक्ख देहिंदियाभाव ॥२०११॥

जा वा देहिंदियज सुहमिच्छति त पडुच्च दोसोऽय ।
ससारातीतमिन धम्मतरमेव सिद्धिसुह ॥२०१२॥

कधमणुमेय[5] नि मती णाणाणावाधता त्ति गणु भणित ।
तदणिच्च णाण पि य चेतणधम्मो त्ति रागो व्व ॥२०१३॥

मतवानिभावतो वा णावरणाद्यावरणाभावा ।
उप्पातटिठनिभगस्स भावता वा ण दोसोऽय ॥२०१४॥

ण ह वद[6] ममरीरस्स प्पियप्पियावहलिरेवमादि च ज ।
तम्मोक्खा णामम्मि व मोक्खाभावम्मि व ण जुत्त ॥२०१५॥

णटठो अमरीरा च्चिय सुह दुक्खाइ पियप्पियाइ च ।
ताइ ण फुसति णटठ फुडममरार ति का दामा ॥२०१६॥

वेतपनाण [7]य अत्थ ण सुट्ठु जाणसि इमाण त सुणसु ।
अमरीरव्वदेसो अधणो व्व सता णिसेधाता ॥२०१७॥

ण णिसेधता य अण्णम्मि लद्धिहे चेव पच्चयो जण ।
तेणासरीरगहण जुत्तो जीवो ण खरसिग ॥२०१८॥

---

1 ण य उवयारो म० को० । 2 –घाइय म को० । 3 म०वा कम्म–क । 4 सुह त्ति मु० को० । 5 कह नण मय म । 6 व हा । 7 – । ममस्स ता० ।

मुत्तोवरणाभावादण्णाणी ण व णमु सिद्धाणं ।
जमजीवा वि पावंति एतो सिद्धं भणंति तं णाम

दव्वामुत्तत्तणभावजादितो तस्स दरिसणरोधं ।
ण हि जच्चंतरगमणं जुत्तं णमणो व जीवस्स ॥१९९

मुत्तातिभावतो णावलिमतिसिद्धं कुंभो व ।
उवलभहाराणि उ तादं जीवो तदुवलद्धा ॥१९९५॥

तदुवरम वि सरणगा तव्वावारे वि णावलंभाता ।
इंदियभिण्णा [1]ण ता पंचगवक्खोवलद्धा वा ॥१९९६

णाणरहितो ण जीवो मत्तताऽणु व मुत्तिभावेण ।
ज तेण विरुद्धमित अत्थि म सो णाणरहिता म ॥१

किध सा णाणसत्ता णणु पच्चक्खाणुभूतिता [2]णि
परदेहम्मि वि गज्झा स पावत्तिणिवित्तिलिंगाता ॥१

सव्वावरणावगमे सो सुद्धतरो हवज्ज सूरो व्व ।
तम्मयभावाभावादण्णाणित्त ण जुत्त स ॥१९९९॥

एव पयासमइओ जावा छिद्दावरभासयत्तातो ।
किंचिम्मत्त भासति छिद्दावरणप्पदीवो व्व ॥२००

सुमहुग्रतर वियाणाति मुत्ता सव्वप्पिहाणविगमाता
अवणीतधरो व्व णरो विगतावरणा[3]पदीवा व्व ॥२

पुण्णापुण्णकताइ ज सुह दुक्खाइ तेण तण्णासे ।
तण्णासो [4]तो मुत्तो णिस्सुह-दुक्खो जधागाम ॥२००

अधवा णिस्सुह-दुक्खा णभ व दहिंदियादि[5]भावाता
आहारो दट्ठो च्चिय ज सुह दुक्खोवलद्धीण ॥२००

पुण्णफल दुक्ख चिय कम्मोतयतो फल व पावस्स ।
णणु पावफले वि सम पच्चक्खविरोधिता चेव[6] ॥२

जत्तो च्चिय पच्चक्खा सोम्म ! सुह णत्थि दुक्खमवत
तप्पडिकारविभत्त तो पुण्णफल ति दुक्ख ति ॥२०

---

1 [illegible] मु को० देखें गाथा 1894। 2 वियत को । 3 विगया
4 तत्तातातो मुत्तो मु० को० । 5 —य दभावा—म० को० । 6 चेव

# टीका के अवतरणो की सूची


तोवगाण तिग 1946
ग्नि इति नास्ति (प्रमाणवा० भ प० 43) 1713
ग्निष्टोमेन यमराज्य 1800
ग्निहोत्र जुहुयात् 1553 1592
(मैत्रायणीस० 1 8 7) 16 3, 1800
1882
ग्रभाम सोम (ऋग्वे० 6 4 11) 1866
घ्नन्मित आन्त्रिये (बृहदा 4 3 6) 1598
घ्नस्ति पुरुषोऽकर्ता 1553
ग्राममश्वोपपतिस्त्र 1660
ग्रामो देवता (ऐतरेय ब्रा० 2 1 ) 1689
ग्रामभागो योवो (ब्रह्मशतक 89) 1943
घ्न कश्चित्पि 2005
घ्न आगच्छ 1883
घ्न इष्टहेवसम्भवि 1920
घ्नेवमूल (योगशिखोपनिष 6 14 भगवद्गीता 15 1) 1581
घ्नसाम आमाव 1946
एक एव हि भूतात्मा 1581 1953
(ब्रह्मबिन्दु 11)
एकया पणमाहुत्या 1642
(तैत्तिरीय ब्रा० 3 8 10 5)
एगएमो गाह (पचसग्रह 284 ब्रह्मशतक 87) 1941
एतावानेव लोकोऽयं (षड्दर्शन समुच्चय 81) 1553
एष व प्रथमो यज्ञ (ताण्ड्य० 16 1 2) 1643
ओत्सुक्यमात्र (शाकुन्तल 5 6) 2005
कश्चित्क यन्नास्ति 1643
कामस्वप्नभयोन्माद 1732
केवलसम्बिन्दशनरूपा 1975
को जानाति 1866 1882
क्षणिका सर्वसस्कारा 1674
गतं न गम्यते तावत् (माध्यमिक० 2 1) 1695
गहणसमयम्मि (कर्मप्रकृति 25) 1943
जरामय वेतन 1974 2023
जीवस्तथा (सौन्दरन० 16 29) 1975
जोगण कम्मएण (मूलकृ०नि०177) 1614
तत्र पक्ष (न्यायप्रवेश पृ० 1) 1676
तयेदममल ब्रह्म (बृहन्ना भा०वा० 3 5 44) 1581
दीपो यथा निर्वृति (सौन्दरन० 16 28) 1975
देह एवाऽय 1576
द्यावा पृथिवी (तैत्तिरीय ब्रा० 1 1 2) 1689
द्वादश मासा (तैत्तिरीय ब्रा० 1 1 4) 1643
द्वे ब्रह्मणो 1974
नन्न प्रत इवाविष्ट 2005
नज् इव युक्त (परिभाषेन्दु शेखर 74) 1851 2018
नञ युक्तम 1851
न दीर्घस्तीह 1692
न रूप भिक्षव 1553
न ह व प्रेत्य 1887 1903
न हि व सशरीरस्य 1553 1591
(छान्दोग्य० 8 2 1) 1651 1804
1861 2015–23
नारको वा एष 1887
नित्य सत्त्व (प्रमाणवा० 3 34) 1848

ज च [1]वसत त सतमाह वासद्दतो सदेह ति ।
ण फुसेज्ज वीतराग जोगिणमिट्ठेत्तरविसेसा[2] ॥२०१९॥

वावेति वा णिवातो वासद्दत्थो भवतमिह सत ।
[3]वुज्झाऽवत्ति व सत णाणातिविसिट्ठमधवाह ॥२०२०॥

ण वसत श्रवसत ति वा मती णासरीरगहणातो ।
फुसणाविसेसण पि य जतो मत सतविसयं ति ॥२०२१॥

एव पि हाज्ज मुत्तो णिस्मुह-दुक्खत्तण तु तदवत्थ ।
त णो पियप्पियाइ जम्हा पुण्णयरक्याइ ॥२०२२॥

णाणाऽवाधत्तणतो ण फुसति वीतरागदोसस्स ।
तस्सप्पियमप्पिय वा मुत्तसुह को पसगाऽत्थ ॥२०२३॥

*छिण्णम्मि ससयम्मि जिणेण जर मरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइतो तिहि तु सह राडियसतेहि । २०२४॥

गणधरा सम्मत्ता[4] ।

---

[1] [illegible] [2] विसेसा [illegible] । [3] [illegible] ।
[illegible] ।

# शब्द-सूची


अ

[illegible]वन 164
[illegible]न्तरालगति 32
[illegible]न्धकार 164
[illegible]कम्पित 128 154
[illegible]पल
—इन्द्रियाँ 130
—आत्मा 131
[illegible]ग्नि 90
[illegible]ग्निभूति 29 49 99 107 138 139, 150
[illegible]ग्निष्टोम 47 101
[illegible]ग्निहोत्र 6 65 101, 126 151, 158 179
[illegible]त्रसंघ्राता 134
[illegible]तीन्द्रिय ज्ञान
— समस्त विषयक 131
[illegible]र्जन
— अभाव साधक नहीं है 86
[illegible]न्याय 85
[illegible]दृष्ट
—क्रिया का फल 34
—[illegible]ष्टा हीन पर भी फल मिल 35
[illegible]र्थ 40
[illegible]र्थक्रियाकारित्व
—सिद्धि 117
[illegible]र्थक्रियाकारी 144 145 147
[illegible]नुकूल 9
[illegible]नभिलाष 70 72
अनुपलब्धि 63
—के कारण
अनुमान 3 7 31 73 96 114 128 131 172
—सामान्यतो दृष्ट 4
—त्रि अवयव पंच अवयव 75
अनेकान्तवाद 82
—आतादि में 82
अन्वय 62
—व्यतिरेक 27
अपवर्ग 159
अपव 42
अभिज्ञानशाकुन्तल 172
अभिलाषा
—स्वमपानाभिलाषा 56
अभ्युपगम 83
अमृतत्व 167 175
—नित्य है 175
अर्थापत्ति 6 50
अलोक
—में गति नहीं है 116
—साधक प्रमाण 116
अवधिज्ञान 131
—आवरण 63
अवाच्य 70
अविद्यमान
—का निषेध नहीं है 17
अविद्या 21
अविनाभाव 4
अविरति 1 [illegible]
अविसंवादी [illegible]

निरालम्बना सर्वे (प्रमाणवा० अल० पृ० 22) 1554
निर्जितमदमदनानां (प्रशम० 238) 2007
पुण्य पुण्येन (बृहदा० 4 4 5) 1643
पुरुष एवेद ग्नि(वाजसनेयी स०1581,1643
31 2 श्वेता० 3 15) 1907
पृथिवी व 1772, 1800
पृथिवी देवता 1689
प्रक्ता प्रिय 2005
मतिरपि न प्रशाम्यते 2016
मर्तैरणुरप्रदेश 1736
यत सत तत (हेतुबिन्दु पृ० 44) 1574
यथा विशुद्ध (बृहदा० भा० वा० 3 5 43) 1581
यम सोम सय 1883
यावद दशयम् 1696
राजीवकण्टकादीना 1643
लाउ य एरड (आव० नि० 957) 1844
लोके यावत सज्ञा 1695
विज्ञानघन एव 1553 1588
(बृहदा 2 4 12) 1592 94
1597 1643
1951
शृगाणो व 177
स एष यज्ञायुधी 186
स एष विगणो 180
सततमनुबद्ध
सत्येन सम्य (मुण्डक० 3 1 5)
समागु पुन्य
सर्वेनुविरामम
सव्वाबाधाभावात् (तत्वार्थ भा० टी० द्वि० भाग पृ० 318)
सव्वुवरि वयणीए (बन्धशतक गा 90)
स सर्ववित
सार्य उच्चागोय (प्रवचनसारोद्धार 1283)
सिद्धो न भव्य
सुखदु ख मनुजानां
सुसार अणज्ज
सर्पा गुहा
स्थित शीताशुवज्जीव (योग० 101)
स्वप्नोपम व 168
हेतुप्रत्यय
ह्रस्व प्रतीत्य

## उ

उदय 127
उत्पत्ति 71 80 104
उपनिषद् 5
उपमान 6
उपयोग 25
उपलब्धि 23
उपशम श्रेणी 146

## ऋ

ऋग्वेद 21

## क

करण 48 106 117 166 168
—पौद्गलिक है 168
कर्ता 97
कर्म 15, 29, 46 95
—के अस्तित्व की चर्चा 29
—संशय 30
—पुण्य-पाप 30 137 138 139
—प्रत्यक्ष है 30
—साधक अनुमान 31
—धर्म-अधर्म 40
—मूर्त होने पर भी अमूर्त आत्मा में असर करता है 41
—मूर्त है 37
—परिणामी है 37
—विचित्र है 38
—के हेतु 95 143
—की विचित्रता 95
—पौद्गलिक 96
—के अभाव में संसार नहीं 97
—सन्तान अनादि 105
—सिद्धि 106 138
—अमूर्त नहीं है 139
—अदृष्ट होने पर भी मूर्त 141
—का नाश 162
— आठ मूल प्रकृति 145
—उत्तर प्रकृति 145
—ध्रुवबन्धिनी 145
—अध्रुवबन्धिनी 145
—संक्रम का नियम 146
—ग्रहण की प्रक्रिया 146
—गणना 147
—प्रकृति आदि 166
—मुक्तात्मा में अभाव 160
—जीव के साथ अनादि सम्बन्ध 161
—अनादि संयोग का नाश 161
—नाश से जीव का नाश नहीं 147
कर्मप्रकृति 147
कर्मप्रकृति चूर्णि 143
कषाय 94 139, 140 161
कारण 37
—समवायी उपादान 37
—निमित्त 42
—ईश्वरादि नहीं है 94
—सदृश कार्य की चर्चा 95
—से विलक्षण कार्य 95
—वैचित्र्य से कार्यवैचित्र्य 138
—अनुमान 31 115
कामण 32
—सिद्धि 40
—स्थूल देह से भिन्न 94 138 139, 16 13
कार्य
—अनुमान
कार्य-कारण 9
—सान्तर्य की चर्चा

अव्यक्त प्रधान 42
अशरीरी 176
असत् 18
अहंप्रत्यय 8
—देहविषयक नहीं है 8
अहिंसा
—सत्त्व जीव होने पर भी सम्भव 91
अन्तुक 45

आ

आकाश 6 10 21 98, 108 109, 163, 168
—साधक प्रमाण 88
—निर्जीव है 92
आगम 4 73
—दो भेद 4
—परस्पर विरोध 5
आत्मा 6 41 46 52 104
—शरीर-प्रकार 6
—सर्वगत में 6
—का अस्तित्व में प्रमाण 13
—संशय प्रमाण 13
—कर्ता अधिष्ठाता भोक्ता भोग्य अर्थों 14 53
—संशय का विषय ज्ञान से भिन्न है 15
—अशरीरी भूत भी है 41
—सर्वगत 53 55
—[illegible] है 53 130
—[illegible] नहीं है 58
—[illegible] 62
—[illegible] है 113
—नित्यानित्य 113
—मुक्ति का स्थान 113
—अरूपी होने पर भी सक्रिय 114 154
—उपलब्धि कर्ता 130
—स्वतन्त्र द्रव्य 153
—अनेक हैं 153
—अद्वैत आत्मा का संसरण नहीं है 153
—लक्षण भेद 154
—देहप्रमाण 154
—एकान्त नित्य में कर्तृत्वादि घटित नहीं होते हैं 155
—अज्ञानी (जड़) का संसरण नहीं है 155
—नित्यानित्य 155
—ज्ञानस्वरूप 169
—परदेहगत का अनुमान 169
आप्त 5 179
आहार
—परिणाम 147

इ-ई

इन्द्र 121 127
इन्द्रजालिक 67
इन्द्रभूति 3 29 49 153 154
इन्द्रिय
—ग्राहक नहीं 54
—उपलब्धिकर्ता नहीं है 133
—कारण-मात्र है 133
—बिना भी ज्ञान 163
—अन्य ज्ञान बोध 131
ईशावास्योपनिषद् 91
ईश्वर 14 47 45

## उ

उच्च 127
उत्पत्ति 71 80 104
उपनिषद् 5
उपमान 6
उपयोग 25
उपलब्धि 23
उपशम श्रेणी 146

## ऋ

ऋग्वेद 21

## क

कर्म 48 106 117, 166 168
—पौद्गलिक है 168
कर्ता 97
कर्म 15, 29 46 95
—के अस्तित्व की चर्चा 29
—संशय 30
—पुण्य पाप 30, 137 138 139
—प्रत्यक्ष है 30
—साधक अनुमान 31
—शुभ-अशुभ 40
—मूर्त होने पर भी अमूर्त आत्मा में असर करता है 41
—मूर्त है 37
—परिणामी है 37
—विचित्र है 38
—के हेतु 95 143
—की विचित्रता 95
—पौद्गलिक 96
—के अभाव में संसार नहीं 97
—सन्तान अनादि 105
—सिद्धि 106, 138
—अमूर्त नहीं है 139
—अदृष्ट होने पर भी मूर्त 141
—का नाश 162
— आठ मूल प्रकृति 145
—उत्तर प्रकृति 145
—ध्रुवबन्धिनी 145
—अध्रुवबन्धिनी 145
—संक्रम का नियम 145
—ग्रहण की प्रक्रिया 146
—गणना 146
—प्रकृति आदि 147
—मुक्तात्मा में अभाव 166
—जीव के साथ अनादि सम्बन्ध 160
—अनादि संयोग का नाश 161
—नाश से जीव का नाश नहीं 161
कर्मप्रकृति 147
कर्मप्रकृति चूर्णि 147
कषाय 143
कारण 94 139 140, 161
—समवायी उपादान 37
—निमित्त 37
—ईश्वरादि नहीं है 42
—सदृश कार्य की चर्चा 94
—से विलक्षण कार्य 95
—वैचित्र्य से कार्यवैचित्र्य 95
—अनुमान 138
कारण 31 115
—सिद्धि 32
—स्थूल देह से भिन्न 40
कार्य 94 138 139 161
—अनुमान 139
कार्य-कारण
—सांख्य की चर्चा 9

कार्य-कारण भाव 168
काल 6 42 109
कुबेर 121
कुमारिल 5
कुलक 162 174
केवलज्ञान 131 160
केवलदर्शन 160
केवली 12
केशीकुमार 83
क्षयु 127
क्षणिक 59 60
[illegible] 63

ख-ग-घ-च

खर विषाण 17
गगन 10
—[illegible] का अस्तित्व 10
—[illegible] 11
—[illegible] 9
गन्ध 10
गन्धर्व 92
गोचरचर्या 102
[illegible] 125
[illegible] 121
चक्षु
—[illegible] 146

छ-ज

छ 1[illegible] 174
[illegible] 122
—[illegible] 173
—[illegible] 173
जगत 123
जगत्कर्ता 5
[illegible] 114
चेतना 50
चैतन्य 50, 51
छान्दोग्य 6

ज्ञ

ज्ञ
—सचेतन है 90
ज्ञान
—[illegible] 71 80
ज्ञाति
—परभव में वह नहीं है 101
—स्मरण 125
जिनभद्र 23
जीव
—के अस्तित्व का सन्देह 3
—प्रत्यक्षादि से सिद्ध नहीं है 3
—सिद्धि 7
—प्रत्यक्ष 10
—अजीव का प्रतिपक्षी 16
—विशेष होने से सिद्ध 16
—आश्रय शरीर 18
—पद सार्थक है 19
—पर्यायें 19
—लक्षण भिन्न 19
—अवेद्य वचन से सिद्ध 20
—नित्य है 20
—अनेक है 21
—व्यापक नहीं है 23
—[illegible] 25 103
—कर्म के [illegible] 41
—[illegible] 47
—[illegible] 53
—[illegible] 52
—[illegible] 103
—के [illegible] 103 163
—[illegible] 133

—[illegible] 158
—[illegible] 116
[illegible] 116
—[illegible] 154
—[illegible] 158
—[illegible] 109
—[illegible] 166
—[illegible] 109
—[illegible] 169
—[illegible] 161
—[illegible] 173
—[illegible] 173
—[illegible] 177
[illegible] 161, 177
[illegible] 171
[illegible] 11, 175
—[illegible] 11
—[illegible] 55
—[illegible] 63
—[illegible] 63
—[illegible] 75
—[illegible] 168
—[illegible] 169
[illegible] 25 73

[illegible]

[illegible] 166
[illegible] 47
[illegible] 124
[illegible] 47, 48 67
[illegible] 6
[illegible] 6
[illegible] 6
[illegible]
—[illegible] 164

[illegible] 140
[illegible] 110
[illegible] 129, 150, 154
[illegible] 121
[illegible] 122
—[illegible] 122
[illegible] 122
[illegible] 122
—[illegible] 122
—[illegible] 124
—[illegible] 124
—[illegible] 125
—[illegible] 125
—[illegible] 126
[illegible] 9
[illegible] 11 113
[illegible] 167
[illegible] 175
—[illegible] 84
[illegible]

[illegible]

[illegible] 40, 138
[illegible] 117 118
[illegible]

[illegible]

[illegible] 135
[illegible] 135
[illegible] 128 150
[illegible] 128
—[illegible] 129
—[illegible] 129
—[illegible] 132
—[illegible] 132
[illegible] 102
[illegible] 109
[illegible]

नियति 42
निर्वाण
—सम्बन्धी सन्देह 159
—सन्देह निवारण 161
—दीप निर्वाण जैसा 160
—दुःख-क्षय 160
—का अभाव 160
—सिद्धि 161
—कृतक नहीं 162
—नित्यानित्य 163
—दीप निर्वाण जैसा नहीं 163
देखें मोक्ष' मुक्ति'
निश्चय नय 79 91 92, 144
निषेध 17
—पंचु दास 116
निष्कारण 97
निष्कारणता 99 137
न्यायिक 9, 25
न्यायप्रवेश 60
न्यायावतारवार्तिक वृत्ति 6

प

पक्ष 9, 60
पक्षाभास 9
पतन 118
पद 116
—का अर्थ 28
पदार्थ
—नित्यानित्य 112
परम्परा 3 30 72
—[illegible] निरवयव 84
परम पुरुष 172
परमाणु 5 97 128 133
—[illegible] 152
[illegible] 153
—देव-नारक 15
—सिद्धि 15
—अभाव 15
परोक्ष 13
—इन्द्रियजन्य ज्ञान 12
पर्याय 12, 99, 11
—दो भेद 2
—स्वरूप 8
पंचु दास 116, 17
पशु 9
पाटलिपुत्र 12
पाप 48, 123, 17
—प्रकृष्ट पाप से नरक 12
—वाद 135 14
पुण्य 48 12
—प्रकृष्ट पुण्य से देव 12
—वाद 135, 14
—का फल सुख नहीं 17
पुण्य पाप चर्चा 134
—विषयक सन्देह 134
—पांच पक्ष 134
—संशय निवारण 136 136
—संकीर्ण 135
—स्वतन्त्रवाद 136
—समर्थन 146
—पुद्गलों का ग्रहण 146
—की गणना 148
—सविपाक-अविपाक 149
—स्वातन्त्र्य समर्थन 149
पुद्गल 6
—स्वभाव 164
—अस्तिकाय 100
पुरुष 6 21 30 46 48 94 150
—अद्वैत 46
पूर्वपक्ष 55

पृथ्वी 89
—सचेतन सिद्धि 46
प्रकृति 62
प्रतीत्य समुत्पादवाद
प्रत्यक्ष 3, 30 63 122 129, 164
12
—अनुमान-बाधित 12
—मानसिक 12
—सम्पूर्ण 129
—इन्द्रिय प्रत्यक्ष उपचार से 128
—चन्द्रादि का 129
—अतीन्द्रिय ज्ञान 131
—आत्म मात्र सापेक्ष 171
—भ्रान्ताभ्रान्त 71
प्रत्यय 111 162 175
प्रध्वंसाभाव 159
प्रभास 4 73
प्रमाण 55
—अतीन्द्रिय साधक 7
प्रमाणवार्तिकालंकार 143
प्रमाद 115
प्रयत्न 173
प्रशमरति 41
प्रश्नोपनिषद् 104
प्रागभाव

बन्ध
—सादि या अनादि
—अनादि-सान्त
—अनादि-अनन्त
बन्ध मोक्ष
—सकाम

बाधक प्रमाण
बुद्ध 8, 2
बृहदारण्यक 6, 43
बौद्ध

ब्रह्म 10
—पर-अपर 10
ब्रह्मबिन्दूपनिषत् 10
ब्राह्मण 129
97
32 39
32 39

भगवद्गीता 57
भजना 81
भट्ट 105
भव 159
—[illegible] 128
भाव 72 77
भाव 67, 76
भाव
भाव
भाव

भ्रान्त

नाश

2(2

मीमांसक 9

भक्त 104 162 163 165

—का विषयभोग नहीं

—इन्द्रिय बिना का ज्ञान

—परमज्ञानी

—गुणी

सबल

—अजीब नहीं

—आवरणों का अभाव

नहीं होने

निरय

35

121, 126

101

5 27

143

144

144

166

21

95

147

6

4 13

4, 13

116, 117

5

95

96

121, 12

12

9

26 15

163

विकल्प 68

69

49

य

यदृच्छा

विक्रिया 123
विज्ञाता 12
विज्ञान
—क्षणिक नहीं 59
—सन्तति 59
—अनित्य उससे आत्मा भी अनित्य 154
—नित्यानित्य 157
विज्ञानवाद 5, 24, 43 46 48, 152
विज्ञानवादी 7
विद्याधर 123
विनाश 104 111
विपक्ष 87
विषय 15 73
विरुद्ध 166
विन्ध्याटवीनिवासी 156
विशेष 117
वीतराग 109 169, 177
वेदायुर्वेद 95
वेद 6 24 30 67, 73, 94 103 121 126 128 151 152 159, 176
वेदनीय 166
वेदवचन 93
वेदान्तवाद 23, 24 25, 27, 46, 65 67 101 119 133, 150, 152 158 176
—सगति 42
—मतान्तर समन्वय 23 46
—वेदान्तवाद का अर्थ विधि आदि 47
वेदान्त 20
व्यक्त 67
व्यवहार नय 78 1
व्यापक 161
व्याप्ति 168
—नियामक सम्बन्ध 168
व्याप्य 161, 168
व्याप्य व्यापकभाव 168

श

शब्द 10
—आकाश गुण 10
—पौद्गलिक 129
शरण 97
शरीर 32, 39
—औदारिक 32, 39
—कार्मण 57
—कर्म का कार्य कारण-भाव 81
—सजीव निर्जीव 105
—संतान आदि 159
शतपथब्राह्मण 128
शून्य 72 77
शून्यता 67, 76
शून्यवाद 7
शून्यवादी 94
शृगाल 122
श्रुति 5
षड्दर्शनसमुच्चय 127
षोडशी

स

संघात 58
संघात 63
सन्तान 6
संयुक्त निकाय 17
15
73 87
39, 46
161

समवसरण 49
समवाय 17 40
समवायिकारण 141
समिति 92
सम्यग ज्ञान 161
सवन 170
—झूठ नही बोलने 20 132
—कसे ? 20 132
—वचन प्रमाण 109 139
—प्रमाण 133
सवज्ञता
—समर्थन 68
—मे यवहारभाव 74
—स्व-पर का भेद नहीं 76
—निराकरण 76
सांख्य 6 9 23
साधन (हेतु) 167
सापेक्ष 68, 75 76
सामग्री 33, 71
सामवेद 21
सामान्य 17
सामान्यतो दृष्ट 4
सायण 121
सावयव 72
सिद्ध 113
—स्थान से पतन नही 118
—प्राप्ति सिद्ध नहीं 119
—का समावश 119
—सुख ज्ञान नित्य 174
सिद्धत्व 173
सिद्धि 3
सुख 140 175
—सख्या 171 172
—सुखाभास 171
—औपचारिक 172
—सिद्ध का 173 174
—का कारण 173
—देह के बिना भी अनुभव 174
—विलक्षण 174
—अनित्य 175
—सासारिक स्वाभाविक 178
सुपर्णा
सुवर्ण
—दृष्टान्त से त्रि स्वभाव
सुश्रुतांग
सूर्य 12
—विमान
—अग्नि का गोला
—मायिक
सोम 12
सौगत 6
सौन्दरनन्द
स्मरण 4
स्मृति
स्याद्वादमञ्जरी
स्वप्न
—ज्ञान
—निमित्त
—जाल
स्वप्नोपम
स्वभाव 77 13
—स्वभाववाद निराकरण 44, 9
—अकारणता
स्वर्ग 5 6, 135 15
159
स्वर्गलोक
स्ववचन विरुद्ध
स्ववचन विरोध
स्वसवदन 7
स्वाभाविक

## ह

हिंसा
हेतु 10 7
हेत्वाभास
—असिद्ध
—व्यभिचारी
—विरुद्ध 1
Hymns of the Rigveda

# राजस्थान प्राकृत भारती सस्थान, जयपुर

## —अद्यावधि प्रकाशित ग्रन्थ—

| | | | |
|---|---|---|---|
| कल्पसूत्र सचित्र | (मूल हिन्दी एव अग्रेजी अनुवाद तथा 36 बहुरगी चित्रो सहित)<br>सम्पादक एव हिन्दी अनुवादक महोपाध्याय विनयसागर अग्रेजी अनुवादक डा० मुकुन्द लाठ | 200 00 | |
| 2 राजस्थान का जन साहित्य | (राजस्थानी विद्वानो द्वारा रचित प्राकृत सस्कृत अपभ्रश राजस्थानी हिन्दी भाषा के ग्रथो पर विविध विद्वानो के वैशिष्ट्य पूर्ण एव सारगर्भित 36 लेखो का सग्रह) | 30 00 | |
| 3 प्राकृत स्वय शिक्षक | लेखक—डा० प्रेमसुमन जैन | 15 00 | |
| 4 आगम तीर्थ | (आगमिक प्राकृत गाथाओं का हिन्दी पद्यानुवाद)<br>अनु० डा० हरिराम आचार्य | 10 00 | |
| 5 स्मरण कला | (अवधान कला सम्बन्धित प० धीरज लाल टो शाह लिखित गुजराती पुस्तक का हिन्दी अनुवाद)<br>अनु० मोहन मुनि शास्त्री | 15 00 | |
| 6 जैनागम दिग्दर्शन | (45 जैनागमो का सक्षिप्त परिचय) सजिल्द<br>ले० डा० मुनि श्री नगराजजी सामान्य | 20 00<br>16 00 | |
| 7 जैन कहानियाँ | ले० उपाध्याय महेन्द्र मुनि | 4 00 | |
| 8 जाति स्मरण ज्ञान | ले० उपाध्याय महेन्द्र मुनि | 3 00 | |
| 9 हाफ एटल (अर्धकथानक) | (कवि बनारसीदास रचित स्वात्मकथा अर्धकथानक का अग्रेजी भाषा मे अनुवाद आलोचनात्मक अध्ययन एव रेखा चित्रो सहित)<br>सम्पादक एव अनुवादक डा मुकुन्द लाठ | 150 00 | |
| 10 गणधरवाद | (दलसुखभाई मालवणिया लिखित गुजराती गणधरवाद का हिन्दी अनुवाद)<br>अनु प्रो पृथ्वीराज जैन<br>सम्पादक—महोपाध्याय विनयसागर | 50 00 | |

## — मुद्रणाधीन ग्रन्थ —

| | | |
|---|---|---|
| 1 | जन इन्स्क्रिप्सन आफ द राजस्थान | (राजस्थान के प्राचीन एतिहासिक एव वैशिष्ट्य पूर्ण जन शिलालेख मूर्तिलेखो का परिचयात्मक वर्णन) ले० रामवल्लभ सोमानी |
| 2 | एग्जेक्ट साय स फ्राम जन सोर्सेज पार्ट I बेसिक मेथेमेटिक्स | ले० लक्ष्मीचन्द जन |
| 3 | उपमिति भव प्रपचा कथा | (महर्षि सिद्धर्षि रचित ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद स० एव अनु० महोपाध्याय विनयसागर तथा अनु० लालचन्द जन |
| 4 | अपभ्रंश और हिन्दी | डा देवेन्द्रकुमार जन |
| 5 | बौद्ध एव गीता के आचार दर्शन के सदर्भ मे जन आचार दर्शन का तुलनात्मक एव समालोचनात्मक अध्ययन | डॉ० सागरमल जन |

## सम्पादनाधीन ग्रन्थ

| | | |
|---|---|---|
| 1 | महापभाषित सूत्र | (हिन्दू बौद्ध और जन सबज ऋषियो के सारगर्भित उद्बोधन मूल हिन्दी एव अग्रेजी अनुवाद) अनु० महोपाध्याय विनयसागर कन्हैयालाल शास्त्री |
| 2 | नीतिवाक्यामृत | (आचार्य सोमदेव रचित राजनीति के सिद्धान्तो का हिन्दी व अग्रेजी मे अनुवाद) अनु० डा एस के० गुप्ता डा० बी आर मेहता |
| 4 | गाथा सप्तशती | (हाल कवि रचित सप्तशती का हिन्दी व अग्रेजी अनुवाद) अनु० डा हरिराम आचार्य, डी० सी० शर्मा |

| | | |
|---|---|---|
| 4 | एग्जेक्ट साय स फोम जन पार्ट-II कोस्मोलोजी एण्ड एस्टानोमी सोर्सेज | ले लक्ष्मीचन्द जन |
| 5 | पार्ट-III सिस्टमथियरी | |
| 6 | पार्ट-IV मेट थियरी | |
| 7 | पार्ट-V थियरी आफ अल्टामट पार्टीकल्स | |
| 8 | त्रिलोकसार | नेमिचन्द्राचार्य रचित ग्रन्थ का हिन्दी एव अग्रजी अनुवाद) अनु० लक्ष्मीचन्द जन |
| 9 | जन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास | (स्व० मोहनलाल दलीचन्द देशाई लिखित जन साहित्य नो सक्षिप्त इतिहास गुजराती का हिन्दी अनवाद) अनु कस्तूरचन्द बांठिया |
| 10 | एपीटामी आफ जनिज्म | स्व पूरणचन्द्र नाहर |
| 11 | मथुरा के जन शिलालेख | |
| 12 | स्टडीज आफ जनिज्म | ड टी० जी कलघटगी |
| 13 | धातुपरीक्षा | (ठक्कुर फेरु रचित ग्रन्थ का हिन्दी एवं अग्रजी अनुवाद) अनु० डॉ० धर्मेन्द्रकुमार |
| 14 | प्रतिष्ठा लख सग्रह द्वितीय भाग | महोपाध्याय विनयसागर |
| 15 | श्रीवल्लभीय राजस्थानी सस्कृत शब्दकोष | |
| 16 | प्राकृत काव्य मजरी | |
| 17 | प्राकृत शब्द सोपान | |
| 18 | प्राकृत सज्ञा एव सर्वनाम प्रकरण | डॉ उदयचन्द्र जन |
| 19 | वज्जालग्ग मे जीवन मूल्य | भाग-1 डॉ कमलचन्द सोगाणी |
| 20 | , , , | भाग- |
| 21 | वाक्पतिराज की लोकानुभूति | |
| 22 | भगवान और उ | |

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

---

1 एक हजार रुपये से अधिक प्रदान करने पर 40% कमीशन और संस्थान के प्रकाशनों का पूरा सेट खरीदने पर 30% दिया जाता है।

2 लाभ-व्यय एवं पंजिका व्यय पृथक से होगा।

प्राप्ति स्थान

**राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान**

यति श्यामलालजी का उपासरा

मोतीसिंह भोमियों का रास्ता जयपुर 3

पिन कोड–302 003